सोया मन जग जाए

युवाचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक :
मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश

द्वितीय संस्करण : १९९२

मूल्य : तीस रुपये/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान)/मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

SOYA MAN JAG JAYE
Yuvacharya Mahaprajna
Rs. 30.00

प्रस्तुति

मन का अस्तित्व दो अवस्थाओं में है। वह सोता भी है और जागता भी है। मनुष्य का लक्ष्य रहा है—वह सोया न रहे, जागृत रहे। उसका पुरुषार्थ भी इस दिशा में होता रहा है। फिर भी उसकी नियति है कि उसका मन सोने को अधिक पसन्द करता है। प्रस्तुत संदर्भ में मन का अर्थ है—मनन शक्ति। मनुष्य सचाई को सुनता है, पढ़ता है। किन्तु उस पर मनन नहीं करता या बहुत कम करता है। मनन के अभाव में जाना हुआ सत्य भोगा हुआ सत्य नहीं बनता, अनुभव के स्तर पर नहीं उतरता।

अनुभवशून्य ज्ञान समस्या का समाधान कम करता है, स्वयं समस्या बनकर सामने उपस्थित हो जाता है। आवश्यकता है अनुभव की। अनुभव के लिए आवश्यकता है प्रयोग की, अभ्यास की। प्रयोग या अभ्यास-काल में जो ज्ञान होता है, वह उधार का नहीं होता, अपना होता है। अपने ज्ञान को जागृत करने के लिए, अनुभव चेतना को विकसित करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक सहायक बन सकती है--ऐसा मैं सोचता हूं।

बुद्धि से उपजा शब्द बुद्धि को छू लेता है, अन्तरात्मा को नहीं छूता। अनुभव से उपजा शब्द अंतश्चेतना तक पहुंच जाता है। इसका मुझे अनुभव है। उस अनुभव ने ही आज के प्रवृत्ति-बहुल युग में निवृत्ति के स्वर को उभारा है, बाहर की ओर दौड़ती दुनिया को अपनी ओर देखने की प्रेरणा दी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन का कार्य मुनि दुलहराजजी ने किया है। वे इस कार्य में दक्ष हैं। दक्षता और श्रम—दोनों के योग से स्वयं सौष्ठव आ जाता है।

आचार्यश्री तुलसी ने समाज को अनेक घोष दिए। उनसे सामाजिक चेतना को नए आयाम मिले, नई प्राणशक्ति का संचार हुआ। अमृत-महोत्सव के अवसर पर एक घोष दिया—

नया सवेरा आए
सोया मन जग जाए

इस घोष ने जन-जन के मन को झकझोरा है। वही घोष इस पुस्तक का शीर्षक बना है। आचार्यवर की प्रेरणा ने मुझे संप्रेरित किया है। मैं सोचता हूं उससे जन-जन भी संप्रेरित होगा।

८ अगस्त, १९८७
अणुव्रत भवन, नई दिल्ली

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

○ दृष्टि : सृष्टि

१. क्या दुःख को कम किया जा सकता है ? ३

२. क्या विचारों को रोका जा सकता है ? १०

३. क्या मूड पर अंकुश लगाया जा सकता है ? १७

४. क्या मूर्च्छा को कम किया जा सकता है ? २२

५. क्या ध्यान उपाय है दुःख मिटाने का ? २८

६. सोया मन जग जाए ३५

७. दृष्टि बदलें : सृष्टि बदलेगी ४१

● युद्धस्व

८. आत्मना युद्धस्व ५१

९. युद्ध : कामवृत्ति के साथ ५८

१०. युद्ध : अहंकार के साथ ६४

११. उदात्तीकरण क्रोध का ७२

१२. समस्या कलह की ७९

१३. समस्या उदासी की ८५

१४. परिष्कार वैरवृत्ति का ९२

○ आत्मा की परिधि

१५. उपसंपदा : जीवन का समग्र दर्शन ९९

१६. अपनी आत्मा अपना मित्र १०५

१७. समस्या और दुःख एक नहीं दो हैं १०९

१८. बहुत दूरी है आवश्यकता और आसक्ति में ११४

१९. चारित्र-परिवर्तन के सूत्र ११८

२०. आसक्ति अनासक्ति का आधार निवृत्तिवाद १२३

२१. क्या धन की आसक्ति छूट सकती है ? १२९

२२. अपनी आत्मा अपना मित्र : कब-कैसे ? १३६

०चरैवेति चरैवेति

२३. चैतन्य-विकास के सोपान १४५
२४. आत्म-तुला की चेतना का विकास १५३
२५. ज्ञाता-द्रष्टा चेतना का विकास १६२
२६. समता की चेतना का विकास १७१
२७. अनावृत चेतना का विकास १७७
२८. सूक्ष्म शरीर और पुनर्जन्म १८४
२९. प्राण और पर्याप्ति १८९

० विवेक

३०. क्या धार्मिक होना जरूरी है ? १९७
३१. क्या ध्यान जरूरी है ? २०४
३२. क्या आत्म-नियन्त्रण जरूरी है ? २०९
३३. क्या कष्ट सहना जरूरी है ? २१५
३४. क्या जीवन-शैली को बदलना जरूरी है २२०

दृष्टि : सृष्टि



१

क्या दुःख को कम किया जा सकता है ?

हम मनुष्य हैं। हम एक विराट् जगत् से जुड़े हुए हैं। हम पहले प्राणी हैं, फिर मनुष्य हैं। मनुष्य का जगत् छोटा है। हमारे जगत् में चार-पांच अरब आदमी हैं। अन्तरिक्ष में और भी हो सकते हैं। पर मनुष्य का जगत् छोटा है। प्राणी का जगत् बहुत बड़ा है। वनस्पति का जगत् बहुत विशाल है। उसके समक्ष मनुष्य का जगत् नगण्य है, बिन्दु के समान है।

प्राणी तीन प्रकार के होते हैं—मनःशून्य, मन वाले (समनस्क) और अमन वाले। कीड़े, मकोड़े, कीट आदि प्राणी मनःशून्य होते हैं। इनमें मानसिक चेतना का विकास नहीं होता। ये अपनी जीवन यात्रा चलाते हैं इन्द्रिय चेतना के आधार पर। मानसिक विकास इन्हें उपलब्ध नहीं है। ये अविकसित प्राणी हैं।

मनुष्य में मानसिक चेतना विकसित है। वह समनस्क प्राणी है। वह सोचता है। सोचना मन की एक क्रिया है। वह याद रखता है। स्मृति मानसिक प्रवृत्ति है। वह कल्पना करता है। कल्पना मानसिक क्रिया है। इसके आधार पर मनुष्य बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाता है, सपने संजोता है और अनेक कार्य संपादित करता है। चिन्तन, स्मृति और कल्पना का मनुष्य ने बहुत विकास किया है।

इस दुनिया का एक नियम है कि जहां विचार है, मन है, वहां द्वन्द्व भी है। कोई भी मानसिक क्रिया द्वंद्वमुक्त नहीं होती, द्वंद्वातीत नहीं होती। जहां मन है वहां संघर्ष है, टकराव है, दुःख है। आदमी दुःख नहीं चाहता, सुख चाहता है। यह स्वाभाविक प्रकृति है। आदमी ही नहीं, प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है; कोई दुःख नहीं चाहता। मनःशून्य प्राणी दुःख भोगते हैं, पर उनका वह दुःख छोटा होता है, अव्यक्त होता है, कम होता है। उनमें दुःख का भार कम होता है। मनुष्य समनस्क होने के कारण दुःख का भार बहुत ढोता है।

दुःख दो प्रकार का होता है। एक है प्रतिकूल घटनाओं के कारण होने वाला दुःख और दूसरा है उन घटनाओं के आधार पर संवेदना से ढोया जाने वाला दुःख। यह बहुत लम्बा होता है, असीम होता है। घटना का दुःख ससीम होता है, थोड़ा होता है। संवेदना का दुःख असीम होता है।

सास ने बहू को, पिता ने पुत्र को, स्वामी ने नौकर को कोई उपालंभ दिया, कटु वचन कहे तो बहू, पुत्र और नौकर को दुःख होना स्वाभाविक है।

कोई भी कटु वचन सुनना नहीं चाहता। इस कटुवचन से होने वाला दुःख लंबा नहीं होगा। वह दो-चार दस-वीस मिनिट में दूर हो जायेगा, किन्तु संवेदन से होने वाला दुःख बहुत लंबे काल तक भी जीवित रह सकता है। दो-चार मास या दो-चार वर्ष ही नहीं, जीवन भर रह सकता है। आदमी अधिक दुःख भोगता है संवेदना के कारण। जो जितना भावुक और संवेदनशील होगा, वह उतना ही अधिक दुःखी होगा। चंचलता दुःख पैदा करती है। अभाव का दुःख भाव में समाप्त हो जाता है। अभाव मिटा और दुःख समाप्त। प्रतिकूल घटना घटी, दुःख हुआ। घटना पूरी हुई, दुःख नहीं रहेगा। किन्तु उस घटना की जो प्रतिक्रिया है, रिएक्शन है, वह दुःख संस्कार बन जाता है। वह बहुत दीर्घ होता है।

मनःशून्य प्राणी थोड़ा दुःख भोगते हैं। एक पौधे को कोई सताता है, उसकी पत्तियां और टहनियां तोड़ता है तो निश्चत ही पौधे को पीड़ा होती है, किन्तु जैसे ही तोड़ना बंद किया, पीड़ा समाप्त, दुःख समाप्त। आदमी की कोई अंगुली तोड़ डालता है, उसे दुःख होता है। यह दुःख तब तक रहता है जब तक उपचार के द्वारा अंगुली ठीक नहीं हो जाती। पर अंगुली के तोड़ने की घटना का संवेदन और उससे होने वाला दुःख अंगुली के ठीक हो जाने पर भी नहीं मिटता। वह दुःख दीर्घकाल तक चलता है और आदमी दुःखी बना रहता है। वह दुःख मनोगत हो जाता है। जो दुःख मन के साथ जुड़ जाता है, वह संवेदन बन जाता है, संस्कार बन जाता है। इसलिए संसार में सबसे अधिक दुःखी है मनुष्य, क्योंकि उसमें मन का अधिक विकास है। यदि मन अधिक विकसित नहीं होता तो वह दुःख का भार नहीं ढोता। घटना घटी, बात समाप्त।

बैल या भैंसे को कोई पीटता है, उस समय वह दुःख या पीड़ा का अनुभव करता है। दो-चार क्षणों में वह दुःख भूल जाता है पर आदमी भूलता नहीं, क्योंकि उसने अपनी स्मृति को तेज बना डाला है। उसकी कल्पना भी तीव्र है। उसका चिंतन, विश्लेषण और निर्धारण, संचयन और निचयन करता है। वह बात को समाप्त नहीं करता। निष्कर्ष निकलता ही जाता है। वह किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, किस प्रकार प्रतिशोध की आग में जलता है, उसकी व्याख्या और मीमांसा नहीं की जा सकती। इसलिए जितना मन विकसित, उतना ही दुःख प्रचुर। मनुष्य के लिए मानसिक विकास बहुत बड़ा वरदान है तो वही बहुत बड़ा अभिशाप भी है।

यह सच है कि वरदान और अभिशाप—दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यूनान की एक कथा है। माइदास ने देवता से वर मांगा कि मैं जिसे भी छूऊं, वह सोने का बन जाए। वरदान मिल गया। पहले क्षण वह बहुत प्रसन्न हुआ। पर, ज्योंही उसने पानी और रोटी को छुआ, वे सोने

के बन गए। अब वह न पानी पी सका और न रोटी खा सका। बेटी आई। उसे छुआ। वह भी सोने की हो गई, जड़ हो गई। वरदान अभिशाप बन गया।

मन का विकास अभिशाप भी है और वरदान भी है। दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रश्न है, क्या हम अभिशाप से बच सकते हैं ? वर्तमान के मानसिक दुःख को देखकर कभी-कभी सोचा जा सकता है कि कितना अच्छा होता, मनुष्य मनःशून्य होता। मानसिक विकास इतना नहीं हुआ होता। पर आदमी पीछे लौटना नहीं चाहता। वह अब मन की अविकसित अवस्था में जाना नहीं चाहता। तो क्या मानसिक विकास के साथ-साथ होने वाले दुःख को कम किया जा सकता है ? इस समस्या को सुलझाने के लिए एक उपाय खोजा गया। वह है ध्यान। मानसिक विकास बना रहे, वह वरदान बनकर बना रहे। यह तभी संभव है जब मनुष्य ध्यान की स्थिति में चला जाए। ऐसी स्थिति में वह दुःख का भार नहीं ढोएगा। दुःख को कम करना है तो अमनस्क की स्थिति में जाना होगा। यह ध्यान से ही संभव है।

तीसरे प्रकार के प्राणी हैं—अमनस्क। निर्विचार या निर्विकल्प। ये वे प्राणी हैं जिन्होंने मन को समाप्त कर डाला। मानसिक विकास की अगली भूमिका है अमनस्क योग की भूमिका। यहां मन समाप्त हो जाता है। विकास आगे बढ़ जाता है। एक छलांग होती है अमनस्क योग की। आदमी वहां पहुंच जाता है जहां कोई विचार नहीं, कल्पना नहीं, केवल प्रकाश और केवल चैतन्य। कोई दुःख नहीं, कोई कष्ट नहीं, केवल आनन्द की अनुभूति। इस भूमिका को भारतीय दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है। किसी ने इसे सत्, चित् और आनन्द की भूमिका माना है। यही है सत्यं, शिवं, सुन्दरं की भूमिका। तीनों एक साथ। यही है अमनस्क की भूमिका। इस कोटि के प्राणी बहुत कम होते हैं। वे ही होते हैं जिन्हें सत्य की झलक मिल गई है, सत्य का साक्षात्कार हो गया है। यह बोध हो जाता है कि सुख की वास्तविक स्थिति अमनस्कता में है।

समनस्क स्थिति में सुख और दुःख को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यह युगल रहेगा। कभी सुख होगा तो कभी दुःख। दिन और रात, अन्धकार और प्रकाश को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। मन कभी अशांत होगा और कभी शांत।

युवराज भद्रबाहु अपने मंत्रीपुत्र सुकेशी के साथ विहारचर्या कर रहे थे। एक स्थान पर भीड़ को देखकर युवराज ने पूछा—यह स्थान कौन सा है ? यहां इतनी भीड़ क्यों है ? सुकेशी बोला—युवराज ! यह श्मशानभूमी है। कोई आदमी मरा है, उसे जलाया ज. रहा है। युवराज ने सुना। उसे अपने सौन्दर्य पर गर्व था। उसने कहा—'शरीर को क्यों जलाया जा रहा है ? उसे

सुरक्षित क्यों नहीं रख लिया जाता ? मंत्रीपुत्र बोला—'राजकुमार ! आप नहीं जानते। मरने के बाद शरीर सड़-गल जाता है। उससे दुर्गन्ध आने लगती है। कोई भी उसे अपने पास रखना नहीं चाहता।' राजकुमार ने अपनी ओर देखा। सुन्दरता का अहं प्रत्येक अवयव से टपक रहा था। वह बोला—'तो क्या मेरा यह सुन्दर शरीर भी एक दिन जला दिया जाएगा ?' मंत्रीपुत्र ने कहा—'अवश्य ही जला दिया जाएगा।' युवराज ने यह सुना, मन अशांत हो गया। उसके सौन्दर्य का गर्व चूर-चूर हो गया। जलने की बात को सुनकर वह कांप उठा। अब वह अशांत और उदास रहने लगा।

राजा ने देखा। उदासी का कारण जाना। उसे सिद्धपुरुष के पास ले गया। सारा घटनाक्रम सामने रखा। सिद्धपुरुष ने कहा—'राजकुमार ! तुम मिथ्याज्ञान में चले गए, इसीलिए अशांत बन गए। शरीर सुन्दर नहीं होता। सुन्दर होता है इसके भीतर रहने वाला चेतन तत्त्व। तुम उसे देखो। वह कभी नहीं जलाया जाएगा। वह शाश्वत है, उसे देखो। तुमने शरीर को सुन्दर मान लिया, इसीलिए अशांत हो गए।' राजकुमार की आंखें खुलीं और मन की अशांति दूर हो गई। मन स्वस्थ हो गया।

मन की तीन अवस्थाएं हैं—अशांत अवस्था, शांत अवस्था और समाधि की अवस्था। आदमी अधिक जीता है मन की अशांत अवस्था में। गरीब आदमी का ही मन अशांत नहीं रहता, अमीर आदमी का मन भी अशांत रहता है। गरीब आदमी अशांत इसलिए रहता है कि उसके पास जीवन के साधन सुलभ नहीं होते। अमीर इसलिए अशांत है कि साधन सुलभ होने पर भी मन में सन्तोष नहीं है। सर्वे करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि गरीब से भी अमीर ज्यादा अशांत है।

जब मन में कोई उद्‌वेग या आवेश नहीं होता तब वह शांत रहता है। यह मन की शांत अवस्था है। यह ज्यादा टिकती नहीं। चंचलता आती रहती है और मन अशांत होता रहता है।

तीसरी अवस्था है अमन की अवस्था, मन की समाप्ति की अवस्था। यह ध्यान की अवस्था है। ध्यान के द्वारा अमनस्क स्थिति का अनुभव कर सकते हैं। जहां अमनस्कता आई, मन समाप्त हो जाता है। वहां केवल चित्त काम करता है। जब मन काम करता है तब चित्त कुछ दब जाता है। जब मन शांत होता है तब चित्त अधिक सक्रिय बन जाता है। अमनस्क अवस्था में मन शांत होता है, किन्तु चित्त अधिक प्रज्वलनशील और सक्रिय बन जाता है। चित्त को सक्रिय बनाने का माध्यम है—ध्यान। इस अवस्था में दुःख का भार समाप्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने विक्षेप का पहला परिणाम बतलाया है दुःख। दुःख, दौर्मनस्य—ये चंचलता के परिणाम हैं। जितनी चंचलता उतना दुःख। जितना

विक्षेप उतना दुःख। आदमी दुःख नहीं चाहता, पर उसे ठीक से समझ नहीं पाता कि दुःख क्यों हो रहा है ? सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रतिकूलता में दुःख आता है। दार्शनिकों ने भी यही परिभाषा दी—प्रतिकूल-संवेदनीय दुःखम्'—प्रतिकूल संवेदन करना दुःख है। यह ठीक है, पर कितना दुःख होगा, इसका चिन्तन नहीं किया गया। एक दुःख एक तोला भर का हो सकता है और एक दुःख पचास किलो जितना भारी हो सकता है। प्रतिकूलता हो या न हो, जितनी चंचलता उतना दुःख-भार। यह बात स्पष्ट समझनी चाहिए।

श्वास प्रेक्षा हम करते हैं। इसमें जो मर्म की बात है, वह यह है कि श्वास के भीतर अश्वास को देखना। श्वास को देखते-देखते उसके भीतर अश्वास का अनुभव करना। हम श्वास लेते हैं। श्वास भीतर जाता है। श्वास का रेचन करते हैं, श्वास बाहर निकलता है। श्वास और निःश्वास—इन दोनों के बीच भी अश्वास का क्षण है, उसे पकड़ना है। श्वास लेना मानसिक क्रिया है। मानसिक क्रिया करते-करते अमन का अभ्यास करना है। अमन तक पहुंचना, अश्वास को पकड़ना, एक ही है। अश्वास यदि पकड़ में नहीं आता है तो वह हमारी स्थूल क्रिया होती है। यह सही है, अमनस्कता तक पहुंचना सहज-सरल नहीं है। मन को पकड़ते-पकड़ते वहां पहुंच जाएं। आलंबन से निरालंबन तक चले जाएं। हमारा ध्येय है—अमन तक पहुंचना, चित्त तक पहुंचना। यही ध्यान का ध्येय है। ध्यान का ध्येय मन तक पहुंचना नहीं है। यदि हम केवल मन तक रहेंगे तो सदा खेल खेलते रहेंगे, जैसे बच्चा खेल खेलता रहता है, उसी में उलझा रहता है।

मैं जब-जब भारतीय दार्शनिकों की चर्चाओं को पढ़ता हूं तो मुझे लगता है कि उन्होंने भी बड़े-बड़े मानसिक खेल-खेले हैं। जो ध्यान की स्थिति में नहीं जाता, भले फिर वह दार्शनिक हो या बड़ा पंडित, वह मानसिक खेल खेलेगा, मानसिक क्रीड़ा में रत रहेगा। वह उसे ही अन्तिम मान लेता है, इसलिए दुःख बना का बना रहता है। ध्यान में भी यदि यह मानसिक खेल या क्रीड़ा चलती रही तो ध्यान मानसिक स्तर पर होगा। ऐसी स्थिति में ध्यानकाल में लगेगा कि आनन्द है, शांति है, पर जैसे ही ध्यान से उठे कि सब कुछ वैसा का वैसा है। कोई परिवर्तन घटित नहीं होगा।

एक चरवाहा पंडितजी के पास आकर बोला—'महीना पूरा हो रहा है। मैंने आपकी गाएं चराई हैं। मुझे पैसे मिलने चाहिए।' पंडितजी बोले—'भोले आदमी हो। पैसा क्या मांगते हो ? क्या तुम नहीं जानते कि वेदान्त में क्या लिखा है ? वेदान्त कहता है—सर्वं ब्रह्ममयं जगत्। सारा ब्रह्ममय है। जब हम सब ब्रह्ममय हैं तो कौन किसको पैसा देगा।' चरवाहा बड़ा परेशान हुआ।

दूसरे एक व्यक्ति के पास जाकर चरवाहे ने कहा—'मैंने आपकी गाएं चराई हैं। महीना पूरा हो गया है। पैसा दें।' वह बोला—'अरे! क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि महात्मा बुद्ध ने क्या कहा? उन्होंने कहा—'सर्वं क्षणिकम्' सारा क्षणिक है। जो तुमने गाएं चराईं, वे तो कब की ही मर चुकी हैं। पहले क्षण में ही मर गईं। अब जो गाएं हैं, वे तो उनकी संतान हैं। तुम भी मर चुके। मैं भी मर चुका। तुम भी नए पैदा हुए, मैं भी नया पैदा हुआ, गाएं भी नई पैदा हुईं। पुरानी गायों को चराने का कौन पैसा देने वाला है और कौन पैसा लेने वाला है?

चरवाहा दोनों मालिकों की बात सुनकर स्तब्ध रह गया। उसे कुछ सूझा नहीं। उसने अपनी राम कहानी एक समझदार आदमी को सुनाई। उसने सलाह देते हुए कहा—गाएं तुम्हारे पास हैं तो उन्हें मालिकों के घर मत भेजो, अपने ही घर में रख दो। आगे क्या कुछ कहना है, सारी बात उसे समझा दी।

सांझ की वेला। पंडितजी के यहां गाएं पहुंची नहीं। दौड़े-दौड़े आए चरवाहे के घर और पूछा—आज गाएं घर नहीं आईं? उसने कहा—पंडितजी! कौन सी गाएं? भूल गए आप इस सूत्र को कि 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'। सारा ब्रह्ममय है तो कौन गाएं देने वाला और कौन गाएं लेने वाला। चले जाइए आप अपने घर।

पंडितजी बोले—'वह तो दार्शनिक चर्चा थी। यह लो पैसे।' चरवाहे ने पैसे लिए और गाएं सौंप दीं।

दूसरा व्यक्ति भी चरवाहे के घर पहुंचा और उपालंभ के स्वर में बोला—अभी तक गाएं नहीं आईं? चरवाहा बोला—कौन सी गाएं? वे तो कभी की मर चुकीं। देने वाला भी मर गया और उनको सम्भालने वाला भी मर गया। जाओ अपने घर और 'सर्वं क्षणिकं' को रटते रहो।'

वह सकपका गया। स्वयं का तर्कजाल स्वयं को फंसा गया। वह बोला—क्यों दार्शनिक चर्चा कर रहे हो? यह लो पैसा, गायें दो।

यह है मानसिक खेल। दर्शन को भी मानसिक खेल बना डाला गया। जब तक यह मानसिक खेल और दर्शन की क्रीड़ाएं चलती रहेंगी तब तक न धर्म-धर्म होगा, न दर्शन-दर्शन होगा और न सत्य-सत्य होगा। हमें इससे परे जाना होगा सत्य के साक्षात्कार के लिए, अर्थात् मन की भूमिका को पार करना होगा।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले इस सचाई का अनुभव करें कि उन्हें मनोराज्य का नागरिक नहीं रहना है। नागरिकता को बदलना होगा। उन्हें अमन राज्य की नागरिकता स्वीकार करनी होगी। वहां मन नहीं होता, कोरी चेतना रहती है। इस स्थिति में गए बिना दुःख कम नहीं हो सकता।

अमन की स्थिति ही दुःख को कम करने की स्थिति है। हम अभ्यास करें। पूरे दिन-रात तक हम मन के साम्राज्य में रहते हैं। सोते हुए भी हम मन का खेल खेलते हैं और जागते हुए भी हम मन का खेल खेलते हैं। चौबीस घण्टों में हम कम से कम बीस मिनट, आधा घण्टा तो ऐसा अभ्यास करें कि मन की स्थिति न रहे, अमन की स्थिति उत्पन्न हो जाए। ऐसा करने पर नया अनुभव होगा, नया जीवन प्रारम्भ होगा। पुराना जीवन यानी मानसिक क्रीड़ाओं का जीवन। नया जीवन यानी मनोतीत जीवन, अमन का जीवन, केवल चेतना की भूमिका पर विताया जाने वाला जीवन। हम इसका अभ्यास करें और चित्त के साथ जीना सीखें, चेतना के साथ जीना सीखें।

इस अभ्यास के लिए आलम्बन लेना होगा। आलम्बन सर्वथा व्यर्थ नहीं होता। बच्चा मां की अंगुली के सहारे चलता है। बड़ा होने पर वह अंगुली का सहारा छोड़कर स्वतन्त्र रूप से चलने लगता है। नदी को नौका के द्वारा ही पार किया जा सकता है। नदी पार करने पर नौका को छोड़ देना होता है। आलम्बन आवश्यक होता है पर आलम्बन से चिपक जाना अच्छा नहीं होता। यदि ध्यान करने वाला आलम्बन से चिपका रहे तो ध्यान उसके लिए खतरनाक बन जाता है। ध्यान करने वाले का ध्येय होना चाहिए कि उसे निरालम्ब बनना है, सहारा छोड़ देना है। सहारा किसी का नहीं, केवल अपना सहारा। अपना सहारा ही अन्तिम सहारा होता है। प्रारम्भ में हम श्वास को आलम्बन बनाते हैं। इस आलम्बन से हम स्मृति, कल्पना और चिन्तन से बच जाते हैं। एक के सहारे से हम सभी से बच जाते हैं। यह भटकाव से बचने के लिए आलम्बन है। यह व्यर्थ नहीं है। धीरे-धीरे हम इसके सहारे निरालम्ब स्थिति तक पहुंच जाते हैं।

२

क्या विचारों को रोका जा सकता है ?

विचार अच्छा है। विचार बुरा है। इसका अर्थ है कि कोई उसे अच्छा या बुरा बना रहा है।

हवा ठण्डी है। हवा गर्म है। इसका अर्थ है कि कोई उसे ठण्डा या गर्म बना रहा है।

हम विचार को सीधा पकड़ते हैं। उसको अच्छा या बुरा बनाने वाला पर्दे के पीछे छिपा रहता है। कौन बना रहा है उसे अच्छा या बुरा ? हम विचार को रोकना चाहते हैं, क्योंकि अच्छा विचार नहीं आ रहा है। पर विचार को रोककर करेंगे क्या ? कैसे रोक पाएंगे ? जब तक भाव को नहीं पकड़ेंगे तब तक बेचारा विचार क्या करेगा ? वह तो बेचारा है। उसे पकड़ कर क्या करेंगे ? पकड़ना है भाव को। प्रश्न होना चाहिए कि क्या भाव को बदला जा सकता है ? चिन्तन या विचार को बदलना जरूरी नहीं है। जरूरी है भाव को बदलना। विचार महान् सम्पदा है तो बड़ा खतरा भी है। जितने जितने खतरे पैदा हुए हैं, वे सब विचार ने उत्पन्न किए हैं। किन्तु यह भी एकांगी सत्य है। यह विचार पर आरोपण मात्र है। विचार न सम्पदा है और न खतरा। सम्पदा है भाव और खतरा है भाव। पूरा व्यक्तित्व भावों से निर्मित व्यक्तित्व है। विचार उसकी एक तरंग है, एक रश्मि है। वह समग्र नहीं है। विचार के पीछे जो है, वह समग्र है। जब तक उस पर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं होगा तब तक विचारों को रोकने की उधेड़बुन में समय बीतेगा, अर्थ कुछ भी नहीं होगा।

जब व्यक्ति ध्यान करने बैठता है तब विचार बहुत आते हैं। व्यक्ति का पहला प्रश्न होता है कि उन विचारों को कैसे रोकें ? मैं पूछता हूं उन्हें रोकने की क्या आवश्यकता है ? विचार आते हैं, आने दें। जो अपने आप आते हैं, उन्हें आने दें, रोकें नहीं। ध्यान का अर्थ विचारों को रोकना नहीं है। उसका अर्थ है भावों को बदलना। जब तक रागभाव और द्वेषभाव है तब तक विचार आएंगे। जब ये दोनों भाव सक्रिय होते हैं तब विचारों की श्रृंखला चल पड़ती है। उसको रोका नहीं जा सकता। राग और द्वेष विचारों के घटक हैं। यह जो कहा जाता है कि मनुष्य का विकास विचारों के आधार पर हुआ है, यह नम्बर दो की बात है। मुख्य बात है कि मनुष्य का विकास भाव जगत् से हुआ है। भावना ने विचार को जन्म दिया और

क्या विचारों को रोका जा सकता है ?

विचार ने विकास का द्वारा खोल दिया। हमें साथ ही साथ यह भी कहना होगा कि भाव ने विचार को जन्म दिया और विचार ने विनाश को जन्म दिया। विकास और विनाश—दोनों का सम्बन्ध विचारों से है और उन विचारों का सम्बन्ध भाव से है। भाव, विचार और विकास। भाव, विचार और विनाश। यह सूत्र बन गया।

अध्यात्म के आचार्यों ने कहा—निष्काम कर्म करो। कृष्ण ने कहा—अनासक्त कर्म करो। यह बहुत सीधी-सी बात लगती है। पर प्रश्न है कि निष्काम और अनासक्त कैसे रहा जा सकता है? निष्काम और अनासक्ति की साधना कठिनतम साधना है। जब तक रागात्मक और द्वेषात्मक भावों पर हमारा नियंत्रण नहीं हो जाता, तब तक निष्काम और अनासक्त योग नहीं सधता। आसक्ति की तीव्रता बनी की बनी रहती है। एक बहाना जरूर मिल जाता है कि आदमी अकरणीय कार्य भी कर लेता है और जब उसका समाधान देना होता है तब निष्काम कर्म और अनासक्ति की दुहाई देने लग जाता है। वह कह देता है, मैंने जो किया, वह पूर्ण निष्काम भाव से किया है, अनासक्त भाव से किया है। यह बहाना मात्र है। निष्काम कर्म और अनासक्त योग की साधना में बहुत तपना पड़ता है, खपना पड़ता है।

प्रेक्षाध्यान की साधना निष्काम कर्म और अनासक्त योग की साधना है। यह भावशुद्धि की साधना है। यही इसका मूल उद्देश्य है। प्रेक्षाध्यान की साधना में यह संकल्प दोहराया जाता है—'मैं भावशुद्धि के लिए प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग कर रहा हूं। स्वास्थ्य लाभ और मन को निर्मल बनाने के लिए नहीं, केवल भावशुद्धि के लिए प्रयोग कर रहा हूं।' जब भाव निर्मल हो जाता है, तब मन निर्मल बन जाता है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भावनात्मक स्वास्थ्य पर निर्भर है।

ध्यान का प्रयोग भाव-परिवर्तन का प्रयोग है। जितने निषेधात्मक भाव हैं, वे सब बदलें और उनके स्थान पर विधायक भाव आएं। इस बिन्दु पर आकर जब हम सोचते हैं तो विचारों के प्रवाह की बात सामने आती है। विचारों को रोकना भी है और विचारों को नहीं भी रोकना है, यह निष्कर्ष निकलता है। जो विचार रागात्मक भाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर आता है, उसे रोकना है। जो विचार ज्ञानात्मक भावना से प्रेरित होकर आता है, उसे नहीं रोकना है। विचार-विकास के साथ-साथ वस्तु जगत् का विकास हुआ है। हम कैसे भूलेंगे इस बात को कि देखने की सुविधा के लिए चश्मे का विकास हुआ। गति की तीव्रता के लिए मोटर और हवाई जहाज का विकास हुआ। तलवार, बंदूक, स्टेनगन और एटम बम का विकास हुआ विनाश के लिए। इन दोनों के पीछे विचार-विकास का हाथ है। उपयोगिता की पृष्ठभूमि में भी विचार-विकास है और विनाश की पृष्ठभूमि में विचार-

विकास है। सृजन और संहार—दोनों विचार-विकास के ऋणी हैं। किस विचार को रोकें, और किसको न रोकें, यह विवेक आवश्यक है। जब हर विचार को रोकेंगे तो विकास का द्वार भी बंद हो जाएगा। विकास को कोई रोकना नहीं चाहता। यदि विकास बंद हो जाए तो फिर पशु में और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहेगा। मनुष्य ने इसी आधार पर विकास किया है। वह सोचता है। पशु नहीं सोचता, इसलिए वह हजार वर्ष पहले जहां था, आज भी वहीं है। हजार वर्ष पहले भी बंदर पेड़ पर रहते थे और आज भी पेड़ पर ही रहते हैं। उन्होंने घर बनाना सीखा ही नहीं। आदमी सोचना जानता है, इसलिए निरन्तर सोचता रहा और आज वह भूमि पर नहीं आकाश में बसने की सार्थक कल्पना कर रहा है। यह सारा विकास और चमत्कार विचार का ऋणी है।

विचार आता है और उसके बाद उसकी क्रियान्विति होती है। विचार ने विकास का द्वार खोला है तो हम उसे रोकने की बात क्यों सोचें? यह प्रश्न है। इसका समाधान है कि यदि विचार के द्वारा केवल विकास ही होता तो उसे रोकने की बात नहीं सोची जाती। किन्तु विचारों ने मनुष्य जाति का जितना कल्याण किया है, उससे अधिक अकल्याण किया है। उसने श्रेय साधा है तो श्रेय में अनेक बाधाएं भी उपस्थित की हैं। इसलिए विचारों को रोकने की बात प्राप्त होती है। विचारों के उच्छृंखल प्रवाह को चालू नहीं रहने देना चाहिए। उसको रोकना ही श्रेयस्कर है।

विचार आदमी को सुखी बनाता है तो दुःखी भी बना डालता है। आदमी सुख से बैठा है। एक विचार आया और वह दुःख से भर जाता है। कोई घटना नहीं, कोई परिस्थिति नहीं, केवल विचार आया और दुःख उभर आया। आदमी दुःख भोग रहा है, पर अचानक एक ऐसा विचार उभरा कि वह दुःख भूल गया और सुख के झूले में झूलने लगा। विचार जहां सुख की सृष्टि करता है तो दुःख का सर्जन करता है। इन सब स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह मार्ग खोजा गया कि विचार चलते है, चलने दें, पर कम से कम रागात्मक और द्वेषात्मक विचारों को रोका जाए। विचार रुकते नहीं, तब यह प्राप्त हुआ कि उन विचारों के पीछे भाव काम कर रहा है, उसे रोका जाए। रागात्मक और द्वेषात्मक विचारों के पीछे भाव काम करते है। भावों को रोकना है। हमें इस सचाई को हृदयंगम करना है कि विचार के प्रवाह को रोकने का मतलब है भावना के प्रवाह को रोकना, भावना के प्रवाह को बदलना।

राग का प्रतिपक्ष है विराग। विराग का अर्थ है, न राग और न द्वेष। इसी विराग या वैराग्य का नाम है निष्काम कर्म, अनासक्ति योग। विराग भावना जागे, यह आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ केवल साधु बनना नहीं है।

वैराग्य का अर्थ है—सचाई का बोध, यथार्थ का अवबोध। सत्य का ज्ञान, यथार्थ का अवबाध और वैराग्य—ये तीनों तात्पर्यार्थ में एक हैं, अभिन्न हैं। सत्य के बोध का नाम है—वैराग्य और वैराग्य का अर्थ है सत्य का बोध। जब हम इस सचाई को जान लेते हैं, जीते हैं तो वह वैराग्य है। हम इस सचाई को केवल मानते हैं, जीते नहीं, तो वैराग्य नहीं है। आज के अधिकांश धार्मिक सचाई को मानने वाले हैं, जानने वाले नहीं हैं। जानने और मानने में आकाश-पाताल का अन्तर है। जानना है सत्य का साक्षात्कार और मानना है सत्य का आरोपण। मानने के जगत् में कथनी और करनी एक नहीं हो सकती। उसमें खाई रहेगी। यही कारण है कि आज के धार्मिक में कथनी और करनी समान नहीं है। वह कहता कुछ है और करता कुछ है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि वहां इनकी एकता प्राप्त ही नहीं होती। वह सत्य का साक्षात्कार नहीं, केवल आरोपण कर चल रहा है। वह सत्य को जीता नहीं, सत्य का केवल भार ढोता है। केवल मानने का यही फलित होगा।

एक बच्चा समुद्र के किनारे उदास बैठा था। उसके हाथ में प्याली थी। वह कभी समुद्र को देखता और कभी प्याली को। एक व्यक्ति ने पूछा—बच्चे उदास क्यों बैठे हो ? उसने कहा—'मैं इस समुद्र को प्याली में भरना चाहता हूं, पर कैसे भरूं, नहीं जानता।

हम सब उस बच्चे की अवस्था से गुजर रहे हैं। हम भी विराट सत्य को शब्दों की और तर्कों की छोटी-सी प्याली में भरना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कथनी और करनी में अन्तर नहीं होगा तो क्या होगा ?

जब तक हम शब्द और तर्क से परे भावशुद्धि के जगत् में प्रवेश नहीं करेंगे तब तक सत्य के सागर को हम भर नहीं पाएंगे। हमारा ज्ञान और विचार सीमित है। उस ससीम में हम असीम को कैसे समा पाएंगे ?

हमें शब्द और तर्क की सीमा से आगे जाना होगा, तब सत्य समझ में आएगा। तब हमारे भाव निर्मल बनेंगे। जब तक भाव निर्मल नहीं होते तब तक सचाई के सामने होने पर भी वह पकड़ में नही आती।

किसान अपने पुत्र के साथ प्रवचन सुनने गया। प्रवचनकार ने कहा—परमात्मा सर्वव्यापी है। सर्वत्र है। वह सबको देखता है। प्रवचन का यह सार था। घर आकर, भोजन से निवृत्त हो पिता-पुत्र जंगल में गए। एक खेत सूना पड़ा था। घास उगा हुआ था। पिता ने पुत्र से कहा—तुम यहां बैठो। मैं इस खेत में पशुओं के लिए घास ले आता हूं। कोई आए तो मुझे बता देना। ध्यान रखना कोई देख न ले। पिता खेत में घुसा। मन का पाप उसे सतर्क रहने के लिए कह रहा था। उसने तीन बार पुत्र से पूछा, कोई देख तो नहीं रहा है ? पुत्र से रहा नहीं गया। वह बोला—'पिताजी ! और कोई नहीं, पर परमात्मा देख रहा है।' पर यह बात पिता के समझ में नहीं

आई और वह चोरी से घास काटता ही रहा। पुत्र के बात हृदयंगम हो चुकी थी।

जब तक भाव सहज नहीं होता, तब तक सचाई समझ में नहीं आती, वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता, विराग नहीं होता। शास्त्रों को पढ़ने और पारायण कर लेने पर भी हम सत्य को मानते है, जानते नहीं। सत्य साधना के द्वारा ही जाना जा सकता है, पकड़ा जा सकता है। मानने से सत्य पकड़ में नहीं आता, के ल शब्द पकड़ मे आते हैं। मानने से सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, जीवन से उसका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब तक मानने और जानने का अन्तर स्पष्ट समझ में नहीं आएगा तब तक ज्ञान और व्यवहार की, कथनी और करनी की दूरी मिटेगी नहीं। आदमी धोखा खाता रहेगा। राग और द्वेष बाह्य जगत् में उलंझा देते हैं। विचारों में हम स्वयं उलझ जाते हैं। धारणा बदल जाती है।

सिपाही मारा गया। आदमखोर शेर ने उसे खा डाला। हेडक्वाटर में सूचना गई। डी० आई० जी ने अधिकारी को बुलाकर कहा—पता लगाओ कि क्या वास्तव में ही शेर ने सिपाही को मार डाला। क्या सिपाही उस समय वर्दी में था या बिना वर्दी में? वर्दी में होता तो शेर उसे खा नहीं सकता।'

आदमी अपनी ही मान्यता में उलझ जाता है। यह विचारों का उलझाव बराबर बना रहता है। जब तक व्यक्ति मन्तव्य और धारणा के चक्रव्यूह को तोड़कर सहज-सरल भाव से सत्य का साक्षात्कार नही करेगा तब तक विचारों के व्यूह को भी नहीं तोड़ा जा सकेगा।

हम सब दुःख के चक्र को देखते हैं। दुनिया में बहुत दुःख है। दुःख का उत्पादक है परिग्रह। महावीर ने कहा, जब तक आदमी परिग्रह से मुक्त नहीं होगा तब तक वह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकेगा। आदमी के पास विचारों का बड़ा परिग्रह है। वह सोचता है, धन नहीं होगा तो क्या होगा? बूढ़ापे में क्या होगा? लड़के, लड़की की शादी कैसे कर पाऊंगा। यह शृंखला चलती है और विचारों का परिग्रह अन्यान्य परिग्रहों का सहारा देता चलता है। तब आदमी मान लेता है कि धन ही जीवन है। वह कहता यह है कि मुझे धर्म और परमात्मा बहुत प्रिय हैं, अध्यात्म मुझे प्रिय है पर यह बात बाहर के मन से निकलती है। उसके अन्तःकरण में प्रिय है परिग्रह और वही उसका धर्म और परमात्मा बन जाता है।

संन्यासी के पास एक सेठ आया। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, पर शांति नहीं थी। वह दुःखी था। उसने संन्यासी से कहा—'महाराज! मैं बहुत दुःखी हूं। ऐसा कोई मन्त्र बताएं कि मेरा दुःख नष्ट हो जाए।' संन्यासी ने कहा—सेठजी! पहले भोजन कराओ। मैं भूखा हूं। फिर मन्त्र

बताऊंगा। सेठ को बड़ा अजीब-सा लगा। पर वह विवश था। उसने दूध मंगाया। संन्यासी ने कहा—मैं तुम्हारे बर्तन में दूध नहीं पीऊं। अपने पात्र में लूंगा। संन्यासी ने अपने थेले में से एक पात्र निकाला, जिसमें सैकड़ों छेद थे। सेठ बोला—संन्यासीजी ! इस पात्र में दूध डालूंगा तो आप पीएंगे या जमीन पीएगी ? इसमें एक बूंद दूध भी नहीं टिक पाएगा। आप क्या कर रहे हैं ? आप दूसरा पात्र निकालें, जिसमें छिद्र न हों। संन्यासी ने कहा—तुम ठीक कहते हो। यदि मेरे छिद्र वाले पात्र में तुम्हारा दूध नहीं टिकेगा तो तुम्हारे छिद्र वाले मन में मेरा मंत्र कैसे टिक पाएगा ? तुम निश्छिद्र मन लाओ फिर मैं मन्त्र दूंगा।

परिग्रह की भावना ने मन के पात्र में इतने छेद बना डाले हैं कि उसमें अध्यात्म की कोई बात टिकती ही नहीं। आश्चर्य होता है कि मनुष्य इतने प्रवचन सुनता है, शास्त्रों का पारायण करता है, तप-जप करता है, पर कोई बात मन पर असर नहीं करती। असर करे कैसे ? उसमें वह टिकती ही नहीं, क्योंकि मन छेदों से भरा पड़ा है। सर्वत्र छेद ही छेद हैं। चलनी में पानी टिक नहीं सकता।

मन को निश्छिद्र बनाना होगा। यह होगा भावशुद्धि के द्वारा। भावशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग का प्रयोग महत्वपूर्ण है। कायोत्सर्ग का अर्थ है, शरीर का उत्सर्ग कर देना, शरीर को छोड़ देना। जीते जी शरीर को कैसे छोड़ा जा सकता है ? मरने के बाद शरीर स्वयं छूट जाता है, पर जीवित अवस्था में उसे छोड़ देने की बात कैसे सम्भव है ? अनासक्त योग और निष्काम कर्म यही है कि जीते जी शरीर को छोड़ देना। यानी शरीर का होना और शरीर को छोड़ देना, काम का होना और काम को छोड़ देना। यही है अनासक्त योग। शरीर को छोड़ देने का अर्थ है उसकी सार-संभाल छोड़ देना, परिकर्म छोड़ देना।

शरीर को छोड़ने का अर्थ है परिग्रह की जड़ पर प्रहार करना। शरीर सबसे बड़ा परिग्रह है। दूसरे सारे परिग्रह इस शरीर के ममत्व से पैदा होते हैं। शरीर महान् परिग्रह है और दूसरा है परिग्रह की भावना को पैदा करने वाला परिग्रह। यदि शरीर के प्रति ममत्व ढीला होता है तो परिग्रह की भावना शिथिल हो जाती है। कायोत्सर्ग हैं शिथिलीकरण। मांसपेशियों और प्रत्येक कोशिका को शिथिल करना। चमड़े और हड्डियों की पकड़ को पकड़ने वाली पकड़ को ढीला छोड़ना है। ममत्व भाव को ढीला करना है। स्मरण रख कि कायोत्सर्ग में केवल शरीर के अवयवों का ही शिथिलीकरण नहीं करना है, ममत्व भावना को भी शिथिल करना है। केवल मांसपेशियों को शिथिल करना यांत्रिक क्रिया है। वास्तव में 'यह शरीर मेरा है'—इस भावना को शिथिल करना है। यही अनासक्त योग है। भावशुद्धि और भाव-

परिवर्तन का पहला प्रयोग है कायोत्सर्ग। यहां से भाव-परिवर्तन प्रारम्भ होता है। जिसने कायोत्सर्ग करना नहीं सीखा, उसने भाव-परिवर्तन करना नहीं सीखा। जिसने कायोत्सर्ग करना सीख लिया, उसने भाव-परिवर्तन करना सीख लिया। कायोत्सर्ग में तीन बातें साथ-साथ चलती हैं—शरीर का शिथिलीकरण, जागरूकता और ममत्व का विसर्जन। एक व्यक्ति ने पूछा, हठयोग के शवासन में और कायोत्सर्ग में क्या अन्तर है? मैंने कहा—शारीरिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। शवासन में केवल शरीर का शिथिलीकरण होता है। कायोत्सर्ग मे केवल शिथिलीकरण नहीं होता, साथ-साथ में अपने प्रति जागरूकता रखनी होती है और ममत्व का त्याग भी होता है। इस दृष्टि से दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।

जब तक शरीर के ममत्व के त्याग की बात नहीं आएगी, सही अर्थ में कायोत्सर्ग नहीं सधेगा। वह नहीं सधेगा तो परिग्रह की पकड़ ढीली नहीं होगी और जब तक परिग्रह की पकड़ रहेगी, भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं होगी। जब तक भाव-परिवर्तन घटित नहीं होगा, दुःख से छुटकारा नहीं मिलेगा।

ध्यान का प्रयोग केवल मानसिक तनाव को मिटाने के लिए नहीं है। यह है भाव-परिवर्तन और दुःख की जड़ पर प्रहार करने के लिए। यही ध्यान का सही उद्देश्य है। हम अपने भावों की निर्मलता के लिए कायोत्सर्ग का प्रयोग करें और उसके द्वारा दुःख की जड़ पर प्रहार करें। यह प्रहार मूल्यवान् होगा। यह ऐसा प्रहार होगा, जिसे ध्यान न करने वाला कभी समझ ही नहीं पाएगा। ध्यान न करने वाला भी दुःखों से मुक्ति चाहता है, पर वह दुःख की जड़ पर प्रहार करना नहीं जानता। ध्यान करने वाला इस बात पर अधिक एकाग्र होता है कि दुःख की जड़ क्या है? दुःख का उत्स कौनसा है?

यदि हम दुःख की जड़ को पकड़ कर उस पर प्रहार करना सीख जाएं तो फिर संसार में दुःख भी हमारे लिए दुःख नहीं होगा। एक नए संसार का निर्माण होगा और इस निर्माण में प्रेक्षाध्यान का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।

३

क्या मूड पर अंकुश लगाया जा सकता है ?

मनुष्य एकरूप नहीं होता। वह बदलता रहता है। उसके भाव बदलते हैं, मन बदलता है, मनोदशाएं बदलती हैं और मूड बदलता है। आज मूड शब्द बहुत प्रचलित है। हर आदमी दूसरे का मूड देखकर ही बातचीत करना चाहता है। मूड का अर्थ है मनोदशा। भाव के साथ-साथ मनोदशाएं बदलती हैं, मुद्राएं बदलती हैं। कोई भी आदमी कभी एकरूप नहीं मिलता। प्रातःकाल प्रसन्न मुद्रा में है तो मध्यान्ह में क्रुद्ध मिलेगा। प्रातः-काल यदि शांत है तो सायंकाल भीषण ज्वार-भाटे में मिलेगा। कहा नहीं जा सकता कि आदमी कब कैसा बन जाए। इसलिए सोचना पड़ता है कि किस आदमी से कब काम लिया जाए। जब वह प्रसन्न मुद्रा में होता है तो बड़े से बड़ा काम सहजता से हो जाता है और जब वह अप्रसन्न मुद्रा में होता है तो आसान काम भी पहाड़ बन जाता है।

प्रश्न है कि आदमी क्यों बदलता है ? मनोदशा क्यों बदलती है ? कारण क्या है ? कारण पर हम विचार करें। वह कारण बाहर नहीं है, अपने ही भीतर है। समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा मूड पर अंकुश लगाने का प्रयोग है। हम जो श्वास लेते हैं, वह दो भागों में बंटा हुआ है। हम कभी बाएं नथुने से और कभी दाएं नथुने से श्वास लेते हैं। कभी दायां स्वर चलता है, कभी बायां स्वर चलता है और कभी दोनों साथ-साथ चलते हैं। स्वरोदय की भाषा में बाएं स्वर को चन्द्रस्वर और दाएं स्वर को सूर्यस्वर कहा जाता है। जब दोनों स्वर साथ चलते हैं तब उसे सुषुम्ना स्वर कहा है। ये तीन स्वर हैं। श्वास और स्वर का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। जब बायां स्वर चलता है तब दायां पटल सक्रिय होता है। हमारा मस्तिष्क दो गोलार्धों में विभक्त है—दायां और बायां। दोनों का अलग-अलग कार्य है। आज इस विषय में बहुत अनुसंधान हुए हैं।

स्वरोदय में यह विवेचित हुआ है कि कौन से स्वर में कौनसा कार्य करना चाहिए। कार्य दो भागों में विभक्त है—चल कार्य और स्थिर कार्य। सौम्य कार्य और क्रूर कार्य। जब चन्द्रस्वर चलता है तब सौम्य कार्य करना चाहिए। सौम्य और शांत कार्य उसी में सफल होते हैं। यह बहुत वैज्ञानिक चिन्तन है। जब चन्द्रस्वर चलता है तब मस्तिष्क का दायां पटल सक्रिय होता है। दायां पटल सौम्य और शांत कार्य के लिए उत्तरदायी है। स्वरविद्या का

विशेषज्ञ व्यक्ति निरन्तर अपने स्वरों की जानकारी करता रहता है। वह जानता है कि किसी के साथ मैत्री करनी है, किसी को अपनी बात से सहमत करना है, किसी को कोई बात जचानी है तो यह सारा कार्य चन्द्रस्वर में निष्पन्न होना चाहिए। उस समय मूड शांत रहता है। उसी स्थिति में सामने वाले पर प्रभाव पड़ सकता है। अन्यथा सामने वाला व्यक्ति बात सुनते ही उत्तेजित हो जाएगा। बात विगड़ जाएगी। स्वयं का मूड और सामने वाले व्यक्ति का मूड—दोनों को स्वर के साथ मिलाया जाता है, बात बन जाती है।

कोई व्यक्ति यदि चन्द्रस्वर में कठोर कर्म, वाद-विवाद आदि करने जाता है तो पहले ही क्षण में हार जाता है। कठोर कर्म सूर्यस्वर में ही सफल हो सकते हैं। जब दायां स्वर—सूर्यस्वर चलता है तब बांयां पटल सक्रिय होता है। उस समय तर्कशक्ति का विकास होता है। उस समय होने वाले तर्क-वितर्क में सूर्यस्वर वाला व्यक्ति जीत जाएगा। यदि चन्द्रस्वर में वह वाद-विवाद चलता है तो उसकी हार निश्चित है। लड़ना, झगड़ना संघर्ष करना और विवाद करना—ये सारे कठोर कर्म हैं। इनको सूर्यस्वर में ही किया जाता है।

साधु-संत चंद्रस्वर को विकसित करते हैं। उन्हें उत्तेजित करना सरल नहीं होता। ऐसे संत हुए हैं जिन्हें हजार प्रयत्न करने पर भी उत्तेजित नहीं किया जा सका।

एकनाथ महाराष्ट्र के पहुंचे हुए संत थे। एक व्यक्ति ने यह बीड़ा उठाया कि वह एकनाथ को उत्तेजित कर देगा। संत एकनाथ साधना में बैठे थे। वह आदमी वहां पहुंचा और उनकी पीठ पर जा बैठा। वह पीठ पर बैठा ही नहीं, घूंसा मारने लगा। एकनाथ ने मुड़कर देखा और हंसकर कहा—'अरे! तुम्हारे जैसा मित्र तो मुझे आज तक नहीं मिला। आज तक जो भी मित्र आते वे सामने से आकर मिलते। तुम पीछे से आकर मित्रता करने वाले पहले व्यक्ति हो। मेरी पीठ में दर्द है। उस पर भी चोट कर तुम ठीक कर रहे हो।' उस व्यक्ति ने सुना। शरमा गया। पीठ से उतर चरणों में आ गिरा। संत एकनाथ ने चंद्रस्वर सिद्ध कर लिया था।

जिनके चंद्रस्वर सध जाता है, उनका मूड कभी खराब नहीं किया जा सकता। किसी में यह शक्ति नहीं होती कि उनके मूड को विगाड़ सके।

सिकन्दर आया संन्यासी के पास। बहुत तेज था संन्यासी में। सिकन्दर आकर बोला—आप मेरे देश में चलें। मुझे आप जैसे संन्यासी की जरूरत है। संन्यासी बोला—मैं नहीं चल सकता। मुझे क्या लेना-देना है तुम्हारे देश से? सिकन्दर ने समझाया। संन्यासी नहीं माना। डराया धमकाया। पर सब व्यर्थ। सिकन्दर बोला—मेरी आज्ञा की अवहेलना का

परिणाम है मृत्यु। संन्यासी बोला—किसे मारोगे ? मैं तो मरा हुआ ही हूं। चले जाओ यहां से। सूरज की जो धूप आ रही है, उसे मत रोको।

जिन व्यक्तियों ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सुना है, समझा है, जिन्होंने मस्तिष्क के दाएं पटल को जागृत कर डाला है, उनके मूड को कोई विकृत नहीं कर सकता।

आज के युग में बायां पटल अधिक सक्रिय है और दायां सुषुप्त है। दोनों में सन्तुलन अपेक्षित है। यह सन्तुलन समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा से साधा जा सकता है। यह अंकुश-शक्ति है। जैसे हाथी के नियन्त्रण के लिए अंकुश, घोड़े के लिए लगाम होती है, वैसे ही समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा इन दोनों पटलों के सन्तुलन के लिए नियन्त्रणकारी है। यह नियन्त्रण शक्ति हमारे हाथ में होनी चाहिए। अन्यथा मूड बार-बार बिगड़ेगा।

आज का समूचा परिवेश मनोदशा को उत्तेजित करने वाला और बिगाड़ने वाला है। आदमी की सहनशक्ति कम हुई है और इसका कारण है सुविधावादी मनोवृत्ति। इस वृत्ति में सहन करने की जो प्राकृतिक क्षमताएं थीं, उन्हें नष्ट कर डाला। आज आदमी सर्दी-गर्मी सहन नहीं कर सकता। सुविधाओं को भोगते-भोगते वह उनके वशवर्ती हो गया है। सहनशक्ति चुक गई है। केवल शारीरिक सहनशक्ति ही नहीं, आदमी का मन भी कमजोर हो गया है। उसकी भी सहनशक्ति कम हो गई है। कठोर जीवन और श्रम का जीवन जीना अच्छा होता है। पर उसे भुला दिया गया। इन सुविधाओं ने आदमी में स्वार्थ और क्रूरता का भाव भी उजागर किया है। आदमी सारी सुविधायें स्वयं भोगना चाहता है। दूसरों के प्रति उसका वैसा भाव नहीं है।

महात्मा गांधी इलाहाबाद गए। आनन्द भवन में ठहरे। प्रातःकाल हाथ-मुंह धो रहे थे। पास में जवाहरलाल नेहरू बैठे थे। बातचीत चल रही थी। गांधीजी के लोटे का पानी समाप्त हो गया। वे बोले—ओह ! बात ही बात में पानी पूरा हो गया और अभी कुल्ला करना शेष है। नेहरू ने कहा—बापू ! क्या कह रहे हैं ! पानी पूरा हो गया तो आप जितना चाहेंगे उतना और आ जाएगा। यह गंगा-यमुना का नगर है। यहां पानी की कमी कैसी ? बापू बोले—जवाहर ! तुम ठीक कहते हो कि यह नगर गंगा-यमुना का है। किन्तु इन पर अकेले बापू का अधिकार नहीं है। लाखों-करोड़ों लोगों का इन पर अधिकार है। मैं फिजूल पानी खर्च करूं, यह अनुचित है।

ऐसी भावना तब बनती है जब दृष्टिकोण सुविधावादी नहीं होता। कल ही मैं एक कोटेज से गुजर रहा था। मैंने देखा कि टन्की से पानी फिजूल नीचे गिर रहा है। इतना पानी कि दस-बीस व्यक्ति स्नान कर लें। पर उस ओर किसी का ध्यान नहीं था, क्योंकि पानी का अभाव नहीं है, प्रचुरता है। यह नहीं सोचा जाता कि दुनिया में मैं अकेला ही नहीं हूं, लाखों और हैं,

जिनको पानी की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी मुझको है। सुविधावादी दृष्टिकोण में स्वार्थ की बात अधिक सोची जाती है, पदार्थ की बात पर कम ध्यान दिया जाता है।

आज अपेक्षा है कि चिंतन बदले, चिंतन की धारा बदले। सब यह सोचें कि दुनिया में बहुत प्राणी हैं। मैं अकेला ही हकदार नहीं हूं। सबका हिस्सा है उसमें। भारत के ऋषियों ने इस बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण चिंतन दिया था, पर वे व्यवस्था नहीं दे पाए। मार्क्स ने चिन्तन के साथ-साथ व्यवस्था दी। ऋषियों ने कहा—'जितने से पेट भरे उतने मात्र पर व्यक्ति का अधिकार है। इतनी सम्पत्ति पर ही उसका हक है। शेष सारा अनधिकृत है। शेष सम्पत्ति समाज की है। जो इससे अधिक रखता है वह चोर है, वध्य है।

कितना विशाल दृष्टिकोण! सम्पत्ति पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं हो सकता। सम्पत्ति सामाजिक है। कोई व्यक्ति उस पर अधिकार कर बैठता है तो यह अनुचित है, अन्याय है। इस विशाल दृष्टिकोण को आदमी ने मान्य नहीं किया क्योंकि इसे मान्य करने पर उसकी सारी सुविधाएं समाप्त हो जाती हैं। यह सिद्धांत उसकी सुविधावादी मनोवृत्ति पर करारा प्रहार था। आदमी ने इसे अमान्य कर डाला और सुविधाओं को बढ़ाता चला गया।

आज सरकार चिल्ला रही है कि गरीबी की समस्या है। समस्या गरीबी की नहीं, समस्या है सुविधाओं में खर्च होने वाले अपव्यय की। आदमी साज-सज्जा और सुविधा के साधन जुटाने में लाखों-करोड़ों का व्यय कर रहा है। कहां है गरीबी? क्या गरीब ऐसा कर सकता है? जब तक सुविधावादी दृष्टिकोण नहीं बदलेगा, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा।

आज वातानुकूलन की प्रथा अधिक चल पड़ी है। मकान ही नहीं, कार भी वातानुकूलित होनी चाहिए। लोगों ने सोचा, सर्दी और गर्मी—दोनों से बचाव होगा, पर यह नहीं सोचा कि यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम है कि आदमी को सर्दी भी लगे और गर्मी भी लगे। दोनों आवश्यक हैं। यदि ऐसा नहीं होगा तो शरीर निकम्मा और ढीला हो जाएगा।

एक अमेरिकन निरन्तर वातानुकूलन में रहता। बीमार हो गया। डाक्टरों का इलाज व्यर्थ गया। एक नेचुरोपेथी चिकित्सक के पास गया। उसने गर्म पानी के टब में तीन घंटा प्रतिदिन बैठने की सलाह दी। उसने वैसा ही किया और स्वस्थ हो गया। अब वह पूरा दिन वातानुकूलन में

बिताता और तीन घण्टा गर्म पानी के टब में। एक दिन उसने सोचा, यह तो मूर्खता है। मैं क्यों ऐसा करूं ? उसने वातानुकूलन के सभी साधन बन्द कर दिये तो गर्म पानी में बैठने की आवश्यकता भी नहीं रही।

आज के सारे सुविधा-साधन प्रकृति के विरुद्ध हैं। हमारे लिए धूप और हवा आवश्यक है। पर वह आज के मकानों में सुलभ नहीं है। हवा भी कृत्रिम साधनों से लाई जाती है। इससे शरीर ही नहीं बिगड़ा है, आदमी की मनोदशा भी बिगड़ी है, मूड भी बिगड़ने लगा है।

सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाने के लिए आसनों का प्रयोग भी कारगर होता है। कुछेक मानते हैं कि ध्यान की साधना में आसनों की कोई जरूरत नहीं है। यह एकांगी दृष्टिकोण है। ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता तो सधती है, किन्तु सहन करने की शक्ति का विकास उससे नहीं होता। सहन करने के लिए शरीर को पहले तैयार करना होता है। शरीर तैयार होता है आसनों से। जब तक शरीर नहीं सधता तब तक ध्यान भी पूरे ढंग से नहीं होता। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्यकता है कायसिद्धि की। ध्यान है मनःसिद्धि, मानसिक सिद्धि, चैतसिक सिद्धि। शरीर की सिद्धि हुए बिना वह नहीं सधती। शरीर सधा हुआ होता है तो ध्यान बीच में नहीं टूटता, एकाग्रता अच्छे ढंग से सध जाती है।

आसन की सिद्धि होने पर प्राणायाम की सिद्धि होती है और फिर द्वन्द्व सता नहीं सकते। आसनसिद्धि का अर्थ है—एक ही आसन में तीन घंटे रहना। इससे द्वन्द्वों, कष्टों को सहने की क्षमता बढ़ती है। तब ध्यान सिद्ध होता है। ध्यान की सिद्धि और मन की सिद्धि तभी सम्भव है जब आसन-सिद्धि हो जाए, कायसिद्धि हो जाए।

इस सारी स्थिति के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि मूड या मनोदशा को ठीक रखने के लिए, 'क्षणे तुष्टः क्षणे रुष्टः' की प्रकृति को बदलने के लिए, मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों का सन्तुलन जरूरी है। इस सन्तुन को साधने के लिए दोनों स्वरों—चन्द्रस्वर और सूर्यस्वर का सन्तुलन अपेक्षित है। इस सन्तुलन का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा।

४

क्या मूर्च्छा को कम किया जा सकता है ?

मूर्च्छा दुःख का कारण है। मूर्च्छा है जागरण का अभाव। आदमी सोता है, इसीलिए दुःख होता है। सोना बहुत आवश्यक भी है और सोना एक समस्या भी है। सोते समय श्वास की गति बढ़ जाती है। वह छोटा हो जाता है। छोटा श्वास आयु को कम करता है। जो अधिक समय सोता है वह अल्प-आयुष्क होता है। परिमित समय तक सोता है तो आदमी ठीक-ठीक जी लेता है।

हर प्रवृत्ति के साथ समस्या जुड़ी हुई होती है। सोना जरूरी है तो सोना खतरनाक भी है। दस-बारह घण्टा सोना अल्पायु होना है। जो आदमी लम्बा जीना चाहता है उसे सोने की सीमा कम करनी चाहिए। जो मूर्च्छित है वह सोया हुआ है। सामाजिक स्तर पर मूर्च्छा भी जरूरी मान ली गई। यदि मूर्च्छा नहीं होती है तो बच्चे का लालन-पालन नहीं हो सकता। कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। कोई किसी चीज की सुरक्षा नहीं कर पाता। मूर्च्छा है इसीलिए प्रवृत्ति का यह चक्र चल रहा है। मूर्च्छा नहीं होती तो सोने को कौन इकट्ठा करता ? मूर्च्छा नहीं होती तो हीरों, पन्नों को कौन संजोकर रखता ? जैसे पत्थर ठोकर में पड़े रहते हैं, वैसे ही वे भी पड़े रहते। तो फिर वस्तु का यथार्थ मूल्यांकन नहीं होता। कहां पत्थर और कहां हीरा ! किन्तु मूर्च्छा सबको अपने-अपने स्थान पर टिकाए हुए है।

फकीर के पास एक सम्राट् आया। फकीर जानता था। सम्राट् जब जाने लगा तब फकीर ने पांच-दस कंकड़ सम्राट् को देते हुए कहा—मेरे ये कंकड़ ले जाओ। जब तुम मरकर अगले लोक में जाओ तब मैं वहां तुमसे मिलूंगा। तब मेरे ये कंकड़ मुझे दे देना। सम्राट् हंसकर बोला—बड़े भोले हो तुम ! क्या कोई भी व्यक्ति मर कर अपने साथ कुछ ले जा पाता है ? यह असम्भव है। फकीर बोला—तुम सच कह रहे हो ? सम्राट् बोला—'यह सच है। सब जानते हैं।' फकीर ने कहा—तो फिर प्रजा का शोषण कर तुम इतना वैभव क्यों एकत्रित कर रहे हो ? मैं तो समझता था, और कोई ले जाए या नहीं, तुम तो अवश्य ही सारा वैभव साथ ले जाओगे। यदि नहीं ले जा सकते तो फिर इतनी मूर्खता क्यों कर रहे हो ? सम्राट् की आंख खुल गई।

मूर्च्छा के कारण ही संचय किया जाता है। कभी-कभी मैं सोचता हूं,

मूर्च्छा नहीं होती तो समाज और परिवार कैसे चलता ? माता बच्चे के पालन-पोषण में इतना कष्ट सहती है। क्यों ? मूर्च्छा है इसीलिए। पशु-पक्षियों की माताएं भी बच्चों के लिए, अपनी सन्तान के लिए क्या नहीं सहती ? मूर्च्छा के कारण सारा कष्ट सह लिया जाता है। इस दृष्टि से सामाजिक प्राणी के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि मूर्च्छा सर्वथा हेय है। वह छोड़ भी नहीं सकता। जो कुछ एक दूसरे के लिए होता है या किया जाता है वह सारा मूर्च्छा और मोह के कारण ही हो रहा है। मोह नहीं होता तो कौन पढ़ाता बच्चों को ? कौन उन्हें तैयार करता ? कौन उन्हें व्यवसाय सिखाता ? फिर तो सब अकेले होते। सब विरागी या विरक्त होते। अकेला आदमी विरागी बन कर जीवन यापन कर सकता है, पर समाज वैसा नहीं कर सकता। संसार ऐसा बन नहीं सकता। यदि संसार ऐसा होता है तो वह फिर संसार नहीं, व्यक्ति होगा। आदमी अनगिन कष्टों को सहता हुआ भी जी रहा है। इसका मुख्य कारण है—मूर्च्छा। मूर्च्छा में हजारों कष्ट सहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

कभी-कभी लोग कहते हैं, साधु-संन्यासी बहुत कष्ट सहते हैं। मैं इससे उल्टा सोचता हूं। साधुओं के लिए कष्ट कम हैं। गृहस्थ के लिए कष्टों का अंबार-सा लगा हुआ है। वह मूर्च्छा से घिरा हुआ है, इसलिए उसे ये कष्ट कष्ट जैसे प्रतीत नहीं होते। मूर्च्छा एक आवरण है। ऐसा आवरण कि जिसमें सारे कष्ट ढक जाते हैं।

पति ने पत्नी को या पत्नी ने पति को तलाक दे दिया। पति चल बसा। पत्नी रह गई। पत्नी मर गई। पति रह गया। दोनों मर गए। छोटे-छोटे बच्चे रह गए। ये सारी कितनी कठिन परिस्थितियां हैं ? दिल दहलाने वाली स्थितियां हैं। इन स्थितियों में भी आदमी सुख मानकर जीता ही चला जा रहा है। एक छोटे बच्चे से भी पूछा जाए कि तुम्हारे माता-पिता मर गए। तुम असहाय हो। क्या साधु बनोगे ? तत्काल सिर हिला कर कहेगा, साधु तो नहीं बनूंगा। इसका कारण है मूर्च्छा। उसे लगता ही नहीं कि वह असहाय है। एक मूर्च्छा हजारों कष्टों को शांत कर देती है, उनका निवारण कर देती है। यदि ऐसा नहीं होता तो इस दुःखमय, कष्टमय और दारुण संसार में आदमी कभी जी नहीं पाता। उसको जीवित रखने वाली वस्तु है मूर्च्छा। यह सबको जिला रही है। सब प्राणी इसके बदौलत जी रहे हैं।

बड़ा भाई छोटे भाई को, पिता-पुत्र को तैयार करता है। आगे चलकर छोटा भाई बड़े भाई को दर-दर का भिखारी बना देता है, पुत्र-पिता को घर से निकाल देता है। ऐसी स्थितियां होती हैं। हम देखते हैं। पर बड़ा भाई छोटे भाई को तैयार करता है और पिता-पुत्र को योग्य बनाता है। इन

सबके पीछे मूर्च्छा काम करती है। इसलिए सामाजिक और पारिवारिक वातावरण को सजीव रखने के लिए मूर्च्छा की अनिवार्यता स्वीकार करनी होगी। सामाजिक व्यक्ति मूर्च्छा को सर्वथा छोड़ दें, यह असम्भव बात है। किन्तु मूर्च्छा के चक्र-व्यूह को तोड़ना जरूरी है। जब तक उसका चक्र-व्यूह चलता रहेगा, तब तक दुःखों का अन्त नहीं होगा। उसकी एक सीमा हो। वह अनन्त न बने, यह अपेक्षित है। मूर्च्छा केवल समाज को चलाने वाली कडी के रूप में स्वीकृत हो तो इतना अनर्थ नहीं होता। पर आज उसे अनन्त आकाश प्राप्त है। यह अहितकर है। ध्यान का पुष्ट परिणाम है मूर्च्छा के चक्र का टूटना।

मूर्च्छा की जन्मभूमि है शरीर। यहां सारी मूर्च्छाएं उत्पन्न होती हैं। शरीर-प्रेक्षा के प्रयोग में केवल शरीर को नहीं देखा जाता। शरीर को क्या देखना है? शरीर के कण-कण में जो मूर्च्छा का विष भरा पड़ा है, उसे देखना है, निकालना है। यही प्रयोजन है शरीर प्रेक्षा का।

आयुर्वेद और हठयोग के आचार्यों ने पांच प्राण माने हैं—प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान। ये पांच प्राणशक्तियां हैं, जीवनीशक्तियां हैं। प्राण का मुख्य केन्द्र है—नासाग्र। अपान का मुख्य केन्द्र है—नाभि के नीचे का स्थान, पेडु का स्थान। उदान का मुख्य केन्द्र है—होठ और कंठ। समान का मुख्य केन्द्र है—हृदय और नाभि। व्यान का स्थान है—पूरा शरीर। वह समूचे शरीर में व्याप्त है। वह पूरी चमड़ी में फैला हुआ है। बाहर का जितना आघात-प्रत्याघात होता है, वह सबसे पहले चमड़ी पर होता है। सर्दी, गर्मी आदि सभी त्वचा को चीर कर भीतर प्रवेश करती हैं। कांटा चुभता है तो पहले चमड़ी को बीन्धता है। समूची चमड़ी में व्यान प्राण व्याप्त है। वह बाहर से प्रभावित होती है, इसलिए बाहर के प्रभावों को ग्रहण कर लेती है। मूर्च्छा के संस्कार भी त्वचा में अधिक होते हैं। शरीर प्रेक्षा का अर्थ है कि इस चमड़ी को भेद कर, सारी परतों को चीर कर गहरे में चला जाना।

जब हम शरीर में व्याप्त व्यान प्राण को पकड़ेंगे, देखेंगे तब वह प्रभावित होगा और हमारी प्रतिरोधात्मक क्षमता विकसित होगी। यदि हम त्वचा के द्वारा, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा होने वाले प्रभावों पर नियन्त्रण करते हैं तो मूर्च्छा का पहला किला टूट जाता है।

मेडिकल सान्इस के अनुसार त्वचा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती है। वह शरीर की मुख्य घटक है। हमारी दृष्टि में त्वचागत जो व्यान प्राणशक्ति है वह बहुत मूल्यवान् है। उस पर निन्यत्रण होने से मूर्च्छाओं से छुटकारा पाया जा सकता है। व्यान प्राण पर अनेक प्रकार के

मैल जमे हुए हैं। जैसे ही हम इस प्राण पर एकाग्र होते हैं, वे मैल एक-एक कर धुलते चले जाते हैं।

शरीर-प्रेक्षा की बात बहुत साधारण-सी लगती है और इसका महत्त्व न जानने वाले तत्काल कह देते हैं, क्या देखना है शरीर को ? है क्या इसमें ? ये शब्द अनुत्साह पैदा करते हैं। हमारी आस्था टूटती है। प्रयोग सफल नहीं होता। सबसे पहला काम है कि हम आस्था बनाए रखें और जो प्रयोग करें, उन्हें निष्ठा और श्रद्धा के साथ संपादित करें। अन्यथा निरुत्साह का वातावरण पैदा करने वाले अनेक व्यक्ति सामने आ जायेंगे।

महाभारत के युद्ध में कर्ण ने चाहा कि शल्य उनका सारथी बने। व्यवस्था हो गई। कर्ण सारथी बन गया। कृष्ण ने सोचा, अब दुर्जय बन गया है। कर्ण स्वयं शक्तिशाली है और उसे वैसा ही शक्ति-संपन्न सारथी मिल गया। अब उसे कौन हरा सकेगा ? अर्जुन के लिए बड़ी समस्या खड़ी हो गई। कृष्ण ने सोचा। शल्य से कहा, तुम कर्ण के सारथी बने रहो, पर एक काम करना कि जब भी कर्ण बाण छोड़े तब उसे टोकते रहना। कहना कि क्या कर रहे हो ? बाण चलाना आता ही नहीं। यह कमी है, वह कमी है। देखो, अर्जुन कितना निपुण धनुर्धर है। कैसे बाण चलाता है। शल्य ने स्वीकृति दे दी।

युद्धस्थल में दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ हुआ और शल्य कर्ण के बाणों की कमियां बताने लगा। सुनते-सुनते निपुण धनुर्धर कर्ण निरुत्साहित हो गया, हीनभावना से ग्रस्त हो गया और उसकी अस्सी प्रतिशत शक्ति चुक गई।

ध्यान में निरुत्साह पैदा करने वाले अनेक शल्य हैं। वहां तो वह एक ही शल्य था, पर यहां अनेक हैं। पर साधक को आस्था बनाए रखनी है। आस्था तब बनती है जब भीतरी सम्पदा का ज्ञान हमें होता है। हमारी भीतरी सम्पदा है ज्ञान-शक्ति और आनन्द। इसका अवबोध होते ही बाह्य सम्पदा की मूर्च्छा कम होने लग जाती है। पर उस आन्तरिक सम्पदा का अवबोध नहीं है, इसीलिए बाह्य सम्पदा की मूर्च्छा सघन होती जा रही है। अध्यात्म साधना का पहला उद्देश्य है कि वह व्यक्ति को भीतरी सम्पदा का अवबोध कराए। ध्यान, कायोत्सर्ग आदि उसी के लिए हैं। हम निरन्तर बाहर की यात्रा करते हैं, परिक्रमा करते हैं, पर भीतर की यात्रा करके देखें तो सही कि वहां क्या है ? वहां वह सम्पदा है जो बाहर है ही नहीं। जब उस सम्पदा का मूल्यांकन होगा तब मूर्च्छा पर चोट होगी, बाह्य परिग्रह पर चोट होगी। जब तक भीतर प्रवेश नहीं होता, यथार्थ का ज्ञान नहीं होता।

सुकरात के पास एक बड़ा जमीदार आया। उसको अपनी जमीन-जायदाद पर गर्व था। बड़ी जमीन थी। वह उसमें अहं पैदा कर रही थी। उसने सुकरात के समक्ष अपने वैभव का बखान किया। कितनी बड़ी जमीन का

वह स्वामी है यह बताया। सुकरात सुनते रहे, हंसते रहे, हंसते रहे। जब वह मौन हुआ, तब सुकरात बोले—इस विश्व के नक्शे में हमारे देश की अवस्थिति कहां है? उसने बताई। सुकरात बोले—इतना छोटा देश! अच्छा हमारा नगर कहां है? 'यह रहा हमारा नगर।' अरे! यह तो एक बिन्दु के समान है सागर के समक्ष!' 'अच्छा, अब बताओ इस नगर में तुम्हारी जमीदारी का बिन्दु कितना बड़ा है? उसने कहा—दीखती ही नहीं।' सुकरात बोले—इतनी छोटी-सी जमीदारी का इतना बड़ा अहं! क्या यह पागलपन नहीं है?

जमीदार का नशा उतर गया। उसे यथार्थ का पता चल गया। यथार्थ का अवबोध होते ही मनोदशा बदल जाती है और तब व्यक्ति की दिशा परिवर्तित हो जाती है।

ध्यान एक साधन है यथार्थ के अवबोध का। हम ध्यान के प्रयोगों के द्वारा उन सचाइयों तक पहुंचना चाहते हैं जो हमारे भीतर छिपी पड़ी हैं। प्राणशक्ति एक सचाई है। वह हमारे जीवन का संचालन करती है। उस तक हमें पहले पहुंचना है। हमारे जीवन को चलाने वाला कौन है? क्या अन्न हमारे जीवन को चलाता है? क्या पानी हमारे जीवन को चलाता है? यदि अन्न और पानी हमारे जीवन के संचालक होते तो आज तक कोई नहीं मरता, सब अमर हो जाते। वास्तव में प्राणशक्ति जीवन की संचालिका है। वह है तब तक ही अन्न और पानी काम करते हैं, पोषण देते हैं। जब प्राण चला गया, फिर चाहे अन्न के ढेर पड़े हों या पानी का सागर लहरा रहा हो, उनका जीवन के लिए कोई प्रयोजन है ही नहीं। प्राण महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जब यह सचाई जान ली जाती है यथार्थ में तो अन्न और पानी के प्रति जो सघन मूर्च्छा है वह टूटने लगती है। शरीर की मूर्च्छा भी नहीं टिकती। शरीर से परे है प्राण। प्राण को पैदा करने वाली है चेतना। यह प्राण से आगे की सचाई है, अवबोध है।

इसलिए शरीर प्रेक्षा में न चमड़ी को, न मांसपेशियों को, न हड्डियों को और न रक्त को देखना है। हमें प्राण तक पहुंच कर उसके प्रकंपनों को पकड़ना है। यही है वास्तव में शरीर प्रेक्षा। फिर हम उससे आगे बढ़ें और चेतना के प्रकंपनों को पकड़ने लगें। यहां शरीर-प्रेक्षा की यात्रा संपन्न होगी। यह यात्रा दीर्घ-काल से संपन्न होने वाली है। यह मूर्च्छा को तोड़ने वाली है।

मूर्च्छा दो दिशाओं में चलती है। एक है व्यवहार की दिशा और दूसरी है वास्तविकता की दिशा। आदमी उलझन में पड़ जाता है। वह न व्यवहार को छोड़ सकता है और न वास्तविकता को छोड़ सकता है।

उद्रायण सिन्धु-सौवीर का राजा था। उसकी धारणा थी, जो राजा

होता है, वह नरक में जाता है। इसी धारणा के आधार पर उसने अपने पुत्र अभिजितकुमार का हितचिंतन कर, अपने भानजे केशी कुमार को अपना उत्तराधिकारी बनाकर स्वयं प्रव्रजित हो गया। उसने पुत्र की हितचिंता की, पर व्यवहार का अतिक्रमण हुआ। उसका यह अधिकार नहीं था कि वह पुत्र को अपने राज्याधिकार से वंचित रखता। केशी राजा बन गया। एक बार अभिजितकुमार के मन में यह विचार आया कि मेरे पिता उद्रायण ने मुझे राज्यभार न सौंप कर, मेरे साथ अन्याय किया है। इस मनोमानसिक दुःख से अभिभूत होकर अपने पिता उद्रायण के प्रति अत्यन्त रुष्ट हो गया। उसके मन में वैर भाव बढ़ता गया। आगे चलकर वह श्रमणोपासक भी बना। पर पिता से क्षमायाचना न करने और क्षमा न देने से वह मरकर नरक में गया।

ऐसा क्यों हुआ ? यह व्यवहार के अतिक्रमण का फलित है। व्यवहार की भी अपनी सचाइयां हैं और निश्चय या वास्तविकता की भी अपनी सचाइयां हैं। दोनों का अववोध अपेक्षित है। निश्चय की सचाई है कि जितनी मूर्च्छा उतना दुःख। पर व्यवहार की सचाई है कि मूर्च्छा को एकदम छोड़ा नहीं जा सकता। इस संस्कार-चक्र को एक ही प्रहार से तोड़ा नहीं जा सकता। आदमी दोनों समस्याओं से जूझ रहा है। एक ओर है निश्चय की समस्या और दूसरी ओर है व्यवहार की समस्या। एक है भीतर की समस्या और एक है वाहर की समस्या। कैसे सुलझाएं इन समस्याओं को ? मूर्च्छा सुलझाने नहीं देती।

दो वाधाएं हैं—आवरण और मूर्च्छा। आवरण ज्ञान को रोकता है। ज्ञान में वाधा उपस्थित करता है। पर जानते हुए भी हम सही निर्णय नहीं ले पाते, यह आवरण का काम नहीं है, यह है मूर्च्छा का काम। आवरण से भी अधिक खतरनाक है मूर्च्छा, मोह की सघनता। अंधा देख नहीं पाता, क्योंकि आंख नहीं है। पर आंख होते हुए भी जो देख नहीं पाता, देखता हुआ भी जो नहीं देखता, यह है मूर्च्छा।

मूर्च्छा पर चोट करना आवश्यक है। हम मूर्च्छा को कम करने की दिशा में चलें। यह वहुत लंबी यात्रा है। इस यात्रा में हम अतीत को देखें, वर्तमान को देखें और भविष्य के लंबे जीवन को भी देखें। ध्यान का हम सहारा लें। यह इस लंबे जीवन का पाथेय वनेगा, इस आस्था को दृढ़ करते चलें।

क्या ध्यान उपाय है दुःख मिटाने का ?

जिसका जितना मूल्य हो, उसे उतना मूल्य दिया जाए, यह यथार्थ दृष्टिकोण है, सबके हित में है। कम या अतिरिक्त मूल्य देना वांछनीय नहीं है। यह भ्रम पैदा करता है। हमें सोचना है, क्या हम ध्यान को अतिरिक्त मूल्य दे रहे हैं या कम मूल्य दे रहे हैं ?

ध्यान से सभी दुःख मिटते हैं, यह भी कहा गया है। क्या यह सही है ? क्या ध्यान से सारे दुःख समाप्त हो सकते हैं ? इस पर पुनर्विचार करना है, समीक्षा और मीमांसा करनी है।

दुःख अनेक हैं। उनके अनेक प्रकार हैं। मैंने उनको चार भागों में विभक्त किया है—१, कल्पनाजनित दुःख, २. अभावजनित दुःख, ३. वियोग-जनित दुःख, ४, परिस्थितिजनित दुःख। ये चार प्रकार के दुःख हैं।

१. कल्पनाजनित दुःख

मनुष्य अपनी कल्पनाओं से अनेक दुःखों की सृष्टि कर डालता है। वह दुःखों का ताना-बाना बुनता है और दुःख भोगता चला जाता है। ध्यान के द्वारा इसे समाप्त किया जा सकता है। ध्यान में कल्पना से हटकर निर्विकल्प स्थिति में प्रवेश पाना होता है। वहां कल्पना का संकुचन, संहरण होता है। यही निर्विकल्प स्थिति का अभ्यास है। वहां कल्पनाजनित दुःख स्वयं कम होने लगते हैं।

२. अभावजनित दुःख

कोई व्यक्ति अभाव में जी रहा है। उसके मकान और आजीविका का अभाव है। वह इस अभाव के कारण दुःख भोगता है। ध्यान इस अभाव को कैसे मिटा पाएगा ? यह समझ में नहीं आ सकता। ऐसा कोई तर्क मेरे सामने नहीं है, जिसके आधार पर मैं यह कह सकूं कि अभावजनित दुःख को मिटाने का साधन है ध्यान। किन्तु जब हम गहरे में उतर कर देखते हैं तब प्रकाशकिरण सामने आ उपस्थित होती है।

यूआनसीन बहुत बड़ा दार्शनिक जा। लू नगर में रहने वाला एक अमीर आदमी सीकुंग उससे मिलना चाहता था। वह अपनी बग्घी में बैठकर चला। आगे गली बहुत संकरी आ गई। बग्घी उसमें से नहीं जा सकती थी।

 वहां से पैदल चला। दार्शनिक की कुटिका में पहुंचा। यूआनसीन उस

अमीर का स्वागत करने सामने आया। फटा-सा कुर्ता, पत्तियों की टोपी और छोटा सा मकान। देखते ही वह अमीर बोला—'आप तो अभाव का जीवन जी रहे हैं। गरीब हैं। बहुत दुःखी हैं।' दार्शनिक ने गंभीर स्वर में कहा—'सीकुंग ! सोच-समझकर बोलो। गरीब अवश्य हूं पर दुःखी नहीं हूं। दुःखी वह होता है, जो अज्ञान में जीता है। मैं अज्ञान में नहीं जी रहा हूं।'

एक भेदरेखा स्पष्ट सामने आ गई कि दुःख अलग बात है और गरीबी अलग बात है। गरीब होने का अर्थ दुःखी होना नहीं है। दुःखी वह होता है जो अज्ञान का जीवन जीता है। अज्ञानी अपने आसपास अंधकार का जाल बिछा देता है। वह ऐसी मान्यताएं और धारणाएं बना लेता है कि पग-पग पर उसे दुःख भोगना पड़ता है। अनेक व्यक्ति अभावग्रस्त होते हुए भी सुख का जीवन जीते हैं और अनेक व्यक्ति भाव में जीते हुए भी दुःखी हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि दुःख अलग है और अभाव अलग है। अभाव से दुःख होता तो इस दुनिया में सबसे ज्यादा दुःखी होते साधु-संन्यासी। उनके पास अभाव ही अभाव है। उनका अपना कुछ भी नहीं है। न मकान, न कपड़ा और न रोटी। कुछ खोजा जाता है, कुछ मांगा जाता है और कुछ लाया जाता है। पास में कुछ भी नहीं। चारों ओर अभाव ही अभाव।

अभाव से नहीं अज्ञान से दुःख होता है। अभाव के कारण गरीबी हो सकती है, रिक्तता हो सकती है, कमी हो सकती है। किन्तु दुःख होना अनिवार्य नहीं है। अभाव के साथ दुःख की व्याप्ति नहीं है, नियम नहीं है। जहां-जहां अभाव होगा, वहां-वहां दुःख होगा—यह व्याप्ति नहीं बनती। जहां-जहां अभाव होगा, वहां-वहां गरीबी होगी—यह तर्कशास्त्रीय नियम बन सकता है। पर अभाव के साथ दुःख की व्याप्ति नहीं बनती। अभाव और अज्ञान—दोनों मिलकर दुःख पैदा करते हैं।

भारत में आकिंचन्य की परम्परा रही है। बड़े-बड़े सम्राट् संन्यासी बने हैं। उन्होंने सारी संपदा को ठुकरा कर अभाव का जीवन, संन्यासी का जीवन स्वीकार किया है। उस जीवन में उन्हें सबसे अधिक सुख और आनन्द का अनुभव हुआ है। यदि अभाव दुःख का कारण होता तो मुनि बनने, संन्यास ग्रहण करने की परम्परा ही गलत हो जाती। आकिंचन्य स्वीकार करने वालों ने आनन्द का जीवन न जीया हो, यह नहीं है। इस दृष्टि से ध्यान को अभावजनित दुःख को मिटाने वाला भी कहा जा सकता है। जब ध्यान जीवन में उतरता है तब अज्ञान मिटता है, यथार्थ का स्पष्ट भान होता है। जैसे ही यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि अभाव और दुःख का गठबन्धन नहीं है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं तो स्थिति बदल जाती है। फिर अभाव के होने पर भी दुःख नहीं होता।

५. वियोगजनित दुःख

यह संयोग और वियोग का संसार है। इस संसार में कोई जुड़ता है तो कोई बिछुड़ता है। दो व्यक्ति मिले, गाढ़ मैत्री और प्रेम हो गया। नया बच्चा पैदा हुआ। प्रगाढ़ स्नेह और सम्बन्ध जुड़ गया। प्रकृति का नियम है संयोग नैरन्तर्य नहीं होता। वह सदा बना रहे, ऐसा नहीं होता। उसके साथ वियोग जुड़ा रहता है। पति बैठा रहता है। पत्नी का वियोग हो जाता है। पत्नी बैठी रहती है। पति चला जाता है। यह संयोग-वियोग का चक्र निरंतर घूमता रहता है।

अभी शिविर में एक महिला आई है, जिसके पति का वियोग हुए चार वर्ष हुए हैं। उसने कहा—मैं पति के वियोगजनित दुःख को भुलाना चाहती हूं, पर भुला नहीं पा रही हूं। मन में कसक है, वेदना है, दुःख है। मैं वेदना के इस भार को सहती हुई कब तक जीऊंगी? क्या मेरे लिए मर जाना श्रेय नहीं है? वह कहती ही जा रही थी। मैंने देखा, दुःख स्वयं मूर्तिमान् बनकर उसके सामने उपस्थित है। बहिन की आँखों में आंसू और शरीर में प्रकंपन है। इतना गहरा दुःख! मैंने सोचा, क्या इस दुःख को मिटाने का कोई उपाय है? या तो पति को इसके पास फिर से उपस्थित कर दिया जाए, या फिर इसे उसके पास भेज दिया जाए। दोनों असंभव बातें हैं। अपने कर्तृत्व से परे की बातें हैं। इस स्थिति में कैसे मानें कि वियोगजनित दुःख को मिटाया जा सकता है? यदि न मानें तो भी समस्या है। प्रश्न होता है, क्या ध्यान के द्वारा इसे मिटाया जा सकता है? क्या ध्यान इतना भी नहीं कर सकता? इस समस्या-संकुल विचारणा में से प्रकाश की एक रश्मि मिली कि दुःख वियोग से उत्पन्न नहीं है, दुःख उत्पन्न हुआ है अपनी गलत मान्यताओं और धारणाओं के कारण। ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं बनाया कि जिससे दुःख को भुलाया जा सके।

रविमेहर की एक मार्मिक घटना है। वे एक बात पर बहुत बल देते और कहते—'देखो, जिस परमात्मा ने हमें यह जीवन दिया है, वह उसे वापस ले लेता है तो हमें दुःख क्यों होना चाहिए? उनके दो मासूम बच्चे थे। अत्यन्त सुन्दर और कमनीय। उनको मेहर बहुत प्यार करते थे। कुछ क्षणों तक नहीं देखते तो उदास हो जाते थे।

एक बार वे पढ़ाने के लिए पाठशाला गए हुए थे। गांव में महामारी फैली हुई थी। दोनों बच्चे महामारी के चपेट में आए और काल-कवलित हो गए। पत्नी घर पर थी। उसने देखा। दोनों को उठाया और अपने शयनकक्ष में ले जाकर, एक पलंग पर सुला, ऊपर से सफेद चादर ओढ़ा दी। घर को साफ-सुथरा कर, भोजन पकाया। काम पूरा कर दिया। इतने में पाठशाला से रविमेहर घर पहुंचे। पत्नी से पूछा—बच्चे कहां हैं? वह बोली

कहीं खेल रहे होंगे। कुछ समय बीता। रविमेहर ने फिर पूछा तो फिर वही उत्तर। कुछ समय और बीता। बच्चे नहीं आए। कहां से आते ? रविमेहर आशंका से घिर गए। पुनः पत्नी से पूछा। पत्नी उन्हें शयनकक्ष में ले गई। चादर उतार कर बोली—'ये रहे बच्चे।' 'अरे! ये शांत और निश्चेष्ट कैसे ?' पत्नी बोली—आप जो प्रतिदिन कहते आ रहे हैं, वही हुआ। जिसने इनमें प्राण-संचार किया था, उसी ने इनका प्राण-संहरण कर लिया। रविमेहर ने सुना। स्तब्ध रह गए। पर शान्त। कोई विशेष पीड़ा या क्लेश नहीं। 'जिसने जीवन दिया था, उसी ने ले लिया।' यह कहते-कहते दोनों शयनकक्ष से बाहर निकले और जो औपदैहिक क्रियाएं करनी थीं, वे कीं।

वियोग से दुःख होता है तो सबको होना चाहिए। रविमेहर दम्पति को वियोग तो सहना पड़ा, पर वे दुःखी नहीं हुए।

कुछ वर्ष पूर्व की घटना है। सुगनचन्दजी आंचलियां हमारे समाज के विशिष्ट कार्यकर्ता और अध्यात्म से ओतःप्रोत व्यक्ति थे। अकस्मात् वे काल-कवलित हो गए। उनकी धर्मपत्नी मनोहरी देवी भी अत्यन्त अध्यात्म परायण महिला थी। विरक्त और धर्मप्रवण। पति की मृत्यु की बात सुनकर वह अवाक् रह गई। अपने आपको संभाला। सामायिक और धर्म-जागरण करने बैठ गई।

यह असाधारण-सी स्थिति लग सकती है, पर असम्भव नहीं है। कुछ मूढ़ व्यक्तियों ने कहा—पति के प्रति स्नेह नहीं है, अन्यथा रोती-चिल्लाती। कुछ ने कहा—ढोंग है यह सारा। आपस में अनबन थी। सोचती है, अच्छा हुआ, पिंड छूटा। अनेक लोग, अनेक बातें। पर मनोहरी देवी पूर्ण जागरूक, स्वस्थ और धर्म-जागरिका में तल्लीन।

ये कल्पित घटनाएं नहीं, वास्तविक हैं। वियोग हुआ है, पर दुःख नहीं है। हम दोनों को अलग-अलग करें, वियोग हो सकता है, दुःख नहीं होता। वियोग का निश्चित परिणाम नहीं है दुःख होना। वियोग होना एक बात है और दुःख होना दूसरी बात है। वियोग होने पर हमारी जो गलत मान्यताएं उभरती हैं, वे हमें दुःखी करती हैं। अभाव में भी ये गलत धारणाएं ही दुःख को उत्तेजित करती हैं। यदि ये मिथ्या मान्यताएं न हों तो अभाव हो सकता है, वियोग हो सकता है, दुःख नहीं हो सकता। दुःख होना अनिवार्य नहीं है। यह सचाई जब ज्ञात हो जाती है तब यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ध्यान दुःख को मिटाने का उपाय है। उसके द्वारा कल्पनाजनित, अभावजनित और वियोगजनित दुःख मिटाया जा सकता है।

अनेक लोग प्राणों के वियोग से घबराते हैं। वे मौत का नाम सुनते ही कांप उठते हैं। यह दुःख सबसे बड़ा दुःख है। इसमें दूसरे के वियोग का

प्रश्न नहीं है। प्रश्न है अपने ही प्राणों के वियोग का। वह प्राणों को निरन्तर बनाए रखना चाहता है। वह सोचता है, जो प्राणों का संयोग हुआ है, वह बना रहे। वह प्रतिपल जागरूक रहता है, सावधान रहता है कि कहीं वियोग हो न जाए। ऐसे लोग निरन्तर दुःख भोगते हैं।

जिनमें यथार्थ का अवबोध है, उनमें मौत का भय भी समाप्त हो जाता है। वे दुःखमुक्त हो जाते हैं। जैन परम्परा में आराधना का सूत्रपात हुआ। जिसने इस विधि को अपनाया, उसका दुःखभार हल्का हो गया। जैन आचार्यों ने ग्रन्थ का निर्माण किया और उसका नाम रखा, 'मृत्यु-महोत्सव'। मृत्यु भी एक महोत्सव है, यह धारणा बनी आराधना की विधि से। अरे, मरने से डरते क्यों हो? यह तो एक महोत्सव है। कब-कब मौका मिलता है? जीने का मौका तो वर्षों तक मिला, पर मरने का मौका तो एक ही बार प्राप्त होगा। केवल एक बार। जीने का काल कितना लंबा है! और मरने का काल केवल एक क्षण। कितना छोटा कालमान! इससे छोटा कुछ और होता नहीं। दोनों की तुलना करें। अस्सी वर्ष तक जीए। अस्सी बसन्त पार किए। पर मरने में तो दूसरा बसन्त आता ही नहीं। दो बार कोई मरता नहीं। यदि मरने का समय भी इतना ही दीर्घ होता तो एक बड़ी बात होती। पर वह बहुत लघु है। इतने लम्बे समय तक जीने वाला भी यदि एक क्षण भर मरने से घबराए, बड़ी विचित्र बात है।

आराधना के द्वारा मानसिकता बदलती है, चैतसिक अवस्था बदलती है और तब मृत्यु का दुःख नहीं होता, प्रत्युत् मृत्यु के स्वागत की तैयारियां होने लगती हैं।

जैन परम्परा में अनशन या संथारे की मान्यता प्रचलित है। यह मरने की तैयारी का उपक्रम है। इसके लिए बारह वर्षों का कालमान उल्लिखित है। जीने की तैयारी सब सिखाते हैं, पर जैन परम्परा की यह संलेखना-विधि मृत्यु की कला सिखाती है। मरना भी एक कला है, जीने से भी मूल्यवान् कला। जब व्यक्ति को यह अनुभव होने लगे कि शरीर एक अवस्था को पार कर गया है, इन्द्रियां शिथिल हो चुकी हैं। अब जीवन परायत्त हो रहा है, तब व्यक्ति मरने की पृष्ठभूमि बनाने लग जाए। तपस्या करे, स्वाध्याय-ध्यान में तथा धर्म-जागरिका में अधिक से अधिक समय लगाए। सांसारिक क्रियाकलापों से स्वयं को हटाए और अध्यात्म में तन्मय हो जाए। जब यह पृष्ठभूमि तैयार हो जाए तब वह अनशन कर समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करे। यह आराधना और संलेखना या अनशन की पद्धति वियोग में होने वाले दुःख के निवारण की पद्धति है। प्राणों का वियोग हो सकता है, पर दुःख नहीं हो सकता। न दूसरों के प्राणों के वियोग से दुःख होगा और न स्वयं के प्राणों के वियोग से दुःख होगा। दुःख की उत्पत्ति का सारा आधार ही

बदल जाता है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं, ध्यान से कल्पनाजनित दुःख मिट सकता है, पर अभावजनित दुःख कैसे मिटेगा ? रोटी का अभाव है। भूख लगी है। ध्यान से भूख नहीं मिटेगी। रोटी खाने से ही भूख मिट सकेगी। हम पुनः इस भ्रान्ति का निरसन करें कि अभाव दुःख पैदा नहीं करता। दुःख उत्पन्न होता है मिथ्या मान्यताओं से। कल्पना, वियोग या अभाव उसी व्यक्ति पर आक्रमण करते हैं, दुःखी बनाते हैं, जो मिथ्या दृष्टिकोण को पालता है। जिस व्यक्ति ने अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया है, उसे वियोग में दुःख नहीं होगा। 'सर्वं अनित्यं'—यह इसका सूत्र है। 'संयोगा विप्रयोगान्ताः'—संयोग है वहां वियोग है—यह तथ्य जब पूर्णतः हृदयंगम हो जाता है तब वियोग दुःखदायी नहीं बनता।

४. परिस्थितिजनित दुःख

प्रतिकूल परिस्थिति में आदमी दुःखी हो जाता है। यह स्वाभाविक बात है। आदमी अनुकूलता चाहता है। कोई भी प्राणी प्रतिकूलता नहीं चाहता। क्या प्रतिकूलता और दुःख—दोनों पर्यायवाची हैं ? क्या दोनों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि जहां प्रतिकूलता होगी वहां दुःख होगा ही ? यह सचाई नहीं है। प्रतिकूलता हो सकती है, पर दुःख होना अनिवार्य नहीं है।

अनुकूलता और प्रतिकूलता—ये दोनों हमारी मान्यता पर निर्भर है। हमने एक स्थिति को अनुकूल और दूसरी को प्रतिकूल मान लिया और प्रतिकूल के साथ दुःख के संवेदन को जोड़ दिया। यदि यह धारणा बदलती है तो प्रतिकूल परिस्थिति में भी आदमी सुखी रह सकता है।

ध्यान की दो निष्पत्तियां हैं—दृष्टिकोण बदलता है, अज्ञान मिटता है। सभी दुःख मिथ्या दृष्टिकोण और अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। दोनों के बदल जाने पर दुःख नहीं होता।

घटना होती है पर दुःख नहीं होता। घटना और दुःख—इन दोनों के बीच में सेतु है मिथ्यादृष्टिकोण और अज्ञान। ये बदलते हैं तो घटना दुःख नहीं देती। पर प्रश्न है, क्या ऐसा सम्भव है ? इस संभावना पर जब हम विचार करते हैं, तब हमें ध्यान के एक विशेष प्रयोग—अन्तर्यात्रा पर केन्द्रित होना पड़ता है। अन्तर्यात्रा का प्रयोग इस दुःख की स्थिति को बदल देता है। दुःख का एक मुख्य हेतु है—बहिर्मुखता। दुःख चाहे किसी भी प्रकार का हो, उसमें यह हेतु होता है।

दो स्थितियां हैं। एक है अन्तर्मुखता की स्थिति और दूसरी है बहिर्मुखता की स्थिति। बहिर्मुखता में दुःख पैदा होता है, क्योंकि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं होता। बहिर्मुखता अयथार्थता है। इसमें दुःख अवश्यं-

भावी है। अन्तर्मुखता में दुःख का संवेदन नहीं होता। कल्पना, अभाव, वियोग और प्रतिकूलता—इन सबकी स्थितियों में अन्तर्मुखी व्यक्ति में दुःख होना असम्भव बन जाता है। दुःख होता ही नहीं। अन्तर्यात्रा बहुर्मुखी व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाती है। अन्तर्यात्रा के दो छोर हैं। एक है ज्ञानकेन्द्र और दूसरा है शक्तिकेन्द्र। मेरुदण्ड का निचला सिरा और मेरुदण्ड का ऊपर का सिरा। इन दोनों के बीच अन्तर्यात्रा चलती है। इन दोनों के बीच जो कुछ है, वह रहस्यपूर्ण है। उत्तरीध्रुव है हमारे मस्तिष्क का ज्ञानकेन्द्र और दक्षिणी ध्रुव है मेरुदण्ड का निचला शिरा शक्तिकेन्द्र। दक्षिण ध्रुव का प्राण-प्रवाह जब उत्तरी ध्रुव तक जाता है, शक्तिकेन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक जाता है तब व्यक्ति अन्तर्मुखी बनने की ओर अग्रसर होता है। इस स्थिति में सारा दृष्टिकोण बदलता है, धारणा और मान्यता बदलती है। प्राण या विद्युत् का ऊर्ध्वारोहण अन्तर्मुखता लाता है, भीतर का द्वार खुलता है और तब दुःख-संवेदन की स्थिति समाप्त-सी हो जाती है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जाता है कि अन्तर्मुखी अवस्था में चारों प्रकार के दुःख—कल्पनाजनित, अभावजनित, वियोगजनित और परिस्थितिजनित—नष्ट हो जाते हैं। उनका संवेदन रुक जाता है, मिट जाता है। मानसिकता बदल जाती है। दुःख का होना या न होना घटना से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना हमारे दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। दृष्टिकोण के बदलने पर सब कुछ बदल जाता है।

गुरु बैठे थे। पास में एक शिष्य था। एक अजनबी व्यक्ति आया और गालियां बकने लगा। वह बहुत देर तक गालियां देता रहा, अंटसंट बोलता रहा। इतने समय तक शिष्य शांत था, पर उसका आवेग बढ़ा और वह भी गालियां देने लगा। गाली के प्रति गाली चल पड़ी। इतने में ही गुरु उठकर जाने लगे। शिष्य बोला—यह क्या? इतनी देर तो आप उस व्यक्ति की गालियां सुनते रहे। मैं जब उसका प्रतिरोध करने लगा तो आप उठकर जाने लगे। गुरु बोले—इतने समय तक मैं एक दिव्य आत्मा के साथ बैठा था। सामने चांडाल था, पर मेरे निकट दिव्य आत्मा थी। पर अब जब दोनों चांडाल हो गए तो मेरा यहां बैठना उचित नहीं है।

दृष्टिकोण बदलता है, यथार्थ का भान होता है तब देवता पुरुष भी चांडाल लगने लगता है। यह सारा दृष्टिकोण का चमत्कार है। दृष्टिकोण बदलता है तो जगत् बदल जाता है, दुःख सुख में बदल जाता है। दुःख से छुटकारा पाने का पहला चरण है सम्यग् दर्शन।

६

सोया मन जग जाए

रात बीतती है। सूरज उगने को होता है और आदमी जाग जाता है। सोने के बाद जागना, यह निश्चित क्रम है। कोई भी आदमी २४ घण्टा तक नहीं सोता। जो २४ घण्टा सोया रहता है, वह मूच्छित माना जाता है। शरीर लम्बे समय तक सोया नहीं रह सकता। चेतना लम्बे समय तक सोयी रहती है। वह मूर्च्छा में रहती है। ध्यान का प्रयोजन है—मन जागे, चेतना जागे। जागना विकास है, सोना ह्रास है।

खलील जिब्रान ने अपने आपसे पूछा—सभ्यता का जन्म कब हुआ? उत्तर मिला, जिस दिन आदमी ने बीज बोया उसी दिन सभ्यता का जन्म हुआ। धर्म या कर्त्तव्य का जन्म कब हुआ? जिस दिन बीज पर मेह बरसा कर्त्तव्य का जन्म हुआ। कला का जन्म कब हुआ? जिस दिन बीज फला, सौन्दर्य देखा, उसी दिन कला का जन्म हुआ। दर्शन का जन्म कब हुआ? जिस दिन मनुष्य ने अपने बोए हुए बीज को अधिक मात्रा में खाया, अजीर्ण हो गया और मिटाने के लिए दिमागी कसरत की, तब दर्शन का जन्म हुआ।

बेचारा शरीर भारवाही है। बहुत भार ढोता है। वह तीन प्रकार के भार ढोता है। एक है चित्त या भावधारा का भार, दूसरा है इच्छा का भार और तीसरा है मन का भार। अकेला शरीर इन तीनों का भार ढोता है। शरीर नहीं चाहता कि अधिक मात्रा में खाया जाए। इच्छा नहीं चाहती कि कम खाया जाए। यह इच्छा और शरीर का संघर्ष सोए मन का लक्षण है।

मन कब सोया हुआ है? इसका लक्षण क्या है? जब इच्छा और शरीर का संघर्ष चलता है तब प्रतीत होता है कि चेतना सोई हुई है, मन सोया हुआ है।

भार ढोते-ढोते बेचारा शरीर क्लांत हो जाता है। असमय में बूढ़ा हो जाता है। उसकी शक्तियां क्षीण हो जाती हैं। उसकी स्मृति सठिया जाती है, कुण्ठित हो जाती है। बुद्धि मन्द हो जाती है। एकाग्रता नहीं सधती।

शरीर में बुद्धि की शक्ति है, स्मृति और एकाग्रता की शक्ति है। अतीन्द्रिय चेतना की शक्ति भी इसमें है। इन सारी शक्तियों का उपयोग

इसलिए नहीं होता कि इच्छाशक्ति ने शरीर को जर्जर बना डाला है। मन की शक्ति ने शरीर को बूढ़ा बना दिया है। यह बूढ़ा बैल आखिर कितना भार ढोएगा ? कैसे स्मृति की निर्मलता और बुद्धि की विशिष्टता रहे ? कैसे अतीन्द्रिय चेतना जागे ? कैसे परमार्थ की भावना बढ़े ?

पुरुषोत्तमदास टंडन पंजाब नेशनल बैंक के प्रान्तीय मैनेजर थे। जब लाला लाजपतराय का देहावसान हो गया, तब 'लोकसेवा संस्थान' के लिए ऐसे व्यक्ति की जरूरत हुई जो कम वेतन में काम कर सके। टंडनजी को ज्ञात हुआ। वे बैंक की नौकरी छोड़, इस काम में लग गए। उन्होंने बड़ी आय को ठोकर मार दी। गांधी ने पूछा—आय कम हो गई। क्या जरूरतें पूरी हो जाती हैं ? टंडनजी ने कहा—इच्छायें कम हो गईं। जरूरतें भी कम कर दीं। सब ठीक चल जाता है।

इतिहास में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिला, जिसकी सारी इच्छाएं पूरी हुई हों। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसकी जरूरतें पूरी न होती हों। ये दोनों सचाइयां हैं। बेचारे शरीर और मन को इच्छा का कितना भार ढोना पड़ता है, उसे सचाई का साक्षात्कार ही नहीं होता।

चीन का सम्राट् कन्फ्यूशियस के पास आकर बोला—मैं महान् आत्मा का साक्षात्कार करना चाहता हूं।

कन्फ्यूशियस बोले—सम्राट् ! तुम्हारी इतनी पूजा होती है। अपार वैभव है तुम्हारे पास। तुमसे महान् और कौन होगा ? तुम स्वयं को देख लो, हो जाएगा महान् आत्मा से साक्षात्कार।

सम्राट् ने कहा—'मुझे सन्तोष नहीं हुआ। यदि यही होता तो मैं आपके पास आता ही क्यों ? कृपा करें। महान् आत्मा का साक्षात् कराएं।'

कन्फ्यूशियस—'अच्छा, मुझे देख लो। साक्षात्कार कर लो।'

सम्राट्—'इसमें भी मुझे सन्तोष नहीं है। आपके पास अपार वैभव है। आपका लौकिक वैभव छूटा है, पर आत्मिक सम्पदा बढ़ी है। हजारों-लाखों लोग आपके पीछे घूमते हैं। आपका ठाटबाट सम्राट् के ठाटबाट से कम नहीं है।

सन्त कन्फ्यूशियस ने सुना। वे सम्राट् को लेकर एक झोंपड़ी के पास आए। भीतर एक बुढ़िया बैठी थी। कन्फ्यूशियस ने पूछा—मां ! तुम आज भी वृक्ष लगाने का श्रम कर रही हो। क्यों ? अब तो मृत्यु निकट है, फिर क्या तुम इन वृक्षों के फल खा पाओगी, जो इतना श्रम कर रही हो ?'

बुढ़िया बोली—'इतनी बात भी नहीं जानते ! मैं मर जाऊंगी, पर समूची दुनिया तो नहीं मरेगी। वह तो जीवित रहेगी। मैं अपने लिए ही नहीं सोचती। मैं सोचती हूं कि भावी पीढी का कल्याण हो।'

सम्राट् ने मन ही मन सोचा, वह महान् आत्मा है जो अपनी इच्छा से संचालित नहीं होता, जो अपनी इच्छा पर नियन्त्रण रखता है, हित की बात को सोचता है, भावी पीढी के कल्याण की बात सोचता है ।

सम्राट् ने सन्तप्रवर से कहा—महात्मा ! मुझे सन्तोष है । मैंने महान् आत्मा का साक्षात् कर लिया है ।

जब इच्छा और मन की चंचलता जीवन का संचालन करती है, तब महानता प्रगट नहीं हो पाती । उन्हीं व्यक्तियों में महानता प्रगट हुई है जिनके जीवन की लगाम इच्छा के हाथ में नहीं थी, मन की चंचलता से जीवन संचालित नहीं था । जब सुप्त चेतना जागती है तब इच्छा और मन पर नियन्त्रण होता है ।, या यों कहें, जब इच्छा और मन पर अनुशासन होता है, तब सुप्त चेतना जागती है। हमारी चेतना शरीर में बन्दी बनी हुई है । मनोवैज्ञानिकों ने कहा, सचेतन मन को शांत करो और अचेतन मन को जागृत करो, शक्तियां बढ़ेंगी । जब इस तथ्य पर दार्शनिक दृष्टि से सोचते हैं तो प्रतीत होता है कि यह सही तो है, पर है अपूर्ण । इसमें कुछ परिष्कार अपेक्षित है । अचेतन मन के जागरण की बात कही गई तो क्या अचेतन मन में भद्दापन, कुरूपता, हिंसा और घृणा नहीं है ? सारे आवेश और आवेग का अड्डा है यह । बेचारे सचेतन मन के पास ये आते कहां से हैं ? ये सारे बुरे भाव अचेतन मन से ही तो सचेतन मन में संक्रान्त होते हैं । हमें अचेतन मन को दो भागों में बांटना होगा । एक वह अचेतन मन जिसका रूप भद्दा है और वह अचेतन मन जो सुन्दर है, सरस और मधुर है। एक है कृष्णपक्ष और एक है शुक्लपक्ष । हम अचेतन मन के शुक्लपक्ष वाले भाग को जगाएं और कृष्णपक्ष वाले भाग को सोया रहने दें । केवल अचेतन मन को जगाने से काम नहीं होगा । अचेतन मन के उस भाग को जगाएं, जहां अच्छाइयां हैं । सैद्धान्तिक भाषा में कहें तो उस धारा को जगाना है जो क्षायोपशमिक भाव है । उस धारा को शांत रहने देना है जो औदयिक भाव है । इसलिए केवल सचेतन मन को ही नहीं, अचेतन मन के कृष्णपक्ष वाले भाग को भी शांत करना है ।

हमें प्रेक्षा ध्यान की साधना में केवल जगाना ही नहीं है, किसी को जगाना है तो किसी को सुलाना है । एक को जगाना है तो एक को सुलाना है । सचेतन मन और अचेतन मन के कृष्णपक्ष को सुलाना है और उसके शुक्लपक्ष को जगाना है । इसका उपाय है—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा ।

शरीर के दो भाग हैं—नाभि से नीचे का भाग और नाभि से ऊपर का भाग । नीचे का भाग कृष्णपक्ष है और ऊपर का भाग शुक्लपक्ष ।

जब दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तो अचेतन मन का

शुक्लपक्ष जागृत होता है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो पिनियल और पिच्यूटरी ग्रन्थियों के स्राव एड्रीनलीन को प्रभावित करते हैं। इन सबका प्रभाव हाइपोथेलेमस को उत्तेजित करता है। यह हमारा भावधारा का मुख्य केन्द्र है। यह हमारा हृदय है। हृदय की पवित्रता मस्तिष्क में होती है। हमारा यह हृदय जीवन यात्रा का संवाहक है। भावना का केन्द्र जो हृदय है, वह फुप्फुस के पास नहीं है। वह हमारे मस्तिष्क में है। यह हृदय ब्रेन का एक भाग है। जब यह हृदय जागृत होता है, सक्रिय होता है तब अचेतन का शुक्लपक्ष उजागर होता है, जीवन की कल्पना और धारणा रूपान्तरित हो जाती है। जितने महापुरुष, उदारचेता और विशाल हृदय वाले व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने सचाइयों का साक्षात्कार किया है, ये वे ही लोग हुए हैं जिनके अचेतन मन का शुक्लपक्ष वाला भाग जाग गया।

'इच्छा आकाश के समान अनन्त है'—यह मैं भी जानता हूं और आप भी जानते हैं। सब जानते हैं कि इच्छा पूर्ण नहीं होती, अपूर्ण बनी की बनी रहती है। पर सचाई का साक्षात्कार करने वाले विरल व्यक्ति ही मिलेंगे। साक्षात्कार वही व्यक्ति कर पाता है जिसका शुक्लपक्ष जाग गया है।

कपिल दो मासे सोने के लिए राजा के पास गया। राजा ने कहा—मांगो। अब इच्छा को खेलने के लिए अनन्त आकाश मिल गया। इच्छा बढ़ती गई और पूरे राज्य को पा लेने और राजा को रंक बनाने की बात सोचकर ही शांत हुई। मोड़ आया। सचाई का भान हुआ। शुक्लपक्ष जाग गया। राजा ने कहा—मांगो। कपिल बोला—क्या मांगूं? कुछ है ही नहीं इस संसार में। अब मैं जा रहा हूं, उस देश में जहां मांग नहीं है, चाह नहीं है। कपिल संन्यासी बन गया।

सचाई का साक्षात्कार होते ही मांग पूरी हो जाती है, चाह समाप्त हो जाती है। जब तक सचाई का अवबोध नहीं होता तब तक मांग कभी पूरी होती ही नहीं, चाह मिटती ही नहीं।

सिद्धपुरुष ने अपने भक्त से कहा—प्रसन्न हूं। कुछ मांगो। भक्त बोला—कुछ नहीं चाहिए। सिद्धपुरुष ने देखा, यह कैसा भक्त! अमूल्य क्षण को खो रहा है। मांगने के लिए आग्रह किया। भक्त बोला—यदि आप देना ही चाहते हैं तो यह वरदान दें कि मेरे मन में चाह उत्पन्न ही न हो, मांग रहे ही नहीं।

यह तब सम्भव है जब सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। अन्यथा लोग मांग को पूरी करने के चक्कर में कितने देवी-देवताओं की मनौतियां मनाते हैं, पूजा-अर्चना करते हैं। वे कहां-कहां नहीं भटकते। फिर भी एक के बाद दूसरी मांग बनी की बनी रहती है। इच्छा पर अंकुश नहीं रहता। इच्छा असीम। वह पराक्रम के द्वारा पूरी नहीं होती, तब देवताओं की शरण

ली जाती है। कोई भी व्यक्ति देवताओं की मनौती उनके गुणों के कारण नहीं मनाता। उसके दिव्य गुणों के प्रति कोई आस्था भी नहीं है। मुझे दिव्य बनना है, देवता सदृश बनना है, इस भावना से कोई देवता के पास नहीं जाता, किन्तु स्वार्थ से प्रेरित होकर अपनी निरंकुश इच्छा को पूरी करने के लिए वहां जाता है, उनकी शरण लेता है। बेचारे देवता भी क्या करेंगे ? किस-किस की इच्छा पूरी करेंगे ? कितनों को सम्भालेंगे ?

आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आदमी ने आदमी पर भरोसा करना छोड़ दिया, श्रम और पुरुषार्थ पर भरोसा करना छोड़ दिया और पूरा विश्वास देवताओं के चरणों में समर्पित कर डाला। देवताओं के सामने भी समस्या है कि किस-किस की मांग पूरी करे ? कहां से करे ? कितनी करे ? यदि आदमी ने इच्छा पर नियन्त्रण करना नहीं सीखा तो वह दिन दूर नहीं है जब देवता भी मनुष्य को ठुकरा देंगे। सम्भव है मन्दिर के सारे द्वार ही बन्द हो जाएं। वे केवल उनके लिए ही खुले रह सकें, जो मन्दिर में इच्छा-पूर्ति के लिए नहीं, आराधना और सद्भावना से आते हैं। कोई भी व्यक्ति देवता के पास इसलिए नहीं जाता कि उसका सोया मन जग जाए, चेतना जागृत हो जाए, दिव्यगुणों की प्राप्ति हो।

जब तक सोए मन को जगाने की बात प्राप्त नहीं होगी, तब तक किसे धर्म मानें ? किसे धार्मिक मानें ? किसे धर्मगुरु और अध्यात्मचेता मानें ? किसे धर्म का देवता मानें ? इन प्रश्नों का हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। आज लोग साधु-संन्यासियों के पास भी इच्छा-प्रेरित भावना को लेकर आते हैं, इच्छापूर्ति के लिए आते हैं। यह साधुओं के पास आने का धुंधला अर्थ है। यहां आना चाहिए सचाई के साक्षात्कार के लिए जिससे कि इच्छा कम हो, चाह मिटे और सोया मन जग जाए।

एक साधारण व्यक्ति। गरीब। पर आत्मा अत्यन्त जागृत। इकलौता बेटा। दुर्घटना में दोनों पैर गंवा बैठा। अपंग हो गया। पास-पड़ौस वाले संवेदना प्रगट करने आए। वह मुस्करा रहा था। वे बोले—इतना बड़ा आघात और तुम मुस्करा रहे हो ? आजीविका का एक मात्र माध्यम अपंग हो गया, तुम्हें कोई पीड़ा नहीं है ? क्या यह मुस्कराने का क्षण है ? ऐसे मर्मान्तक क्षणों में भी मुस्कराते रहने का रहस्य क्या है ?

वह बोला—'मेरी मुस्कराहट क्यों गायब हो ? मैं क्यों दुःखी बनूं ? मैंने दो सूत्र आत्मसात् कर रखे हैं। पहला सूत्र है—धन और सम्पदा चंचल है। दूसरा है—जीवन क्षणभंगुर है। सारे पदार्थ चंचल और क्षणभंगुर हैं। केवल मेरी मुस्कराहट ही निश्चल है, कायम रह सकती है।'

ऐसा उत्तर वही व्यक्ति दे सकता है जिसे सत्य का भान हो गया है।

यह तभी सम्भव है जब सोया मन जग जाता है ।

इस अन्तश्चेतना को जगाने के लिए चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा अत्यन्त आवश्यक है । जब दर्शनकेन्द्र और आनन्दकेन्द्र जाग जाते हैं तब सारी भावधारा बदल जाती है । देखने का कोण बदल जाता है । सत्य के साक्षात्कार का यह अर्थ नहीं है कि दूर की वस्तुएं देखी जा सकें, दूर के शब्द सुने जा सकें या दूर की घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण हो सके । ये सब आज वैज्ञानिक उपकरणों से हो ही रहे हैं । यन्त्रों के द्वारा और-और चामत्कारिक कार्य किए जा रहे हैं । किन्तु साक्षात्कार का अर्थ है—सुप्त चेतना का जागना । यह यन्त्रों से नहीं होता । यह होता है केन्द्रों पर ध्यान करने से । सुप्त मन के जागने का पहला लक्षण है इच्छा का कम होना और दूसरा लक्षण है भय की चंचलता का कम होना । यही है सत्य का साक्षात्कार ।

जब मन जाग जाता है तब व्यक्ति बदल जाता है । चिन्तन बदल जाता है और घटनाओं को ग्रहण करने का कोण बदल जाता है ।

एक बच्चा सड़क पर खेल रहा था । एक कार आई । बच्चा कार की चपेट में आया और मर गया । वह अपने पिता का इकलौता बेटा था । पुलिस ने ड्राइवर को हिरासत में लिया । केस चला । बच्चे के पिता को गवाही देनी थी । उसने सोचा, मेरा बच्चा मर गया । अब वह पुनः जीवित नहीं होगा । यदि मैं ड्राइवर की भूल बताऊंगा तो इस बेचारे को सजा होगी । इसके बच्चे हैं । वे अनाथ हो जाएंगे । मैं उनको अनाथ क्यों करूं ? इस विधायक चिन्तन से प्रेरित होकर वह कोर्ट में गया । न्यायाधीश के सामने कहा—मेरे बच्चे की भूल थी । वह बिना देखे सड़क पार कर रहा था । कार की चपेट में आया और मर गया । ड्राइवर की कोई भूल नहीं है । केस खारिज हो गया ।

क्या हर आदमी ऐसा आचरण कर सकता है ? नहीं । प्रत्येक व्यक्ति प्रतिशोध की आग में जल रहा है । कहां से आएगा उसमें ऐसा चिन्तन ?

हम ध्यान के माध्यम से सत्य का अवबोध प्राप्त करें, मन को जगाएं और महान आत्मा बनने या देखने का स्वप्न पूरा करें ।

७

दृष्टि बदलें : सृष्टि बदलेगी

आंख साफ है तो दुनिया साफ है। आंख में धुंधलापन है तो सारी दुनिया धुंधली हो जाती है। तर्कशास्त्र में 'द्विचन्द्रबोध' की बात आती है। चांद है तो एक, किंतु आंख की कमी के कारण वह दो दिखाई देता है। पीलिये के रोगी को सारी सृष्टि पीली-पीली दिखाई देती है। दृष्टि पर ही दृष्टि का बोध निर्भर है और साथ-साथ सृष्टि का निर्माण भी बहुत कुछ उस पर ही निर्भर है। जीवन-निर्माण में सबसे बड़ी बाधा है दृष्टिकोण का विपर्यय। जीवन-निर्माण का सबसे बड़ा रहस्य-सूत्र है दृष्टिकोण का निर्माण। प्रसिद्ध कहावत है—'यादृक् दृष्टि : तादृक् सृष्टिः'—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

पहले हम दृष्टि को बदलने की बात करें। सृष्टि को बदलने की बात पहले न करें। यदि दृष्टि बदलती है तो प्रयोजन पूरा हो जाता है। सृष्टि अपने आप बदल जाती है। उसके लिए इतनी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। सबसे जटिल प्रश्न है दृष्टि को बदलना। यदि ध्यान के द्वारा दृष्टि बदल जाती है तो बहुत कुछ हो सकता है। मेरा विश्वास प्रतिदिन गहरा होता जा रहा है कि जिसने सचाइयों का साक्षात्कार कर लिया है, उसकी दुनिया बदल जाती है। जिसने सचाई का साक्षात्कार नहीं किया, वह हजार बार दुहाई देगा, पर बदलेगा नहीं। सबसे बड़ा प्रश्न है—सत्य का साक्षात्कार। दृष्टि बदने का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार होगा।

दृष्टि बदलने का पहला सूत्र है—अपने आपको देखना। बहुत लोग अपने आपको नहीं देखते। वे सब कुछ देखते हैं, केवल अपने को छोड़कर। यह बहुत विकट समस्या है। ऊंट के सवारों की गिनती हो रही थी, बीस चले थे, उन्नीस को गिन लिया पर अपने आपको नहीं गिना। यह भूल केवल वह ऊंट का सवार ही नहीं करता, हर आदमी करता है। वह अपने आपको छोड़कर और सबको गिनता है। उसमें अपने आपको शामिल नहीं करता। हर आदमी सोचता है कि जो जन्म लेता है, वह मरता है। मरते हुए को वह देखता भी है। पर, अपने आपके बारे में विश्वास नहीं होता है कि मैं मरूंगा। अपने आपको अलग कर देता है। यदि मृत्यु की सचाई को कोई देख लेता तो शायद बहुत सारे गलत काम नहीं करता। किंतु मृत्यु को जानता है, यानी मानता है, पर उस सचाई का अनुभव नहीं

करता, साक्षात्कार नहीं करता। इसलिए वह अनेक बुराइयां कर लेता है।

आदमी अपने आपको इतना शुद्ध और निखालिस मानता है कि उतना शायद दूसरे को कभी नहीं मानता। एक भोले से भोला आदमी भी अपने आपको पूर्ण मानता है। मैंने एक आदमी को देखा, जिसका ज्ञान यदि देखें तो हंसी आ जाए। किसी ने पूछा, एक घंटाघर की घड़ी है और एक हाथ की घड़ी है। घंटाघर के बड़ी घड़ी की सूई चलेगी और हाथ की छोटी घड़ी की सूई चलेगी, तो कुछ तो फर्क पड़ेगा? उसने कहा, बड़ी घड़ी की सूई चलेगी तो समय ज्यादा लगेगा और छोटी को कम समय लगेगा। यह उत्तर है उस व्यक्ति का। वह इतना होशियार अपने आपको मानता है कि उतना होशियार अपने मैनेजर और अपने मालिक को भी नहीं मानता। कारण वही है, उसने पड़ोसी की बुराई का थैला तो आगे लटका लिया और अपनी बुराई का थैला पीछे कर लिया। यह दृष्टिकोण का विपर्यास है।

प्रेक्षाध्यान की सफलता का पहला सूत्र, जीवन की सफलता का पहला सूत्र या दृष्टिकोण के बदलने का पहला सूत्र है अपने आपको देखने की आवश्यकता का अनुभव करना।

दूसरी बात है, हम कैसे जानें कि दृष्टिकोण बदल गया? हमारा व्यक्तित्व दो भागों में बंटा है। हमारा ध्यान केवल बाह्य व्यक्तित्व की ओर जाता है। हम बाहर को देखते हैं। समस्याओं का समाधान भी बाहर में खोजते हैं, शक्ति भी बाहर में खोजते हैं, ज्ञान और आनन्द भी बाहर में ही खोजते हैं। दृष्टिकोण बदलने का अर्थ है, भीतर में शक्ति की खोज, आनन्द और ज्ञान की खोज। यदि यह खोज चले तो हमारा दृष्टिकोण बदल सकता है। हमारे भीतर में कितनी संपदा है! जब भीतर में देखना शुरू करते हैं तो प्रज्ञा जागती है। बाहर से जो लिया जाता है वह है ज्ञान और भीतर में जो जागता है वह है प्रज्ञान। वह पढ़ने से नहीं आता। कितनी ही पुस्तकें पढ़ जाएं पर प्रज्ञा नहीं आती।

जो बाहर से ज्ञान पैदा होता है वह है इन्द्रिय-ज्ञान। प्रज्ञा है आन्तरिक ज्ञान। वह 'आयसमुत्था'—बाहर से पैदा नहीं होती। एक अनपढ़ आदमी बहुत प्रज्ञावान् और बहुत ज्ञानी हो सकता है। और एक पढ़ा-लिखा आदमी बड़ा मूर्ख हो सकता है।

प्रज्ञा का जागरण भीतर में होता है। शक्ति का जागरण भीतर में होता है। हम बाहर में शक्ति को खोजते हैं। किन्तु मूल स्रोत हमारे भीतर है। प्राणशक्ति प्रबल होती है तो बाहर की शक्ति भी कम आती है। प्राणशक्ति नहीं है तो बाहर की शक्ति भी सहारा नहीं दे सकती। कितने ही व्यायाम करें, कितनी ही दवाइयां खा लें और कितने ही शक्ति के कैप्सूल ले लें, यदि प्राणशक्ति प्रबल नहीं है तो एक भी दवा और एक भी रसायन

काम नहीं करेगा। हमारी यह आस्था पैदा हो कि शक्ति, ज्ञान और आनन्द का मूल स्रोत हमारे भीतर है।

तीसरी बात है कि मानसिक स्वास्थ्य के बिना शारीरिक स्वास्थ्य टिक नहीं सकता—इस सचाई में आस्था हो, इसका साक्षात्कार हो। आदमी शरीर को बहुत स्वस्थ रखना चाहता है। हर आदमी चाहता है कि शरीर स्वस्थ रहे। किन्तु जब तक यह सचाई समझ में नहीं आएगी कि चित्त स्वस्थ नहीं है और मन स्वस्थ नहीं है, तब शरीर स्वस्थ रह ही नहीं सकता। इस सचाई का साक्षात्कार होना चाहिए। यह बहुत बड़ी सचाई है। आज चिकित्सा विज्ञान और आयुर्विज्ञान में भी इस सचाई को स्वीकारा गया है कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य बहुत आवश्यक है। यह बात अब बहुत स्पष्ट हो चुकी है। बहुत सारी बीमारियां हमारे मन के कारण होती हैं। बड़ा आश्चर्य होता है। आदमी उद्वेग करता है, आवेश में आता है और घृणा भी करता है। वह दूसरों की निन्दा भी करता है, दूसरों को सताता भी है, ये सारी मानसिक प्रवृत्तियां करता है और अपने आपको स्वस्थ भी रखना चाहता है, यह कैसे संभव होगा? जिस व्यक्ति को अपना मानसिक स्वास्थ्य इष्ट नहीं है, उसे शारीरिक स्वास्थ्य भी इष्ट नहीं है। कैंसर की बीमारी, अल्सर की बीमारी, श्वास-दमा की बीमारी—इस प्रकार की बहुत सारी बीमारियां मन से जुड़ी हुई बीमारियां हैं। मन में एक प्रकार की भावना जागती है और बीमारी पैदा हो जाती है। ऐसे रोगी हमारे पास आते हैं जिन्होंने बताया कि डॉक्टर के पास गए और सारा निदान कराया। डाक्टर कहता है कि कोई बीमारी नहीं और बीमारी भोगी जा रही है। यह बीमारी डॉक्टर की पकड़ में नहीं आएगी, यन्त्रों की पकड़ में नहीं आएगी। क्योंकि यह है तो मानसिक बीमारी और निदान किया जा रहा है शरीर का। कैसे पकड़ में आएगी।

प्रेक्षाध्यान करने वाले का यह दृष्टिकोण बने कि बीमारी की खोज मन में की जाए। वह देखे, कौन सी वृत्ति मन में जाग रही है और कौनसी वृत्ति प्रबल है, सक्रिय है और उसके द्वारा किस प्रकार की बीमारी पैदा हो रही है। मानसिक स्वास्थ्य को पाने के लिए आवेशों पर, क्षोभ और चंचलता पर नियंत्रण आवश्यक है। चंचलता होती है तो कोई भी घटना सुनी और मन क्षुब्ध हो गया। तालाब में कंकड़ फेंका और तरंग उठ गई। उठती रहेगी तो वह पानी कभी शांत नहीं होगा। इस प्रकार बाहरी घटनां एक तरंग पैदा कर देती है तो मन स्वस्थ नहीं रह सकता और मन स्वस्थ नहीं रहता तो फिर तन भी स्वस्थ नहीं रह सकता। इस सचाई का स्पष्ट अनुभव होना दृष्टिकोण के बदलने की तीसरी पहचान है।

चौथी बात, सुख और सुविधा—ये दो हैं, इस सचाई का अनुभव

बहुत आवश्यक है। सुख अलग है और सुविधा अलग है। पदार्थ के द्वारा सुविधा मिल सकती है किन्तु सुख नहीं मिल सकता। सुख का संवेदन हमारे भीतर है। मन स्वस्थ होता है तो सुख का संवेदन होता है और मन स्वस्थ नहीं और भाव स्वस्थ नहीं तो हजार सुविधा मिल जाने पर भी सुख का संवेदन नहीं हो सकता। सुख और सुविधा—इन दोनों में भेदज्ञान होना, इनके पृथक् होने का बोध होना, यह चौथी सचाई है। यह दृष्टिकोण के बदलने का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

आज की पदार्थवादी सभ्यता और संस्कृति, और उस पदार्थवादी सभ्यता और संस्कृति से उत्पन्न होने वाली समस्याएं सुविधा के साधनों को सुख मान लेने के कारण ही पैदा हुई हैं। हमने यह भेद करना छोड़ दिया और हमारे यह विवेक की चेतना समाप्त हो गई कि सुख और सुविधा में कोई अन्तर है। इन्हें एक ही मान लिया गया। इसी कारण ये समस्याएं उभरी हैं।

ये चार सचाइयां जब स्पष्ट होती हैं, तब पता चलता है कि दृष्टिकोण बदल गया। दृष्टिकोण को बदलने के लिए आयास की जरूरत है, अभ्यास की जरूरत है। दो शब्द हैं आयास और अनायास। वर्तमान की मनोवृत्ति देखता हूं तो लोग सब कुछ अनायास पाना चाहते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि आपका आशीर्वाद मिले। मैं भावना को गलत नहीं मानता, किन्तु मैं उस आशीर्वाद को पसन्द नहीं करता जो अनायास मिल जाए। आशीर्वाद भी मिले तो आयास के साथ ही मिले, अभ्यास के साथ ही मिले। सीधी मांग पूरी होगी तो मुफ्तखोरी और बढ़ जाएगी। वैसे ही तो मुफ्तखोरी का काफी अभ्यास है और हिन्दुस्तानी आदमी में तो मुफ्तखोरी की वृत्ति ने गहरा संस्कार जमा रखा है। हर काम को मुफ्त में पाना चाहते हैं। बस कुछ भी करना न पड़े। आशीर्वाद बहुत अच्छी बात है। आयास और अभ्यास के साथ-साथ यह मिले तब तो अच्छी बात है। बिना अभ्यास और बिना आयास के साथ मिले तो वह आशीर्वाद भी खतरनाक बन जाता है।

विद्यार्थी की लगन को देखकर सरस्वती प्रगट हो गई। कितना लगनशील है, कितनी चेष्टा और कितना प्रयत्न, निरन्तर ज्ञान की आराधना में लगा हुआ है। सरस्वती बोली, मैं प्रसन्न हूं। विद्यार्थी ! तू कुछ मांग।' विद्यार्थी ने कहा, 'मुझे तो कुछ भी नहीं मांगना है।' बड़ा आश्चर्य हुआ कि देवता कहे कि मांग और सामने वाला कहे कि मुझे तो कुछ भी नहीं मांगना है। वर मांगने के लिए तो न जाने कहां से कहां, लाडनूं से लंदन चले जाते होंगे। वरदान मिलता हो तो मास्को जा सकते हैं और वाशिंगटन जा सकते हैं। कहीं से कहीं जा सकते हैं। देवी ने दूसरी बार और तीसरी बार कहा, पर विद्यार्थी नकारता ही रहा। देवी ने भी सोचा कि कोई अजीब व्यक्ति

है। अन्त में कहा, अरे ! कुछ तो मांग, मैं इतना कह रही हूं।' विद्यार्थी बोला—मां ! मैं अपने श्रम से पढ़ूंगा, मेहनत करूंगा, अभ्यास करूंगा और पुरुषार्थ के द्वारा तुम्हारी आराधना करूंगा। तुम यदि प्रसन्न हो और कुछ देना ही चाहती हो तो इतना वर दे दो कि यह जो दीपक जल रहा है, उसका तेल कभी समाप्त न हो। बस, यह सदा जलता रहे और इसके प्रकाश में मैं पढ़ता रहूं। इससे ज्यादा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। मैं इसे बड़ा आशीर्वाद मानूंगा।

इस प्रकार का विद्यार्थी और इस प्रकार का व्यक्ति आशीर्वाद पाने का अधिकारी है। मैं कुछ भी न करूं और सोया-सोया दुनिया का सबसे बड़ा विद्वान् बन जाऊं, सबसे बड़ा वैज्ञानिक बन जाऊं, महाराज ! ऐसा आशीर्वाद दें, देवी ऐसा आशीर्वाद दो। मैं मानता हूं कि वह व्यक्ति आशीर्वाद मांगने का अधिकारी नहीं है, पात्र भी नहीं है और कोई भूल से ऐसे व्यक्ति को आशीर्वाद दे भी देता है तो वह शायद अपात्र में चला जाता है। आशीर्वाद के पीछे आयास और अभ्यास भी जरूरी हैं। हम अपने आयास के द्वारा और अभ्यास के द्वारा आशीर्वाद को प्राप्त करें।

इस सचाई का अनुभव प्रत्येक साधक को करना चाहिए कि अभ्यास और आयास करने से बिना मांगे भी आशीर्वाद प्राप्त हो जाता है, वरदान मिल जाता है। जिस व्यक्ति का पुरुषार्थ और पराक्रम निरन्तर चलता रहता है उसका विकास शतगुना होता है। हमें न चमत्कार में विश्वास है और न जादू के डंडे में और न शक्तिपात में। मेरा विश्वास है अपने पुरुषार्थ में, अपने पराक्रम में, अपने आयास और अभ्यास में। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें इतनी पात्रता और अर्हता पैदा करे कि उसे आशीर्वाद मांगना न पड़े, लेकिन आशीर्वाद देने वाला स्वयं आए और कहे कि लो, मैं तुम्हें कुछ देने आया हूं, ऐसा तब होता है जब व्यक्ति का श्रम और अभ्यास प्रखर होता है। ऐसी आत्मा को खोजते हुए सिद्धपुरुषों को स्वयं उसके द्वार पर आना होता है, द्वार खटखटाना होता है। योग साधना में ऐसी घटनाएं प्राप्त हैं कि गुरु शिष्य की खोज में घूम रहे हैं। गुरु ने शिष्य को खोजा, शिष्य ने गुरु को नहीं खोजा। गुरु स्वयं खोज में रहते हैं कि उन्हें योग्य शिष्य चाहिए, जो अध्यात्मविद्या को आगे बढ़ा सके।

आचार्य प्रभव जैन परम्परा के महान् आचार्य थे। वे श्रुतकेवली और भगवान् महावीर की परम्परा के निकटवर्ती प्रभावक आचार्य थे। उन्हें शिष्य नहीं मिला। वे अपनी ज्ञानराशि देना चाहते थे। कोई था नहीं, इसलिए शिष्य की खोज में निकले। पूरे साधु-संघ को देखा। वैसा पात्र कोई साधु नहीं मिला, जो उनके ज्ञान को आत्मसात् कर सकता हो। श्रावक-श्राविका संघ को देखा, पर वहां भी निराशा हुई। चौदह पूर्वों की ज्ञानराशि।

विशाल ज्ञान-संपदा किसे दे। बिना पात्र वह सजीव नहीं रह सकती। विकट प्रश्न उपस्थित हो गया। आखिर खोज करते-करते एक ब्राह्मण पर ध्यान टिका। शय्यंभव वेदों का पारगामी ब्राह्मण था। महान् और बहुश्रुत। आचार्य प्रभव ने उसे अपनी ओर खींचा। उसमें आकर्षण पैदा हुआ। वह आया और शिष्य बन गया। सारी ज्ञानराशी उसे दी।

यह एक बहुत बड़ी घटना है, गुरु द्वारा शिष्य के खोज की। यह विरल घटना नहीं है। ऐसी अनेक घटनाएं योग के क्षेत्र में हुई हैं। उपयुक्त शिष्य मिलता है, पर तब, जब आयास और खोज होती है, अन्यथा नहीं।

दृष्टिकोण के बदलने में निमित्तों का भी योग होता है। प्रज्ञाप्रदीप का वातावरण व्यक्ति को उस दिशा में प्रस्थित करता है और जो प्रस्थित हैं, उन्हें आगे बढ़ने में सहयोग देता है। पुरुषार्थ और अभ्यास के साथ-साथ सहयोग, प्रेरणा और आशीर्वाद भी वांछनीय है। यदि दृष्टिकोण बदलने वाला उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिलता है तो दृष्टिकोण उलझ जाता है। आदमी इस उलझे हुए दृष्टिकोण के कारण ही तो इतने कष्ट भोग रहा है।

यथार्थ में देखा जाए तो आदमी जितना दुःख भोगता है, उतना दुःख दुनिया में है नहीं। हम मानते तो हैं कि दुनिया में प्रचुर दुःख है, पर उतने दुःख हैं नहीं। हम स्वयं दुःखों को जन्म देते हैं और भोगते हैं। आदमी को भी दुःख भोगने की आदत बन गई, उसमें लोभ हो गया दुःख भोगने का। इस आदत के कारण वह प्रतिदिन नए-नए दुःखों की सृष्टि, करता रहता है। दुःखों की यह सृष्टि, दृष्टिकोण के विपर्यय के कारण हुई है। दृष्टि के बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। दृष्टि-परिवर्तन में निमित्त भी बहुत कारगर होता है—

राजकुमारी मल्ली के साथ विवाह करने के लिए पांच राजा उत्कंठित हुए। मल्लीकुमारी के पिता के पास पांचों का प्रस्ताव आया। राजा असमंजस में पड़ गया। पांचों विशाल राज्यों के अधिपति थे। नकारने का अर्थ था—विपत्ति मोल लेना। किसको हां कहे और किसको ना कहे। समस्या आ गई।

मल्लीकुमारी ने सुना। उसने पिताश्री से कहा—'आप चिन्ता न करें। स्वयंवर तय कर आप सबको यहां बुला लें। स्थिति अपने आप सुलझ जाएगी। पिता ने वैसा ही किया।

मल्लीकुमारी ने उनके पहुंचने के पूर्व ही एक सुनियोजित व्यवस्था कर दी थी। उसने अपने मान-उन्मान की एक सुन्दर प्रतिमा बनवाई। वह साक्षात् मल्लीकुमारी ही लगती थी।

पांचों राजा आए। सबको उस पुतली मल्लीकुमारी के पास ले जाया

गया। दूर से उसका रूप-रंग देखकर सब आश्चर्यचकित रह गए। उसके साथ विवाह की उत्कंठा और तीव्र हो गई। वे राजा पुतली के निकट पहुंचे। अचानक उसका ढक्कन खुला और भीतर से दुर्गन्ध आने लगी। सबने अपने-अपने नाक ढक लिए। वे बोले—कहां ले आए हमें? अधिकारी ने कहा—आप जिस मल्लीकुमारी को चाहते हैं, वह यही है। अन्न की पुतली है मल्लीकुमारी। जो अन्न खाया जाता है, वह सड़ान पैदा करता ही है। इसको भी अन्न दिया गया। यह सड़ान उसी अन्न की है। सबकी आंखें खुल गईं और मल्लीकुमारी के प्रति जो आसक्ति थी, वह दूर हो गई।

आसक्ति विरक्ति में और राग विराग में बदल सकता है, यदि उपयुक्त वातावरण और दृष्टिकोण मिले। आज आसक्ति को उद्दीपन देने वाले निमित्त बहुत हैं। एक बच्चे को भी प्रारम्भ से ही वासना को उत्तेजित करने वाले निमित्त ही बहुलता में मिलते हैं। वह धीरे-धीरे सीखता-सीखता अपराधी, आक्रमक और उद्दंड बनता है। यह सारा उसे प्रारम्भ से ही प्राप्त होने वाले वातावरण का दोष है। उसे सारे आलंबन, उद्दीपन और निमित्त इस ओर ले जाने वाले ही मिलते हैं। क्यों दोष दें उसको? वह सिनेमा देखता है, टी. वी. देखता है, समाचार पत्र पढ़ता है। इनके निरन्तर पठन-पाठन से यदि वह उद्दंड मार्ग पर जाता है तो इसमें आश्चर्य क्या है? इस सचाई का भी हमें अनुभव करना होगा कि उद्दीपन और आलंबन का विवेक किया जाए। वासना और कामना को उद्दीप्त करने वाले वातावरण के साथ-साथ यदि उनको शांत करने वाला वातावरण भी प्राप्त होता है तो संतुलन रह सकता है, अन्यथा विगाड़ ही विगाड़ है।

डॉ० गांगुली होम्योपेथी के ख्यातनामा डॉक्टर हैं। आज ही मैंने उनसे कहा—२४ घंटे का समय है। आप नियोजन करें। यदि १२ घंटे समाज के लिए देते हैं तो १२ घंटा अपने व्यक्तिगत जीवन की साधना के लिए लगाएं तो ठीक समय का नियोजन होगा और व्यवस्था ठीक चलेगी। कोई आदमी इतना शक्तिशाली नहीं होता कि २४ घंटा काम में ही लगा रहे। वह ज्यादा टिक नहीं पाएगा। आखिर एक व्यवस्था और संतुलन स्थापित करना होता है। सबसे बड़ी बीमारी असंतुलन की बीमारी है। मैं यह नहीं सोचता कि कोई भी सामाजिक प्राणी, वीतराग बन जाएगा, विरक्त बन जाएगा या पदार्थ से मुंह मोड़ लेगा। ऐसा सोचना भी समझदारी का सोचना नहीं है। किन्तु कम से कम इतना तो सोचना ही चाहिए कि जीवन में यदि पचास प्रतिशत पदार्थ के प्रति आकर्षण चलता है तो पचास प्रतिशत विकर्षण भी होना चाहिए। संतुलन तो होना चाहिए। प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के दिमाग में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि ५०/५० का संतुलन रहे। अपने लिए भी, अपने बच्चों के लिए भी, अगली

पीढ़ी के लिए भी। यदि हम ऐसा कर सकें तो एक बहुत बड़ी सफलता होगी।

हम खाते हैं और नहीं भी खाते। पीते हैं और नहीं भी पीते। सोते हैं और नहीं भी सोते—जागते हैं। यह संतुलन है। कोई भी २४ घंटा खा नहीं सकता और २४ घंटा खाए बिना रह भी नहीं सकता। कोई भी २४ घंटा सो नहीं सकता और २४ घंटा सोए बिना रह भी नहीं सकता। प्रकृति ने एक संतुलन दिया है कि सोना भी है और जागना भी है। खाना भी है और न खाना भी है। वैसे ही पदार्थ के प्रति भी हमारा एक संतुलन बने। यदि कोई व्यक्ति आकर्षण और आकर्षण में ही रहता है तो वह विकर्षण सीखे। जो व्यक्ति इंद्रियों को लुभाने वाली चीजों को देखता है तो न देखना भी सीख जाए, न देखने का भी अभ्यास करे। मन में चंचलता है तो एकाग्रता का भी अभ्यास करे। यह संतुलन यदि स्थापित करे तो जीवन की नई दिशा हो सकती है। बस इसी की अपेक्षा है।

प्रेक्षाध्यान कोई संन्यास का मार्ग नहीं है। प्रेक्षाध्यान आज ही कोई वीतराग बन जाने की शक्ति या उपलब्धि नहीं है, किन्तु एक संतुलन की दिशा में प्रस्थान है। हम इस जीवन में संतुलन बना सकें। पदार्थ का एकाधिपत्य है, एकछत्र साम्राज्य है, उससे हटकर हम सोचें, यह है संतुलन। जो पदार्थ जगत् का और इन्द्रियों का एकाधिपत्य और आकर्षण है उसकी सीमा से हटकर दूसरे तत्त्व के प्रति भी आकर्षण पैदा करें—यह है संतुलन।

यह संतुलन पुद्गल जगत्, आत्म जगत्—दोनों के बीच एक सेतु का काम करता है। हम कोरे आत्मजगत् में चले जाएं तो खाने की समस्या आ जाएगी। कौन खेती करेगा ? कौन पकाएगा और कौन खाएगा ? सभी ध्यान में बैठ जाएं तो बड़ी समस्या पैदा हो जाएगी। यदि कोई कोरे पुद्गल जगत् में जाए तो भी समस्या पैदा होगी। फिर इतनी छीना-झपटी, लड़ाई, संघर्ष होगा कि आदमी को चैन नहीं मिलेगा। इसलिए एक संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। यदि पचास प्रतिशत जीवन पदार्थ के आकर्षण में चलता है तो पचास प्रतिशत पदार्थ के विकर्षण में चले। बस इसी का नाम है संतुलन, इसी का नाम है दृष्टिकोण का बदलना और इसी का नाम है प्रेक्षाध्यान।

युद्धरव

आत्मना युद्धस्व

युद्ध एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान ने कुछ मौलिक मनोवृत्तियां मानी हैं। उनके अनेक वर्गीकरण हैं। एक मौलिक मनोवृत्ति है युद्ध, संघर्ष। आदमी आदिमयुग से युद्ध करता रहा है, लड़ता रहा है। यह उसकी स्वाभाविक मनोवृत्ति बन गई है कि कभी वह किसी उद्देश्य के लिए संघर्ष करता है तो कभी वह निरुद्देश्य भी संघर्ष करता रहता है। संघर्ष करना उसको प्रिय है। प्रयोजन हो या न हो, यह गौण है। मुख्य है संघर्षरत रहना, लड़ना।

अध्यात्म के विकास के साथ-साथ यह सोचा जाने लगा कि क्या मनुष्य की इस मौलिक मनोवृत्ति को बदला जा सकता है? धर्म का भी यह अहं-प्रश्न है कि क्या मनुष्य की वृत्तियों का रूपान्तरण या परिष्कार किया जा सकता है? यदि अध्यात्म और धर्म के द्वारा वृत्तियों का रूपान्तरण नहीं होता है तो धर्म की सार्थकता नहीं रहती। धर्म और अध्यात्म की सार्थकता वृत्ति-परिष्कार पर अवलंबित है। धर्म ने मनुष्य को नई दिशा देते हुए कहा कि तुम लड़ना या संघर्ष करना नहीं छोड़ सकते तो भले ही लड़ो पर दूसरों के साथ मत लड़ो, स्वयं के साथ लड़ो। इस सूत्र ने मनुष्य की मौलिक वृत्ति को सुरक्षा देते हुए उसके संघर्ष करने की दिशा को बदल दिया। तुम लड़ो, पर अपने आपसे। तुम लड़ो, पर अपनी वृत्तियों से। जो वृत्तियां दूसरों से लड़वाती हैं उनसे तुम लड़ो, उन्हें परास्त करो।'

आदमी लड़ता है। इसका मूल कारण है उसकी वृत्तियां। आदमी में वृत्तियों की एक शृंखला है। वे संघर्ष की प्रेरणा देती हैं। उसी प्रेरणा से प्रेरित होकर आदमी लड़ता है, युद्ध के मोरचे पर जाता है। अध्यात्म की भाषा में वे वृत्तियां पांच हैं—

१. विषय का आवेश
२. कषाय का आवेश
३. तत्त्व की अश्रद्धा
४. आत्मा का अज्ञान
५. प्रमाद

संघर्ष का पहला कारण है—विषय का आवेश। इन्द्रियां और इन्द्रियों के विषय लड़ाते हैं। जब-जब विषय का आवेश प्रगट होता है आदमी लड़ाई करने के लिए तत्पर हो जाता है। प्राचीन काल में युद्ध के दो कारण माने गए हैं—कंचन और कामिनी, धन और स्त्री। यह आवेश युद्ध पैदा करता है। बहुत सारे युद्ध विषयावेश के कारण हुए हैं। चाहे राम-रावण का युद्ध हो

या कौरव-पांडव का, सबके पीछे विषय का आवेश दृष्टिगोचर होता है।

संघर्ष का दूसरा कारण है—कषाय का आवेश। जब-जब क्रोध, अहंकार आदि कषाय की वृत्तियां जागृत होती हैं, तब-तब युद्ध शुरू हो जाता है। अहंकार के कारण कितनी लड़ाइयां होती हैं। यदि लड़ने वाले लोगों को कहा जाए कि लड़ाई की कोई सार्थकता नहीं है तो उनका तर्क होता है कि हम धन या पैसे के लिए नहीं लड़ते, पर लड़ाई तो बात की है। यह बात की लड़ाई नहीं है, यह तो अहं की लड़ाई है। कोई भी अपने अहं को छोड़ना नहीं चाहता और तब लड़ना अनिवार्य हो जाता है। अहं युद्ध की तीव्र प्रेरणा है। अहं की सुरक्षा के लिए आदमी टूट जाता है पर उसे छोड़ना नहीं चाहता।

संघर्ष का तीसरा कारण है—तत्त्व की अश्रद्धा। तत्त्व के प्रति, सत्य के प्रति अदमी श्रद्धावान् नहीं है। कुछ सत्य को जानते हैं, कुछ नहीं जानते। जो जानते हैं वे भी उसके प्रति आस्थावान् नहीं हैं। सत्य के प्रति उनमें विश्वास गाढ़ नहीं हुआ है। उनमें इतना धैर्य भी तो नहीं है कि वे सचाई को परख सकें, उसका अनुशीलन और अवगाहन कर सकें। सत्य की श्रद्धा के लिए धैर्य का होना अत्यन्त आवश्यक है।

रूस के प्रसिद्ध चिन्तक टालस्टाय के पास एक युवक आकर बोला—सफलता का रहस्य क्या है? टालस्टाय ने कहा—सफलता का रहस्य-सूत्र है धैर्य। युवक ने सिर हिलाते हुए कहा—नहीं, यह नहीं हो सकता। टालस्टाय ने पूछा—क्यों? युवक बोला—मैं कितना ही धैर्य रखूं या प्रतीक्षा करूं पर क्या चलनी में पानी भर पाऊंगा?

टालस्टाय ने शांत स्वर में कहा—युवक! यदि धैर्य हो तो चलनी पानी से भर सकती है। यदि कोई व्यक्ति पानी के जमने तक धैर्य रखे, प्रतीक्षा करे तो वह पानी चलनी में भर सकता है। इतना धैर्य हो कि पानी जम जाए, बर्फ बन जाए, फिर चलनी में वह ठहर सकता है।

वास्तव में सत्य के प्रति हमारी आस्था नहीं है। हम प्रतीक्षा करना नहीं जानते इसीलिए बीच में ही अवरोध पैदा हो जाते हैं। जब आदमी सचाई तक नहीं पहुंचता तब लडाइयां प्रारम्भ हो जाती हैं। दर्शन के क्षेत्र में अथवा अन्यान्य क्षेत्रों में जो वाद-विवाद या लडाइयां हुई हैं वे सत्य तक पहुंचने के धैर्य के अभाव में हुई हैं। सचाई तक पहुंचने के बाद कोई आदमी लड़ता नहीं है। जो सचाई को मान लेता है, उसकी तह तक पहुंच जाता है, वह फिर कभी लड़ता नहीं। सचाई के प्रति जिसकी आस्था नहीं है, जो सचाई तक नहीं पहुंचा है, वह लड़े बिना रह नहीं सकता। वह कभी माता-पिता के साथ, कभी भाई के साथ और कभी पुत्रों के साथ या पत्नी के साथ लड़े बिना रह नहीं पाता, क्योंकि वह सचाई से दूर है। सारी लडाइयां

आधार पर हम अचेतन प्रणाली पर अधिकार कर, उसका मनचाहा उपयोग कर सकते हैं।

संघर्ष का पांचवां कारण है—प्रमाद। प्रमाद के कारण अनेक लड़ाईयां होती हैं। अनेक राजाओं के प्रमाद के कारण युद्ध हुए और हजारों व्यक्ति मारे गए। छोटे से प्रमाद भी बड़े-बड़े युद्धों का कारण बन जाता है। राजा या अधिकारी प्रमाद में रहता है, विलासिता भोगता है तब यह सुनिश्चित है कि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक नहीं रह सकता, अप्रमत्त नहीं रह सकता। यह स्थिति जनता में विद्रोह की भावना पैदा करती है और धीरे-धीरे सारा राज्य आपसी कलहों और संघर्षों में नष्ट हो जाता है। प्रमाद भय पैदा करता है और इस भय से निपटने के लिए व्यक्ति को अनेक संघर्ष करने पड़ते हैं।

आज प्रत्येक व्यक्ति दोहरे व्यक्तित्व का जीवन जी रहा है। मस्तिष्क में दोहरे व्यक्तित्व की परतें हैं। मनुष्य में विषय के आवेश की शक्ति है तो उसके पास उस आवेश को विलीन करने की भी शक्ति है। मनुष्य में कषाय के आवेश को समाप्त करने की भी शक्ति है। उसमें तीसरी शक्ति है तत्त्व-श्रद्धा, सत्य को जानने और उसके प्रति आस्थावान् होने की। उसमें चौथी शक्ति है आत्मज्ञान, स्वयं को जानना। उसमें पांचवीं शक्ति है—अप्रमाद अवस्था में रहना।

संघर्ष और युद्ध के पांच हेतु भी आदमी में हैं और युद्ध-निवारण के पांच हेतु भी उसी में हैं। ये दोनों मस्तिष्क में विद्यमान हैं। इसीलिए आदमी का दोहरा व्यक्तित्व चल रहा है। आदमी कभी लड़ता है और कभी शांत होता है। आदमी कभी विषय के आवेश में होता है और कभी शांत जीवन जीता है। कभी वह कषाय के आवेश से आविष्ट होता है तो कभी शांतरस से आप्लावित होता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में युद्ध का कारण भी विद्यमान है और युद्ध का निवारण भी विद्यमान है।

अध्यात्म के आचार्यों ने इस सचाई का अनुभव किया और दिशा-परिवर्तन की बात कही। उन्होंने कहा—तुम लड़ना चाहते हो, तो अपने आपसे लड़ो। अपने आप से लड़ने का अर्थ है—इन्द्रिय-विषयों के साथ लड़ना, कषाय के साथ लड़ना, झूठ और अज्ञान के साथ लड़ना, प्रमाद के साथ लड़ना। महावीर ने कहा—'पुरुष ! तू आत्मा के साथ लड़। बाहरी युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?' आत्मा के साथ लड़ना ही यथार्थ में लड़ना है। आज के युद्ध में लाखों आदमी मरते हैं। दोनों पक्षों के आदमी हताहत होते हैं। एक जीतता है, एक हारता है। पर दोनों घाटे में रहते हैं। हारने वाला तो घाटे में रहता ही है, जीतने वाला भी लाभ में नहीं रहता। युद्ध कितनी समस्याओं को पैदा कर देता है, यह हम सब जानते हैं। जीतने वाले

राष्ट्र को भी युद्ध से उद्भूत समस्याओं को सुलझाने में वर्षों लग जाते हैं। निरन्तर उसे उन समस्याओं से जूझना पड़ता है। पराजित राष्ट्र को भी पुनः अपने पैरों पर खड़े होने के लिए दीर्घ समय लगता है। प्राचीन काल का राम-रावण का युद्ध, कौरव-पांडव का युद्ध और चेटक-कोणिक का युद्ध इस बात के साक्षी हैं कि पक्ष और प्रतिपक्ष के अपार जन-संहार के बावजूद भी कोई लाभ में नहीं रहा। इसीलिए अध्यात्म के आचार्यों ने यह सूत्र दिया—'आत्मना युद्धस्व'—अपने आप से लड़ो। दूसरों से मत लड़ो। अपने आपसे लड़ने का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। लड़ते चले जाओ। जीवन भर लड़ते रहो। तब तक लड़ते रहो, जब तक की सारी वृत्तियां शरणागत न हो जाएं। वे शरणागत होती हैं निरन्तर और दीर्घकालीन संघर्ष के द्वारा।

महावीर ने कहा—'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं'—पुरुष! युद्ध की पूरी सामग्री मिलना दुर्लभ है। युद्ध का अवसर प्राप्त होना दुर्लभ है। जो सौभाग्यशाली होता है, उसे मिलता है युद्ध का अवसर।

प्राचीन काल में युद्ध में व्यक्ति को प्रेरित करने के लिए कहा गया—जो रणभूमी में लड़ते-लड़ते मरता है, उसके लिए स्वर्ग में देवांगनाएं तैयार मिलती हैं। जो युद्ध में जीतता है उसे वैभव प्राप्त होता है। युद्ध में दोनों हाथों में लड्डू हैं। यह शरीर तो क्षणभंगुर है। एक न एक दिन तो यह अवश्य ही नष्ट होगा, मरेगा, फिर युद्ध में मरने की कैसी चिन्ता!

महावीर ने भी कहा—युद्ध का अवसर दुर्लभ है। बार-बार नहीं मिलता। यह अनुभूति प्रत्येक को होनी चाहिए, तभी वह इस रणभूमि में विजयी हो सकता है। युद्ध का मोर्चा है प्रेक्षाध्यान का शिविर। ध्यान की साधना है आत्मना युद्धस्व। जब अपने आप से लड़ने की बात प्राप्त होती है तब अन्यान्य दूसरी बातें गौण हो जाती हैं और केवल लड़ने की बात ही सामने रहती है। शीत से लड़ना है, धूप से लड़ना है, असुविधाओं और प्रतिकूलताओं से लड़ना है। जो ऐसा करता है वही आत्मना युद्धस्व को फलित करता है। ऐसा मौका बड़ा दुर्लभ है। सुविधावादी होना दुर्लभ नहीं है, किन्तु असुविधाओं में विचलित न होना बड़ा दुर्लभ है।

ध्यान का अभ्यास व्यक्ति इसीलिए करता है कि वह अचेतनात्मक वृत्तियों पर अपना नियंत्रण रख सके। वृत्तियां उभरती हैं, कष्ट देती हैं और मन पर अपना प्रभुत्व जमा लेती हैं। इन वृत्तियों पर नियंत्रण पाना ही ध्यान का उद्देश्य है। दोहरे व्यक्तित्व में एक प्रकार का हमारा व्यक्तित्व विकसित है। अब दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व को विकसित करना है। जहां आत्मा का अज्ञान है वहां आत्मा के ज्ञान को विकसित करना है। जहां विषय है वहां निर्विषय को विकसित करना है। जहां कषाय है, वहां अकषाय को विकसित करना है। जहां प्रमाद है, वहां अप्रमाद को जागृत

करना है। एक व्यक्तित्व है—इच्छाचालित और दूसरा व्यक्तित्व है—स्वचालित। स्वचालित व्यक्तित्व पर नियन्त्रण पाना है और इच्छाचालित व्यक्तित्व को विकसित करना है। यह ध्यान साधना के द्वारा संभव है।

अध्यात्म की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है—अन्तर्यात्रा, भीतर झांकना, भीतर में यात्रा करना। भीतर प्रवेश कैसे करें? शरीर के भीतर जाने के कुछेक द्वार हैं। एक रास्ता खुला है मुंह का, एक है नाक का, एक है आंख का और एक है कान का। इनसे पदार्थ भीतर जा सकते हैं। अंगुली से पदार्थ भीतर नहीं जा सकते। अंगुली से छूकर हम जान सकेंगे कि पानी ठंडा है या गरम। पर अंगुली से पानी शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। केवल मुंह, नाक, कान आदि से ही वह भीतर जा सकता है।

अध्यात्म के अनुसार भीतर प्रवेश पाने का शक्तिशाली मार्ग है नाक के छिद्र। नाक का संबंध मस्तिष्क से जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क की दो परतें हैं। उनमें एक परत है—एनिमल ब्रेन की, पाशविक मस्तिष्क की। इसका सम्बन्ध है नाक से। नाक एक माध्यम है मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का। भगवान महावीर की साधना में नासाग्रध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेक्षाध्यान की प्रणाली में चैतन्य-केन्द्रों के वर्गीकरण में एक चैतन्य-केन्द्र है प्राणकेन्द्र। इसका स्थान है नासाग्र। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इसका तात्पर्य है कि यहां पर ध्यान केन्द्रित करते ही मस्तिष्क के साथ सूक्ष्म सम्पर्क स्थापित हो जाता है और तब हमारी नियंत्रण-शक्ति बढ़ जाती है।

अपान और प्राण—ये दो शक्तिशाली धाराएं हैं। इन्हीं के आधार पर जीवन टिका हुआ है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण होता है तब व्यक्तित्व ऊपर की ओर उठता है और जब अपान उन्मुक्त होता है, अनियंत्रित होता है तब व्यक्तित्व नीचे की ओर खिसकता जाता है। अपान का कार्यक्षेत्र है नाभि के नीचे का स्थान और प्राण का कार्यक्षेत्र है हृदय और नासाग्र के ऊपर का स्थान। प्राण का अपान पर नियंत्रण होते ही व्यक्ति ऊर्ध्वमुखी बन जाता है और इसके अभाव में व्यक्ति की निम्न-गति प्रारम्भ हो जाती है। जब नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित होता है, प्राणकेंद्र पर एकाग्रता सधती है तब अपने आप अपान पर प्राण का नियंत्रण स्थापित हो जाता है, अपान प्राण का वशवर्ती अनुचर हो जाता है। नासाग्र ऊर्ध्वगमन का बहुत बड़ा द्वार है। नासाग्र पर ध्यान करने के दो अर्थ हैं—एक तो है प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना और दूसरा है प्राणकेन्द्र से गुजरने वाले श्वास पर ध्यान करना। श्वास के आगे जाने का द्वार है नाक। नासाग्र पर ध्यान करने का मतलब है प्राणकेंद्र पर ध्यान करना। ये दोनों नियंत्रण के महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं। जिस व्यक्ति को अपने आपसे लड़ना है, अपनी वृत्तियों पर

नियंत्रण स्थापित करना है, उसके लिए नाक को संपूर्ण रूप से समझना बहुत आवश्यक है।

आंख भी भीतर प्रवेश करने का माध्यम है। इसके माध्यम से शिर तक जाया जा सकता है। यदि ब्रह्मकेन्द्र पर ध्यान करना है तो मुंह को समझना होगा। यदि चक्षुष्केन्द्र पर ध्यान करना है तो आंख का मूल्यांकन करना होगा। यदि अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान करना है तो कान को जानना होगा। सबसे पहले इन चारों में से हमें नाक का अधिक मूल्यांकन करना है।

जो व्यक्ति शरीर के अवयव नाक को समझ लेता है, उसका सही मूल्यांकन कर लेता है वह सर्वांगीणता प्राप्त कर लेता है। नकटे का अपशकुन माना जाता है। जिसका नाक चला गया, उसका सब कुछ चला गया। नाक शरीर का मुख्य अवयव है, सौन्दर्य का घटक है।

नाक व्यक्तित्व का परिचायक है। उसके आधार पर व्यक्ति को पहचाना जा सकता है। आज भी यह विज्ञान की शाखा के रूप में स्वीकृत है। नाक की बनावट के आधार पर व्यक्ति के भूत, भविष्य और वर्तमान को पढ़ा जा सकता है। इसकी अनेक सूक्ष्मताएं हैं। यदि हम इन सूक्ष्मताओं में न जाएं तो भी व्यवहार की भूमिका पर यह कहा जा सकता है कि जिसका नाक अच्छा है, उसका मस्तिष्क भी अच्छा है। जिसका नाक अच्छा नहीं है, उसका मस्तिष्क भी अच्छा नहीं है। जिसका नाक पर नियन्त्रण है, उसका मस्तिष्क पर नियन्त्रण है, अपान पर नियन्त्रण है। जिसका नाक पर नियन्त्रण नहीं है, प्राण पर नियन्त्रण नहीं है, उसका मस्तिष्क पर और अपान पर भी नियंत्रण नहीं है। जिसने अपने नाक को मना लिया उसने अपने देवता को मना लिया, प्रसन्न कर लिया। जिसने नाक को नहीं मनाया, उसने अपने देवता को भी नहीं मनाया। इष्ट देव को मनाने के लिए पहली पूजा या मनौति नाक की करें और इसके आस-पास जो कुछ हो रहा है उसको पकड़ें, उस पर ध्यान केन्द्रित करें।

दीर्घश्वास का प्रयोग आत्मना युद्धस्व का पहला सूत्र है। अपने आप से लड़ने का यह पहला पाठ विकास का हेतु बनेगा।

१

युद्ध : कामवृत्ति के साथ

काम मौलिक मनोवृत्ति है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की बहुत सारी शक्तियों का विकास कामशक्ति के द्वारा होता है। इसमें पूरी सचाई नहीं है और सभी मनोवैज्ञानिक इसमें एक मत नहीं हैं। फ्रायड ने इस पर बहुत बल दिया तो यूंग ने इसे अस्वीकार कर दिया। उत्तरवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने भी फ्रायड का समर्थन नहीं किया।

मनुष्य में अनेक शक्तियां हैं। उनमें एक है कामशक्ति, काम की ऊर्जा। काम एक वृत्ति है। उसके साथ इसलिए लड़ना है, संघर्ष करना है कि वह उच्छृंखल न बने, निरंकुश न बने। उस पर नियन्त्रण आवश्यक है। नियंत्रण स्थापित करने के लिए संघर्ष आवश्यक है। संघर्ष के बिना उस पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। वृत्ति अपना दबाव डालती है और निरंकुश होना चाहती है। व्यक्ति यदि काम की निरंकुशता को सहन कर लेता है तो उसकी जीवन-यात्रा गड़बड़ा जाती है। व्यक्ति काम पर नियंत्रण करके ही जीवन-यात्रा सुचारु रूप से चला सकता है। नियन्त्रण के लिए पुरुषार्थ का प्रयोग करना होता है। काम अपने पर नियंत्रण चाहता नहीं और व्यक्ति उस पर नियन्त्रण करना चाहता है, तब संघर्ष होना अनिवार्य है। यह संघर्ष का हेतु है।

प्रश्न है, कामवृत्ति के साथ कैसे लड़ें? जब तक लड़ाई का सही ढंग ज्ञात नहीं होता तब तक विजय प्राप्त नहीं होती और पराजित होना पड़ता है। विजय पराजय में बदल जाती है। जो लड़ाई के सम्यक् तरीके जानता है, जिसके साधन सशक्त हैं, वह विजयी बनता है। जो लड़ाई के सूत्रों से अनजान है, जिसके साधन कमजोर हैं, वह लड़ नहीं सकता और यदि लड़ता है तो पराजित हो जाता है। यह जय और पराजय का सिद्धांत है।

कामवृत्ति के साथ लड़ना है तो साधनों को शक्तिशाली बनाना होगा और कामवृत्ति के स्वरूप को समझना होगा।

आदमी किसी भी अवस्था में चला जाए, उसे भूख लगती है, प्यास लगती है। भूख और प्यास के न लगने पर माना जाता है कि व्यक्ति बीमार है, रोगग्रस्त है। जीवन-यात्रा के लिए भूख भी जरूरी है और प्यास भी जरूरी है। भूख और प्यास पर विजय पाना है तो उनके हेतु को जानना होगा। वे क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं, यह जानना होगा। हमारे आचरण

और व्यवहार के दो हेतु हैं—आंतरिक और बाह्य। भूख और प्यास की उत्पत्ति का मूल हेतु है आन्तरिक। बाह्य हेतु उनका उद्दीपन कर सकता है, पैदा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार कामवृत्ति का मूल हेतु आन्तरिक है। बाह्य वातावरण उसको उद्दीप्त कर सकता है, पैदा नहीं कर सकता। कामवृत्ति परिस्थिति-जनित नहीं होती। परिस्थिति उसके उद्दीपन में सहयोगी हो सकती है, होती है। इस वृत्ति की जनक है आन्तरिक परिस्थिति। अन्तर में काम की तरंग उठती है और समूचे शरीर-तंत्र को प्रभावित कर देती है, नाड़ीतंत्र को उत्तेजित कर डालती है। बाह्य परिस्थिति यदि अनुकूल होती है तो उत्तेजना बढ़ती है और व्यक्ति वैसा आचरण कर डालता है। कामवृत्ति का मूल उत्पादक है आंतरिक वातावरण। इसके साथ-साथ हमें शारीरिक और कार्मिक—इन दो आधारों पर भी विचार करना होगा। कामवृत्ति के जागने का शारीरिक आधार भी होता है और कार्मिक आधार भी होता है। कर्म-संस्कार भी इसमें काम करते हैं। कामवृत्ति का मूल कारण है—मोह के परमाणु। कर्मशास्त्र की भाषा में इन्हें वेद के परमाणु कहा जाता है। ये कामवृत्ति के मूल घटक तत्त्व हैं। उस तरंग को स्थान देने वाली मानसिक दशा भी बनती है। उसका शारीरिक आधार है 'लिम्बिक सिस्टम'। यह हमारे मस्तिष्क का ही एक हिस्सा है। इसके साथ जुड़ा हुआ है इसी का एक भाग है हाइपोथेलेमस। साथ-साथ उस पर नियन्त्रण करने का आधार भी हमारे पास है। वह है 'लम्बर रीजन' जो मेरुदण्ड की प्रणाली में होता है। यह कामवृत्ति पर नियन्त्रण करता है। हमें और अधिक ध्यान देना होगा, विचार करना होगा कि यह वृत्ति कैसे पैदा होती है, शरीर के किस अवयव-विशेष पर प्रभाव डालती है और किस प्रकार इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है?

नियन्त्रण की एक टेक्निक होती है। संसार में निरुपाय कुछ भी नहीं है। उपाय को जान लेने पर सब सहज-सरल हो जाता है।

राजा था। उसके मन में यह विकल्प उठा कि क्या ऐसा सम्भव है कि बकरे के सामने कुछ खाने का पदार्थ आए और वह न खाए? बकरा निरन्तर खाता रहता है। यह उसका स्वभाव है। राजा ने यह घोषणा कराई कि यदि कोई व्यक्ति बकरे को ऐसा प्रशिक्षित कर दे कि सामने भोज्य पदार्थ पड़े रहने पर भी बकरा उसमें मुंह न दे, तो उस व्यक्ति को पुरस्कृत किया जाएगा। घोषणा सबने सुनी। पुरस्कार की बात से सबके मुंह में पानी आ गया। अनेक व्यक्तियों ने प्रयत्न किया, पर व्यर्थ। एक व्यक्ति ने बकरे को इतना खिलाया कि अब कुछ भी खाने के लिए तैयार नहीं होगा। वह बकरे को लेकर राजा के पास आया। बकरा हट्टाकट्टा था। राजा के आदेश

से बकरे के सामने घास रखा और वह तत्काल उसे खाने लग गया। बकरा लाने वाला यह देख कर हैरान रह गया।

एक अनुभवी व्यक्ति बोला—मैं पांच दिन के भीतर आपकी घोषणा को सही कर दिखाऊंगा। वह बकरे को लेकर दूर जंगल में गया। बकरे ने जैसे ही वहां घास खाना प्रारम्भ किया, उसकी पीठ पर एक कोड़ा मारा। कुछ समय बाद फिर खाने लगा और फिर पीठ पर कोड़ा मारा। यह क्रम चलता रहा। जब-जब बकरा खाने का प्रयत्न करता, तब-तब उसे कोड़े का प्रहार झेलना पड़ता। दूसरे दिन बकरे के सामने घास डाला गया। बकरे ने खाने का प्रयत्न ही नहीं किया। उसके मन पर कोड़े का प्रहार घाव कर गया था। उसने सोचा, खाने का अर्थ है मार खाना। वह व्यक्ति बकरे को लेकर राजा के पास आया। राजा ने परीक्षण किया। व्यक्ति का उपाय ठीक निकाला। वह पुरस्कृत हुआ।

आदत को बदला जा सकता है। उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है। पर सही उपाय चाहिए। जब डंडे के बल पर बकरे को प्रशिक्षित किया जा सकता है, उसकी आदत को बदला जा सकता है तो कामवृत्ति को क्यों नहीं बदला जा सकता? आवश्यकता है सही उपाय की।

कामवृत्ति पर नियंत्रण पाने के लिए समवृत्ति श्वासप्रेक्षा को काम में लेना होगा। योग पद्धति में जिसे अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहा जाता है, वही प्रेक्षाध्यान पद्धति में समवृत्ति श्वास प्रेक्षा के नाम से अभिहित है। एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे नथुने से निकालना, यही है समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा। हम बाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब हमारा दायां मस्तिष्क प्रभावित होता है और जब हम दाएं नथुने से श्वास लेते हैं तो बायां मस्तिष्क प्रभावित होता है। मस्तिष्क का बायां पटल भाषा, विज्ञान, गणित आदि के लिए उत्तरदायी है और दायां पटल आध्यात्मिक शक्तियों के लिए उत्तरदायी है। जब हम बाएं नथुने से श्वास लेते हैं तो दायां मस्तिष्क-पटल सक्रिय होता है, सृजनात्मक शक्तियों का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। जब हम दाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब बौद्धिक क्षमताओं का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। एक विद्यार्थी मंदबुद्धि है। वह गणित, भाषा आदि विषयों में कमजोर है। यदि वह विद्यार्थी दाएं नथुने से श्वास लेने का अभ्यास करे तो उसकी क्षमताएं बढ़ने लग जाएंगी। जिस विद्यार्थी में भावात्मक क्षमताएं कम हैं, अन्तर्दृष्टि और सूझबूझ कम है, वह यदि बाएं नथुने से श्वास लेने का अभ्यास करे तो उसकी वे क्षमताएं वृद्धिगत हो सकती हैं।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का सूत्र है। इससे दोनों प्रकार की क्षमताएं विकसित होती हैं, क्योंकि इसमें बारी-बारी से दोनों नथुनों से श्वास लिया जाता है।

कामवृत्ति पर नियन्त्रण पाने का एक विन्दु है, स्थान है, मेरुदण्ड में जिसे 'लंबर रीजन' कहा जाता है। तेरह चैतन्य-केन्द्रों में एक है आनन्द-केन्द्र। इसका स्थान है फुफ्फुस के नीचे और हृदय के पास। आनन्दकेन्द्र पर ध्यान करने से कामवृत्ति नियंत्रित होती है, उत्तेजना पर नियंत्रण होता है। एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि कामवृत्ति की उत्तेजना जिन अवयवों में होती है वे नियंत्रण के अवयव नहीं हैं। वे केवल अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। कामवृत्ति की उत्तेजना आंतरिक प्रतिक्रिया है। आनन्द-केन्द्र पर ध्यान करने से वह उत्तेजना नियंत्रित हो सकती है।

कामवृत्ति को वश में करने का दूसरा उपाय है—अन्तर्यात्रा। जब हम चेतना को रीढ की हड्डी के निचले सिरे से लेकर ज्ञानकेन्द्र (मस्तिष्क) में ले जाते हैं तो इसका तात्पर्य है कि समूचे मेरुदंड की प्रणाली पर हमारा कंट्रोल हो जाता है। मेरुदंड बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है। अनेक स्वचालित प्रवृत्तियों का नियंत्रण मेरुदंड के पास है। मस्तिष्क बड़ा है। वह सब पर नियन्त्रण करने में सक्षम है। वह मेरुदंड के कार्य में सीधा हस्तक्षेप नहीं करता। जो अनैच्छिक प्रवृत्तियां हैं, उनका नियंत्रण मेरुदंड से होता है। मेरुदंड को हम अन्तर्यात्रा से साध लेते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि हम स्वचालित वृत्तियों पर भी नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं। एक बार के नियंत्रण से काम नहीं चलता। वृत्तियां बार-बार उठती हैं तो उन पर बार-बार चोट करनी पड़ती है। तभी वे नियंत्रित हो पाती हैं। वृत्तियां बहुत जिद्दी होती हैं। बार-बार उठती रहती हैं, क्योंकि उनका उपादान भीतर पड़ा है, भीतर जमा है। किंतु उपाय के द्वारा उनकी इस जिद्दी प्रकृति को मिटा सकते हैं।

एक महिला कुत्ते को प्रशिक्षित कर रही थी। पति ने देखा। उसने पत्नी से कहा—'व्यर्थ का श्रम क्यों कर रही हो? कुत्ता इतना जिद्दी है कि वह तुम्हारी एक बात भी नहीं मानेगा। पत्नी बोली—भूल गए। शादी हुई तब तुम कितने जिद्दी थे?

किसी को भी उपाय के द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है। कामवृत्ति क्यों पैदा होती है, इस पर विचार करना जरूरी है। मनोविज्ञान ने भी उसकी उत्पत्ति का आन्तरिक कारण माना है। दर्शन की भाषा में वह आन्तरिक कारण है कर्मशरीर, कर्म-संस्कार। प्रत्येक प्राणी के साथ कर्म-संस्कारों का अटूट खजाना है। वृत्तियों का वही उत्पत्ति-स्रोत है, उत्स है। काम की वृत्ति भी वहीं से निकलती है। वह मोहकर्म से पैदा होती है। यदि हम वृत्ति को शांत और अनुशासित रखना चाहें तो हमें मोहकर्म की निर्जरा करनी होगी। निर्जरा महत्त्वपूर्ण शब्द है। इस वृत्ति के लिए दो शब्दों पर ध्यान देना जरूरी है। वे दो शब्द हैं—संवर और निर्जरा। ये युद्ध के शक्तिशाली शस्त्र हैं। शत्रु को आगे न बढ़ने देना, शत्रु को अपनी सीमा में न

घुसने देना, यह है संवर और जो शत्रु घुस चुके हैं उनको समाप्त कर देना. नष्ट कर देना, यह है निर्जरा। यह है क्षयीकरण। नई कामना को पैदा न होने देना संवर है और कामनाओं का जो ढेर पड़ा है, जो संस्कारों का चय है, उसको नष्ट करना, विलय करना, यह है निर्जरा।

अनेक ध्यान-पद्धतियां हैं। उनमें साक्षी या द्रष्टा वने रहने की वात सिखाई जाती है। यह अच्छी वात है। द्रष्टाभाव या साक्षीभाव से संवर तो हो सकता है, नई कामना उत्पन्न नहीं हो सकती, परन्तु जो पुराना संग्रह है कामनाओं और वृत्तियों का, उसका विलयन कैसे होगा ? द्रष्टाभाव से निर्जरा नहीं हो सकती, संवर हो सकता है। युद्ध में विजय पाने के लिए केवल संवर पर्याप्त नहीं है। निर्जरा के विना, संचित वृत्तियों के विच्छेदन के विना, पूरा युद्ध लड़ा नहीं जा सकता। संचित वृत्तियों के विच्छेदन के लिए हमें उपाय करना होगा। उसका उपाय है, वृत्ति को देखना और प्रतिपक्ष की भावना के द्वारा उसका विलयन करना। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग के विना वृत्तियों का विलयन नहीं होता, यह अनुभव की बात है। मैंने अनुभव किया है कि द्रष्टा-भाव से स्वभाव को वदलना कठिन मार्ग है। यह दीर्घकालीन उपक्रम है। यह लम्वा मार्ग है। इस पर हरेक व्यक्ति का चल पाना कठिन है, संभव भी नहीं है। सीधा मार्ग होता है तो उस पर हर कोई चल सकता है पर दुर्गम मार्ग पर अकेला व्यक्ति चल नहीं पाता। उसे सहयोगी की अपेक्षा होती है। अनुप्रेक्षा उस अवस्था में पूर्ण सहयोग करती है और व्यक्ति में नई स्फूर्ति का संचार करती है। तव व्यक्ति सहजरूप से वृत्ति को वदलने में कामयाव हो जाता है।

संवर और निर्जरा—निरोध और शोधन की ये दो प्रणालियां हैं। केवल निरोध या शोधन पर्याप्त नहीं है। शोधन के साथ-साथ यदि भविष्य में न करने का संकल्प नहीं होता, निरोध नहीं होता, संवर नहीं होता, तो फिर शोधन का अर्थ न्यून हो जाता है।

प्रत्येक शोधन के साथ निरोध और निरोध के साथ शोधन होना चाहिए। प्रेक्षा निरोध की प्रणाली है और अनुप्रेक्षा शोधन की प्रणाली है। इन दोनों प्रणालियों के सहारे ही व्यक्ति कामवृत्ति के युद्ध में विजयी वन सकता है।

अनेक लोग अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करते और दूसरी की शक्ति पर अधिक निर्भर रहते हैं। वृत्तियों के परिष्कार में स्वशक्ति पर निर्भर होना आवश्यक है। काम की वृत्ति संकल्प से पैदा होती है। मन में संकल्प उठता है और कामवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जव तक व्यक्ति का दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं वनेगा, तव तक इस पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकेगा।

यह आध्यात्मिक नियंत्रण केवल धर्मजगत् के लिए ही नहीं, पूरे जगत के लिए आवश्यक है। यह इसलिए कि इन तीन-चार दशकों में मुक्तभोग, मुक्त यौनाचार, समलैंगिक व्यभिचार आदि काम-सेवन की विधियों ने समूचे विश्व को आक्रान्त कर रखा है। सारा विश्व आतंक से भरा है। 'एड्स' की बीमारी इसी का परिणाम है। यह केन्सर से भी अत्यधिक भयंकर बीमारी है। कामवृत्ति की उच्छृंखलता के इस परिणाम ने सारे संसार को भयग्रस्त कर डाला। आज अणुबम का जितना आतंक है उससे कम आतंक नहीं है 'एड्स' की बीमारी का। सारे राष्ट्र इस बीमारी की भयंकरता से घबरा गए हैं। इसकी रोकथाम के लिए सघन प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस बीमारी का एकमात्र कारण है कामवृत्ति की निरंकुशता। इस संदर्भ में, जागतिक और सामाजिक समस्या के संदर्भ में, हम विचार करें तो कामवृत्ति पर नियन्त्रण करना और उसके साथ संघर्ष करना अत्यन्त आवश्यक है।

आज की शिक्षा या वातावरण ने युवक के मन में एक भ्रांति पैदा कर दी कि इच्छा का दमन नहीं करना चाहिए, काम-वासना का दमन नहीं करना चाहिए। इस भ्रान्ति ने मुक्त यौनाचार को प्रश्रय दिया और एक समस्या पैदा कर दी। दमन का अर्थ वह युवक समझा नहीं। 'दमन नहीं करना'—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि डंडा नहीं मारना। कभी-कभी डंडा मारना भी आवश्यक हो जाता है। भारतीय चिन्तन में दमन का बहुत व्यापक अर्थ है। लज्जा, एकाग्रता, धृति, क्षमा आदि आदि सदाचार की बीसों वृत्तियों का नाम है 'दमन'। श्वासप्रेक्षा का प्रयोग करना, आनन्द-केन्द्र और दर्शनकेन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना, अन्तर्यात्रा का प्रयोग करना—ये सारे दमन हैं। इनको बुरा कैसे मानें? दमन बुरा ही नहीं होता। हम वृत्तियों का उपशमन करें, यह दमन ही है। उपशमन और दमन की प्रक्रिया अत्यन्त वैज्ञानिक है। 'दमित वासनाएं समस्याएं पैदा करती हैं'—फ्रायड की इस बात को ठीक समझा नहीं गया। दमन आवश्यक है और दमित वासनाएं खतरनाक भी होती हैं—ये दोनों विरोधी बातें हैं। जब हम वृत्तियों को शांत करने के लिए उपाय का आलम्बन लेते हैं तब वह दमन नहीं होता। वहां वृत्ति का शमन होता है। वह दमन की प्रक्रिया नहीं है, उपाय है। वृत्ति जागी और उसे बलात् रोकना दमन हो सकता है, पर उस वृत्ति को उपाय के द्वारा शान्त करना दमन नहीं है, शमन है। शमन बुरा नहीं होता। यह आज की अनिवार्य आवश्यकता है। दूध में उफान आया, पानी का छींटा दिया और उसका उफान शान्त हो गया। यह उफान को शान्त करने का उपाय है। वृत्ति जागी। उपाय किया। दीर्घश्वास या अन्तर्यात्रा या अनुप्रेक्षा का आलंबन लिया और वृत्ति के उस उफान को शान्त कर दिया। यह शमन की प्रक्रिया है। इसका आलम्बन लेकर हम सुखी और आनन्दमय जीवन जी सकते हैं।

१०

युद्ध : अहंकार के साथ

जीवन का यह रथ कैसे चल रहा है ? इसे कौन चला रहा है ? इसके पीछे प्रेरणा क्या है ?

हमारी सारी प्रवृत्तियां प्रेरणा से प्रेरित होती हैं। मनोविज्ञान के पुरस्कर्ताओं ने तीन प्रेरक-प्रवृत्तियां मानी हैं—शारीरिक प्रेरणा, सामाजिक प्रेरणा और अहंकार संबंधी प्रेरणा। मनुष्य इनसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है।

अहंकार की प्रेरणा भी मनुष्य के अनेक कार्यों में संलग्न करती है। 'अहं' शब्द भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। 'अहं' के बिना किसी की पहचान नहीं होती। पूछा जाए, तुम कौन हो ? उत्तर मिलेगा—मैं हूं। 'यहां कौन है ?' 'मैं हूं'। कौन बोल रहा है ? 'मैं बोल रहा हूं।' 'मैं हूं' का अर्थ है कि मेरा अस्तित्व है। अपने अस्तित्व को अभिव्यक्ति देने के लिए एक शब्द का चुनाव किया गया और वह शब्द है 'अहं।' अस्तित्व छिपा रहता है। वह 'अहं' के द्वारा अभिव्यक्त होता है। दर्शन और अध्यात्म का महत्त्व-पूर्ण शब्द है—अहं।

आचारांग सूत्र का आरंभ होता है—'कोहं'—मैं कौन हूं, इस प्रश्न से और उसका समाधान सूत्र है—'सोऽहं'—मैं वह हूं। 'अहं' के साथ इसका समाधान होता है। आदि में भी 'अहं' और अन्त में भी 'अहं'। साधना के क्षेत्र में भी इस 'अहं' की परम उपयोगिता है। जिसमें 'अहं', 'अहं'—मैं हूं, मैं हूं कि निरन्तर स्मृति बनी रहती है उसमें सतत आत्म-जागृति रहती है। अहं का विस्तार है अहंकार। पर वह कुछ और ही बन गया। 'मैं हूं, यहां तक निर्दोष है यह शब्द। पर जब इसके साथ कुछ जुड़ा, अहंकार बना और वह दोष में भर गया। 'मैं हूं, यह निर्दोष अभिव्यक्ति है, पर 'मैं कुछ हूं,' यह 'कुछ' शब्द जुड़ा और अहं का रूप बदल गया। 'मैं हूं'—यहां तक वह अपरिग्रही था, निर्दोष था।' जहां अपरिग्रह होता है वहां संपूर्ण निर्दोषता होती है।' 'मैं कुछ हूं'—जब 'कुछ' का परिग्रह जुड़ा तो अहंकार निर्दोष से सदोष बन गया।

हम कर्मशास्त्रीय और अध्यात्म की दृष्टि से सोचें तो ज्ञात होगा कि 'अहं' की उत्पत्ति' लोभ और आकांक्षा के द्वारा होती है। आकांक्षा और लोभ

अहंकार को जन्म देते हैं। जैसे-जैसे लोभ जागता है, वैसे-वैसे अहंकार भी बढ़ता जाता है।

अहंकार ने सचाइयों को बहुत झुठलाया है। इसीलिए यह बड़ा दोष माना जाता है। सदा यह सचाई को झुठला कर बढ़ता है। समाज में प्रतिष्ठा सम्मान और बड़प्पन बने, यह अहंकार के साथ जुड़ा हुआ है। ये सारे अहंकार के पालित-पोषित पुत्र हैं। जहां अहंकार है वहां महत्त्वाकांक्षा और बड़प्पन की बात स्वतः पैदा हो जाती है।

व्यक्ति अपने अहं के कारण अपने आपको बहुत बड़ा मान लेता है और दूसरों को छोटा मानता है। सचाई को झुठलाने का परिणाम भी बड़ा विचित्र होता है।

अरब के रेतीले मैदान में एक अमीर ऊंट पर बैठ कर जा रहा था। उसका नौकर पीछे बैठा था। उसके हाथ में छाता था ताकि अमीर को धूप न लगे। उसके हाथ में पंखी थी ताकि अमीर को पसीना न आए। दोनों मजे से जा रहे थे। कुछ ही दूर गए होंगे कि उनकी दृष्टि पैदल चल रहे एक फ़कीर पर पड़ी। वह अकेला था, कोई साथी नहीं था। चिलचिलाती धूप में वह पैदल जा रहा था। उसकी चाल में मस्ती थी। अमीर ने उसको देखा। अहंकार जाग उठा। वह बोला—अरे फकीर! इतनी तेज धूप में ऐसे ही घूम रहा है, बिना मौत मर जाएगा। फकीर मस्त था। वह बोला—फ़कीर कभी नहीं मरेगा। मरेगा तो अमीर मरेगा। ऊंट आगे बढ़ गया। फकीर अपनी मस्ती में पीछे-पीछे चलने लगा।

कुछ समय बीता। तेज आंधी आई। अमीर और उसका नौकर—दोनों सम्हल नहीं सके। दोनों नीचे गिरे और मर गए। ऊंट भी लड़खड़ाकर गिर पड़ा और मर गया।

फकीर निकट आया। पहचान गया। बोला—अरे! मेरे जैसा ही तो यह आदमी था। पर अमीरी के अहं ने मेरे मित्र को बेमौत मार डाला!

सचमुच अहंकार बेमौत मार डालता है। यह जितनी हत्याएं करता है, एक आतंकवादी भी उतनी हत्याएं नहीं कर पाता। यह प्रतिक्षण मारता रहता है।

'मैं कुछ हूं' यह अहंकार मारने वाला होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में जो 'अहं' तारने वाला था, वही 'अहं' स्वयं के साथ जुड़कर मारने वाला बन गया। रक्षक भक्षक बन गया।

एक लड़का मेरे पास आया। मैंने पूछा—'तुम कौन हो? वह बोला—मैं प्रदीप हूं। मैंने कहा—'तुम प्रदीप (दीपक) तो नहीं हो।' वह तपाक से बोला—'कैसी बात करते हैं? मैं प्रदीप ही हूं।' वह इस नाम की पकड़ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। मैंने पूछा—जब तुम जन्मे नहीं थे, गर्भ में

थे, तब तुम क्या थे। तब तुम्हारा नाम क्या था ?' उसने कहा—'तब तो कोई नाम था ही नहीं। अनाम था। नाम तो जन्म के एक-दो सप्ताह बाद दिया जाता है। नाम-संस्कार की रश्म अदा की जाती है। उस समय मेरा नाम प्रदीप रखा गया था।

उससे पहले वह क्या था, उसे कोई पता नहीं। किन्तु नाम का परिग्रह हो गया और अब वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं। वह उससे चिपट गया कि मैं प्रदीप हूं। प्रदीप उसकी पहचान बन गई। नाम सुनते ही वह आ जाता है, चला जाता है, भोजन करता है, विश्राम करता है। नाम का उसने परिग्रह बना लिया। वह उसको पकड़े हुए है।

'अहं' के साथ नाम जुड़ा, कुछ जुड़ा और व्यक्ति बदल गया। 'अहं' के साथ संबंध जुड़ा और व्यक्ति बदल गया। उपाधियां जुड़ी, अमीरी और गरीबी जुड़ी, विद्या और सत्ता जुड़ी और 'अहं' विषैला बन गया।

जब तक 'अहं' अहं में रहता है, अपनी सीमा में रहता है तब तक वह हमारे अस्तित्व को प्रकट करता है। पर जैसे ही वह 'कुछ' के साथ जुड़ता है वैसे ही वह अस्तित्व से हटकर और कुछ प्रकट करने लग जाता है।

आकांक्षा और क्षमता—ये दो बातें हैं। सामाजिक संदर्भ में व्यक्ति के मन में यह आकांक्षा जागी कि मैं कुछ बनूं। यह कोई बहुत बुरी बात नहीं है। आकांक्षा के आधार पर ही सामाजिक विकास होता है। पर उस आकांक्षा की परिपूर्णता में लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है। आकांक्षा के साथ क्षमता का विकास भी आवश्यक होता है। व्यक्ति बड़ी-बड़ी आकांक्षा या कल्पनाएं कर लेता है, पर यदि क्षमताएं नहीं हैं तो वह असफल रहता है। वही आकांक्षा सफल होती है, जिसके साथ क्षमता का अनुपात होता है। क्षमतानुपाती आकांक्षा सफल हो सकती है। क्षमता से असंतुलित आकांक्षा कभी पूरी नहीं हो सकती।

आदमी ने बड़ी आकांक्षा बना ली कि मुझे बूढ़ा नहीं होना है, सदा युवक बने रहना है, स्वस्थ रहना है, मरना नहीं है, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बनना है आदि-आदि। किन्तु क्षमताओं के अभाव में वह अपनी आकांक्षा कभी पूर्ण नहीं कर सकता। वाइस चांसलर बनने की आकांक्षा रखने वाला यदि वर्णमाला से भी परिचित न हो, 'क' 'ख' पढ़ना भी न जाने, तो वह आकांक्षा आकाशकुसुम की भांति निरर्थक और काल्पनिक होगी। ऐसी आकांक्षाएं सामाजिक संदर्भ में बुरी न भी मानी जाएं, पर उनका परिणाम सुखद नहीं होता, कल्याणकारी नहीं होता। कोई भी व्यक्ति आकांक्षा संजो सकता है, उसको अधिकार है, वह स्वतंत्र है पर उसकी पूर्ति क्षमता पर निर्भर करती है। इसलिए आकांक्षा और क्षमता—दोनों साथ-साथ चलती

हैं तब सुखद परिणाम आता है। जहां आकांक्षा और क्षमता का असंतुलन होता है, वहां जटिलताएं पैदा होती हैं।

एक साध्वी के मन में आकांक्षा उभरी कि मैं साध्वी-प्रमुखा बनूं। पर उसकी क्षमताएं उतनी नहीं थीं कि वह इस गुरुतर पद पर आसीन हो सके। अन्त में उसको अनेक कठिनाइयां सहन करनी पड़ीं।

एक साधु के मन में भावना जागी कि मैं संघ का आचार्य बनूं। मेरे में सारी योग्यताएं हैं। उसने अपनी आकांक्षा दूसरे साधु के माध्यम से आचार्य भिक्षु तक पहुंचाई। आचार्य भिक्षु को उसकी पूरी पहचान थी। उन्होंने कहा—अमुक साधु सूरीपद (आचार्यपद) पाने के योग्य तो नहीं है, पर उसे सूरदास पद मिल सकता है।

क्षमता तो नहीं है चक्षुष्मान् रहने की, दो आंखों को सुरक्षित रखने की और आकांक्षा है आचार्य बनने की! आचार्य को सहस्रचक्षु होना पड़ता है, हजार आंखों वाला होना पड़ता है। जहां दो आंखों की क्षमता भी पूरी नहीं है, वहां सहस्रचक्षु बनने की बात हास्यास्पद सी लगती है।

अहंकार के साथ लड़ने की आवश्यकता नहीं होती यदि वह चोट नहीं करता। वह चोट करता है इसलिए उसके साथ लड़ना होता है। अहंकार से कुंठा, निराशा, हीन भावना, क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। आदमी पूजा-प्रतिष्ठा चाहता है और जब वह नहीं मिलती तब वह तिलमिला उठता है. क्रोध के आवेश से आविष्ट हो जाता है। क्रोध अहंकार का ही परिणाम है।

अहंकार क्रोध को उत्पन्न करता है, पर अस्तित्व वाचक अहंकार कभी क्रोध पैदा नहीं करता। वह अहंकार क्रोध पैदा करता है, जिसके गर्भ में लोभ है, आकांक्षा है, कुछ पाने की लालसा है। वहां अहंकार पर चोट होती है और क्रोध जाग जाता है। सत्तर-पचहत्तर प्रतिशत क्रोध का कारण है अहंकार। यदि अहंकार नहीं होता है तो आदमी में क्रोध की मात्रा भी कम हो जाती है।

जब हम अहंकार के इन परिणामों को देखते हैं तब उसके साथ युद्ध करने की जरूरत हो जाती है। उसने इतने अनिष्ट परिणाम पैदा किए हैं कि उसके साथ लड़ना अनिवार्य हो गया है।

महाभारत के प्रलयंकारी युद्ध का कारण भी अहं ही था। दुर्योधन के अहं पर चोट हुई और महाभारत खड़ा हो गया। पांडवों ने राजसभा का आयोजन किया। राजसभा का प्रांगण स्फटिक का था। वह जल में थल और थल में जल का आभास दे रहा था। उस राजसभा में सभी आमंत्रित थे। दुर्योधन आया। उसे जल में थल और थल में जल दीख रहा था। जल था। उसको थल का आभास हुआ। पैर फिसला। गिर पड़ा। कोई बात

नहीं थी। सभा में द्रौपदी बैठी थी। उसने दुर्योधन को गिरते देखा। व्यंग में वह बोली—अन्धे का बेटा अन्धा ही तो होगा। दुर्योधन ने यह सुना। यह वचन तीर की भांति चुभ गया और महाभारत की सृष्टि हो गई। अहं पर चोट लगी और महाभारत बन गया।

अहंकार के कारण जीवन में अनगिन समस्याएं पैदा होती हैं। सफलता हर व्यक्ति को, हर काम में नहीं मिलती। जहां व्यक्ति असफल होता है, उसका अहं फुफकार उठता है। अहं पर चोट होती है और तब परिणामों की लंबी श्रृंखला बन जाती है। इसलिए अहंकार के साथ लड़ना आवश्यक है।

लड़ाई उसी के साथ की जाती है, जहां कुछ होता है। जहां कुछ नहीं होता, वहां कैसी लड़ाई! पर कभी-कभी कुछ न होने पर भी लड़ना होता है।

अभी कुछ दशकों पहले की घटना है। चीन ने हिन्दुस्तान की भूमि पर आक्रमण किया। भारतीय सेना पीछे हट गई। लोकसभा में पूछा गया कि अक्साई चीन की रक्षा के लिए सेना क्यों नहीं भेजी गई? सेना पीछे क्यों रही? नेहरू ने उत्तर देते हुए कहा—'वहां एक ऐसी भूमि है, जहां एक तिनका भी नहीं उगता। वहां की रक्षा के लिए सैनिकों को क्यों मरवाया जाए? महावीर त्यागी सांसद थे। वे तत्काल उठे और अपनी टोपी उतारते हुए बोले—मेरे सिर पर एक भी बाल नहीं है। मैं खल्वाट हूं। तो क्या मैं सिर की रक्षा नहीं करूं? क्या मैं इसको काट कर फेंक दूं?

चीज उपयोगी हो या न हो, जब उसको अपना बना लिया, उसके साथ ममत्व और अहं जुड़ गया, उसे कोई भी कटने नहीं देगा। अहंकार का यह परिणाम है कि कुछ जुड़ा और उसके साथ ममत्व आ गया। अहं से ही तो ममत्व होता है। अहं कोरा अहं होता है। उसके साथ कुछ जुड़ा, इसका अर्थ हो गया ममत्व। दोनों साथ-साथ चलते हैं। इनको कभी अलग नहीं किया जा सकता। जहां अहंकार, वहां ममकार। जहां ममकार, वहां अहंकार। अहंकार ममकार को बढ़ाता है और ममकार अहंकार को। दोनों साथ-साथ जन्मते हैं तो साथ-साथ ही मरते हैं। अहंकार मरेगा तो ममकार भी मर जाएगा और ममकार मरेगा तो अहंकार भी मर जाएगा। दोनों की नियति साथ जुड़ी हुई है। कोरे अहंकार या कोरे ममकार को नष्ट नहीं किया जा सकता। अहंकार के साथ लड़ना है तो ममकार के साथ भी लड़ना पड़ेगा और ममकार के साथ लड़ना है तो अहंकार के साथ भी लड़ना पड़ेगा।

प्रश्न है कि अहंकार समस्या पैदा क्यों कर रहा है? इसका उत्तर है, वह समस्या इसलिए पैदा कर रहा है कि हम सचाइयों को झुठलाते जा रहे

हैं। शक्ति पर हमें भरोसा है, पर इस सचाई को हम भूल जाते हैं कि शक्ति की भी एक सीमा है। हमें अपने जीवन पर और आयु पर भरोसा है, पर हम भुला देते हैं कि जीवन और आयु की भी एक सीमा है। सफलता पर अहं आता है। इस सचाई को झुठला देते हैं कि सफलता के साथ विफलताएं भी जुड़ी हुई होती हैं। सफलता और असफलता जुड़ी हुई है। इन सभी सचाइयों को झुठलाने के कारण अहंकार निरंकुश हो जाता है।

चक्रवर्ती भरत बहुत शक्तिशाली था। हर शक्ति की सीमा होती है। उसमें तारतम्य होता है। तारतम्य का अवबोध न होना अहंकार को बढ़ाना है। जब तारतम्य का बोध हो जाता है तब अहंकार विलीन हो जाता है। भरत चक्रवर्ती ने मान लिया कि मेरे से अधिक शक्तिशाली कोई है नहीं। मैं चक्रवर्ती हूं। भरत में शक्ति की सीमा और तारतम्य का ज्ञान नहीं रहा। उसका अहं बढ़ा। उसने अपने छोटे भाई बाहुबली के साथ युद्ध किया। बड़ा भाई हार गया। छोटा भाई विजयी हुआ। पराजय भरत की नहीं, उसके अहंकार की हुई। यह अज्ञान और तारतम्य के अबोध की पराजय थी। यदि भरत जान लेता कि संसार बड़ा है। मेरे से अधिक शक्ति-सम्पन्न भी कोई व्यक्ति हो सकता है, तो उसे हार का मुंह नहीं देखना पड़ता।

सफलता की भी एक सीमा होती है। उसमें भी तारतम्य होता है। हर आदमी को समानरूप से सफलता नहीं मिलती। एक आदमी अपने काम में एक वर्ष में ही सफल हो जाता है और दूसरा आदमी दस वर्ष तक खपता है, तपता है, फिर भी सफल नहीं होता। एक ही आदमी कभी सफल भी होता है तो कभी विफल भी होता है। जो आदमी इस अहं में रहता है कि मैं जहां भी हाथ डालूंगा, मुझे सोना ही सोना मिलेगा तो वह अहंकार कभी ऐसी घात करता है कि आदमी फिर कभी संभल ही नहीं पाता।

जीवन की भी निश्चित सीमा है। किसी का जीवन असीम नहीं होता। इस सचाई को हम कभी न झुठलाएं। प्रत्येक व्यक्ति में जीवन के प्रति इतनी मूर्च्छा है कि वह कभी सोचता ही नहीं कि उसे एक दिन मरना है। उसकी सारी प्रवृत्ति अमर बने रहने जैसी होती है। जो एक दिन मरने की सचाई को सामने रखकर अहंकार से लड़ता है, वह विजयी बन जाता है। जो इस सचाई को झुठलाता है वह सदा धोखा खाता है। फिर वह कहता रहता है, मैंने कितने सपने संजोए थे, पर सब कुछ मन में ही रह गए, सारे सपने अधूरे रह गए। संसार में ऐसे कम व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने यह कहा हो कि जो कुछ सोचा था, वह पूरा हो गया। मन में कुछ भी शेष नहीं रहा। केवल आध्यात्मिक व्यक्ति ही ऐसा कह सकता है, क्योंकि वह अहंकार में नहीं जीता, सचाइयों को जीता है।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया, महाराज ! आपका अब अन्तिम समय है समाधि मरण का क्षण सन्निकट है, आपके मन में कोई बात तो नहीं रही ? आपका कार्य कोई शेष तो नहीं रहा ? आचार्य भिक्षु बोले—मेरे मन में कुछ भी शेष नहीं है। कोई बात बाकी नहीं है। जो कुछ करना था कर लिया। सब कुछ संपन्न है अब।

यह सब कुछ कर लेने की अनुभूति और कुछ भी शेष न रहने की अनुभूति उसी व्यक्ति को हो सकती है जिसने अहंकार पर विजय पा ली है और जो सचाइयों को जीवनगत करता हुआ अपने अस्तित्व के साथ जुड़ गया है।

सीमाओं और तारतम्य का अवबोध हो जाने पर व्यक्ति अहंकार के साथ लड़ सकता है और उसे पराजित कर सकता है। प्रश्न होता है कि आखिर इस लड़ाई का परिणाम क्या होगा ? दो बातें होंगी। अहंकार हारा, 'कुछ' मिटा, कोरा 'अहं' रहा। इसका व्यावहारिक अर्थ होगा विनम्रता और आध्यात्मिक अर्थ होगा अस्तित्व की अनुभूति। विनम्रता उसी व्यक्ति में आती है, जिसने अहंकार के स्वरूप का अवबोध किया है, आकांक्षा के स्वरूप और परिणामों को समझा है, आकांक्षा से होने वाले मानसिक रोगों तथा उनके भयंकर परिणामों को समझा है। ऐसा व्यक्ति ही विनम्र हो सकता है। अन्यथा उद्दंडता, दर्प और मादकता रहती है। वह सोचेगा, मैं क्यों झुकूं, मैं यह-वह सब कुछ कर सकता हूं। मैं दूसरों को झुकाने में समर्थ हूं, फिर मैं क्यों झुकूं ? मैं टूटने वाला तिनका नहीं हूं, पर तोड़ने वाला परशु हूं। ऐसा व्यक्ति कभी अहंकार के साथ लड़ नहीं सकता। जो व्यक्ति सचाइयों को समझ चुका है, वह सोचता है, ऐसा कोई कारण नहीं है कि जिसके आधार पर मैं अहंकार करूं या आकांक्षा संजोऊं या 'कुछ' को जोड़ूं। वह बिलकुल नम्र हो जाता है। वह सत्य के प्रति विनम्र, दूसरों के प्रति विनम्र और सबसे पहले अपने प्रति विनम्र बन जाता है। अहंकार पर विजय पाने की यह अपूर्व परिणति है। अहंकार विजय का व्यावहारिक परिणाम है विनम्रता।

इसका आध्यात्मिक परिणाम है—अस्तित्व की सतत अनुभूति, स्मृति। अपने अस्तित्व का बोध, अपने आपका बोध। यह बोध उसी व्यक्ति को होता जो कोरा होता है, अहंकार के साथ 'कुछ' को नहीं जोड़ता। वही व्यक्ति समझ सकता है कि मैं क्या हूं ? मैं कौन हूं ? मेरा स्वरूप क्या है ? मेरा अस्तित्व क्या है ? इन चारों प्रश्नों का उत्तर वही व्यक्ति पा सकता है।

प्रेक्षाध्यान के शिविर में आने वाले साधक यह 'कुछ' की बात को समझें। अस्तित्व के साथ जो 'कुछ' जोड़ रखा है उसे तोड़ने का प्रयास

करें। एक-दो दिन में यह टूटेगा नहीं, पर तोड़ने के मार्ग पर चलते चलें। तोड़ने की सारी सामग्री हमारे पास है। श्वास, शरीर, रंग, चैतन्य-केन्द्रों—ये सब 'कुछ' को तोड़ने के साधन हैं। 'विषस्य विषमौषधं,' 'कंटकं कंटकेनोद्धरेत्'। विष ही विष की औषधि होती है और कांटे से ही कांटा निकलता है। वैसे ही अपने ही शस्त्रों से उनको तोड़ें, सफलता मिलेगी।

उदात्तीकरण क्रोध का

प्यास लगी। नौकर से कहा—पानी लाओ। वह ठंडे पानी का गिलास ले आया। पानी पीया। प्रसन्न। दूसरे दिन। प्यास लगी। नौकर पानी का गिलास ले आया। किन्तु पानी गरम था। मौसम भी गरम और पानी भी गरम, दिमाग ठंडा कैसे रहे? वह भी गरम हो गया। क्रोध में कहा—मूर्ख! जानता नहीं, क्या लाया है? यह पानी है या आग? पानी आग बन गया।

तीसरे दिन। प्यास लगी। नौकर से कहा, पानी लाओ। नौकर किसी दूसरे काम में लगा हुआ था। पानी लाना भूल गया। जब आधा घंटा बीत गया। उसे स्मृति हुई। पानी ले गया। मालिक स्वयं आग बन गया था। वह इतना गरमा गया कि शायद पानी भी उतना गरम नहीं होता। वह उबल पड़ा। प्रश्न है, वह क्यों उबला? क्रोध क्यों आया?

आदमी में इच्छा उत्पन्न होती है। जब वह इच्छा पूरी हो जाती है तब वह प्रसन्न होता है। इच्छा पूरी नहीं होती है तो वह कुपित हो जाता है। क्रोध की उत्पत्ति का एक कारण है—इच्छापूर्ति में बाधा। एक दिन में अनेक इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। वे पूरी हो जाती हैं तो बात समाप्त। पूरी नहीं होती हैं तो क्रोध उभर आता है। क्रोध कभी अपने पर होता है, अपने परिवार के लोगों पर, कर्मचारियों पर, पड़ोसियों पर होता है और कभी-कभी आगंतुक व्यक्तियों पर भी क्रोध आ जाता है। जो भी इच्छापूर्ति में बाधक बनता है उस पर क्रोध आ जाता है। कभी-कभी बाधक नहीं, किन्तु इच्छा-पूर्ति में साधक न बनने वालों पर भी क्रोध आ जाता है। वह कह उठता है, अरे! खड़े-खड़े क्या देख रहे थे, मेरा सहयोग नहीं किया! बस, उस पर भी गुस्सा आ जाता है। अरे, खड़े-खड़े देखने वाले का दोष ही क्या है! फिर भी वह क्रोध का शिकार बन जाता है।

क्रोध की उत्पत्ति का दूसरा कारण है—मनचाहा न होना। चाहता है कि ऐसा हो और यदि वैसा नहीं होता है तो क्रोध आ जाता है। बच्चा होशियार है। पिता चाहता है कि वह परीक्षा में डिस्टिंक्शन से उत्तीर्ण हो और यदि वैसा नहीं होता है, बच्चा अनुत्तीर्ण हो जाता है तो माता-पिता इतने कुपित हो जाते हैं कि बच्चे को अनुत्तीर्ण होने का कष्ट जितना नहीं

सताता, उससे अधिक सताता है माता-पिता का क्रोध। यह क्रोध माता-पिता का मनचाहा न होने के कारण उत्पन्न होता है।

एक सास चाहती है कि नई वधू इतना दहेज लेकर आए। दहेज उतना नहीं मिला, इच्छा पूरी नहीं हुई, सास कुपित हो जाती है और कभी कभी यह क्रोध सीमा पार कर जाता है और प्राण घातक सिद्ध होता है।

क्रोध की उत्पत्ति का तीसरा कारण है—शरीर का स्वस्थ न होना। आदमी बीमारी का कष्ट भोगता है। धीरे-धीरे उसका स्वभाव चिडचिडा होता जाता है। कोई उसके स्वास्थ्य के विषय में पूछता है तो उस पर भी उबलते हुए कहता है—बार-बार क्या पूछ रहे हो? कितना भोग रहा हूं, क्या दिखाई नहीं देता? सहानुभूति दिखाने वाले पर भी वह बरस पड़ता है। उसे क्रोध का आवेश शीघ्र आने लगता है। यह क्रोध शारीरिक अस्वस्थता के कारण पैदा होता है। शारीरिक अस्वस्थता में यदि सेवा ठीक नहीं होती तो क्रोध की ज्वाला और अधिक भभक उठती है।

क्रोध की उत्पत्ति का चौथा कारण है—मानसिक अस्त-व्यस्तता। जब मन स्वस्थ नहीं होता, संतुलित नहीं होता तब क्रोध के उत्पन्न होने का अवसर रहता है। मानसिक अस्त-व्यस्तता में हितकारी और प्रिय बात भी गुस्सा उत्पन्न कर देती है।

क्रोध की उत्पत्ति का पांचवां कारण है—भोजन। मनुष्य के स्वभाव का और आहार का गहरा संबंध है। प्राचीन काल में भोजन के विषय में काफी ध्यान दिया गया था। आज के वैज्ञानिक फिर से इस बात पर ध्यान दे रहे हैं कि किस प्रकार का भोजन किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण करता है। भोजन का कार्य इतना ही नहीं है कि उससे भूख मात्र मिट जाए। यह तो एक उद्देश्य है। पर खाने के पश्चात् क्या-क्या होता है, यह जान लेना भी आवश्यक है। जो व्यक्ति भोजन पर, खाद्य पदार्थों पर, ध्यान नहीं देता, वह अपने जीवन में अनेक न्यूनताएं एकत्रित कर लेता है। अपराध, अहंकार, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियों को पैदा करने में आहार का बहुत बड़ा हाथ है। हमें यह अनुभव है कि जो व्यक्ति अधिक तामसिक भोजन करता है, मिर्च-मसाले खाता है, वह अधिक क्रोधी भी होता है।

क्रोध की उत्पत्ति का छठा कारण है—पित्त की प्रबलता। जिसमें पित्त की प्रबलता होती है, उसमें क्रोध अधिक उभरता है। जो वस्तुएं पित्त को बढ़ाती हैं, उनका सेवन करना, क्रोध को बढ़ाना है। भोजन पर ध्यान देना इसलिए जरूरी है कि जो खाए उसमें गर्मी बढ़ाने वाला न हो। वह उत्तेजना न बढ़ाए। पित्त शरीर के लिए आवश्यक है। पर उसकी अतिरिक्त वृद्धि हानिकारक होती है। संतुलन अपेक्षित है। पित्त पाचन के लिए

आवश्यक होता है। पर वह इतना बढ़ जाए कि क्षमा का भाव जागे ही नहीं। व्यक्ति केवल क्रोध ही करता रहे। अम्लता की वृद्धि चिड़चिड़ापन लाती है। दोनों जुड़े हुए हैं। जिसमें अम्लता अधिक होगी, वह अधिक चिड़चिड़ा होगा।

क्रोध की उत्पत्ति का सातवां कारण नहीं, अकारण है, कर्म का उदय। यह आन्तरिक कारण है, इसलिए इसे अकारण कहना चाहिए। आन्तरिक दृष्टि से कारण और बाह्य से अकारण। कर्मशास्त्र की भाषा में इसे हम कर्म का विपाक और शरीरशास्त्र की भाषा में इसे हम अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों का असंतुलन कह सकते हैं। कभी-कभी बिना किसी हेतु या कारण के ही आदमी गुस्से में आ जाता है। वह समस्या में उलझ जाता है, कुछ भी समझ नहीं पाता। आगमों में इसे आत्म-प्रतिष्ठित क्रोध कहा है। एक क्रोध होता है पर-प्रतिष्ठित अर्थात् बाहरी उद्दीपनों के आधार पर होने वाला क्रोध और एक होता है आत्म-प्रतिष्ठित—बिना किसी हेतु के होने वाला क्रोध। बाहरी कोई उद्दीपन या कारण नहीं, आदमी बैठा है और अकस्मात् क्रोध से आविष्ट हो जाता है। यह आन्तरिक कारण से उत्पन्न क्रोध है।

क्रोध की उत्पत्ति में देश और काल भी निमित्त बनते हैं। गर्मी का मौसम क्रोध आने के लिए बहुत अनुकूल है। काल भी क्रोध का उद्दीपन करता है। कुछेक देश या स्थान ऐसे होते हैं, जहां पर जाने से क्रोध अधिक उभरता है। कई व्यक्ति कहते हैं, मैं राजस्थान में रहता था तब बड़ा शांत था। दूसरे प्रदेश में चला गया तो मेरा स्वभाव चिड़चिड़ा बन गया, क्रोध अधिक आने लगा। इस घर में रहता था तो शांत रहता था। अब उस नए घर में रहने लगा हूं तो स्वभाव भी बदल गया है। अशांत रहने लगा हूं।

हमने क्रोध के कारणों पर विचार किया। अब हम उसके स्वरूप की मीमांसा करें। क्रोध सबको आता है। कोई भी आदमी ऐसा नहीं है, जिसे क्रोध न आता हो। केवल वीतराग अवस्था ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति क्रोध नहीं करता। उस अवस्था को जब तक वह व्यक्ति प्राप्त नहीं कर लेता, जब तक वह वीतराग नहीं बन जाता, तब तक वह क्रोध से सर्वथा छुटकारा नहीं पा सकता। व्यक्ति व्यक्ति में क्रोध की मात्रा का तारतम्य रहता है। हम मात्रा और अवधि इन दो दृष्टियों से विचार करें। कर्मशास्त्र में इन दो दृष्टियों पर विचार किया गया है और मनोविज्ञान ने तीव्रता और मंदता—इन दो दृष्टियों से विचार किया है। कर्मशास्त्र का चिन्तन और अनुभव बहुत पुराना है। हम उसकी चर्चा करें। मात्रा और अवधि, तीव्रता और मंदता—इनमें विशेष अन्तर नही है। कथन का प्रकार भिन्न-भिन्न है।

कर्मशास्त्र ने क्रोध को चार भागों में बांटा है—

१. एक वह क्रोध जो पर्वत की रेखा के समान गाढ होता है। चट्टान पर खड़ी रेखा अमिट बन जाती है। सैकड़ों-हजारों वर्षों तक वह लकीर बनी रहती है, मिटती नहीं।

२. एक क्रोध होता है भूमि की रेखा के समान। वह चट्टान की रेखा जितना तीव्र या स्थायी नहीं होता।

३. एक क्रोध होता है बालू की रेखा के समान। बालू में लकीर कुछ समय तक टिक पाती है। हवा के चलते ही वह मिट जाती है।

४. एक क्रोध होता है पानी पर पड़ी रेखा के समान। पानी पर रेखा पड़ती नहीं, मिट जाती है।

पहला तीव्रतम क्रोध है। दूसरा तीव्र है। तीसरा मंद है और चौथा मंदतर है।

क्रोध की ये चार स्थितियां हैं। तीव्रतम क्रोध की अवधि बहुत लम्बी होती है। अनेक जन्मों तक वह साथ रहता है, मिटता नहीं। यह चट्टान की रेखा की भांति अमिट होता है, मिटता ही नहीं। दूसरे क्रोध की स्थिति में तीव्रता कम हो जाती है। वह स्थिति भी वर्षों तक चल सकती है, पर बहुत लम्बी अवधि तक नहीं चल सकती। मिट जाती है। तीसरी बालू की रेखा। बालू की लकीर तब तक ही टिक पाती है जब तक हवा न चले। हवा चली और बालू की रेखा समाप्त। तीव्रता कम हो गई, मंदता आ गई। चौथी है पानी की रेखा। पानी पर रेखा खींची और समाप्त, खींची और समाप्त। वह क्षण भर के लिए भी नहीं टिकती। उसका टिकाउपन नहीं है। वह स्थायी नहीं होती। क्रोध आया और गया, आया और गया। कोई स्थायित्व नहीं होता।

क्रोध की तीव्रता और मंदता के आधार पर मनुष्य के चार प्रकार बन जाते हैं—

१. उत्तम पुरुष—क्षणस्थायी क्रोध।

२. मध्यम पुरुष—क्रोध की अधिकतम अवधि दो प्रहर।

३. अधम पुरुष—क्रोध की अवधि एक दिन-रात।

४. अधमाधम पुरुष—क्रोध की अवधि जीवन पर्यन्त।

उत्तम पुरुष का क्रोध कभी टिकता नहीं। आचार्य प्रवर बहुत बार कहते हैं, काम उचित ढंग से न होने पर क्षणभर के लिए आवेश आ जाता है। दूसरा समझ लेता है कि आचार्यश्री ने गांठ बांध ली है, अकृपा हो गई है। कभी कोई पूछता है तो मैं कहता हूं, आवेश आया तब आया। दूसरे ही क्षण मैं उसे भुला देता हूं। क्रोध रहेगा तो काम कैसे चलेगा?

सच है, उत्तम आदमी का क्रोध क्षणभर का होता है। आया और गया, आया और गया। मध्यम आदमी बात को शीघ्र ही मन से निकाल

नहीं पाता। कुछ समय लगता है। दो-चार घंटों में वह स्वभावस्थ हो जाता है। घटना को भुला देता है। अधम व्यक्ति बात को घोलता रहता है। उसे भुला नहीं पाता। वह सोचता है, एक बार टूटा सो टूट ही गया। अब जुड़ने की बात व्यर्थ है। वह निषेधात्मक भावों में बह जाता है। लंबे समय तक यह स्थिति बनी रहती है। अधमाधम व्यक्ति के मन की गांठ इतनी घुल जाती है कि वह जीवनभर खुलती ही नहीं। वह रेशम की ग्रन्थि बन जाती है।

मात्रा, काल, तीव्रता और मंदता की दृष्टि से हमने क्रोध पर विचार किया। तीव्रता और मंदता का बाह्य और आन्तरिक परिणाम भी होता है।

आन्तरिक परिणाम यह है—

२. तीव्रतम क्रोध—मिथ्या दृष्टिकोण की प्रबलता।
सम्यक्त्व का अलाभ।

२. तीव्र क्रोध—देशव्रत—आंशिका व्रत की अप्राप्ति।

३. मंद क्रोध—महाव्रत या संयमी जीवन का अभिघात।

४. मंदतर क्रोध—यथाख्यातचारित्र—उत्कृष्ट चारित्र की अप्राप्ति।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इनकी तीव्रतम आदि चार अवस्थाओं को पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है—

१. अनन्तानुबंधी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

२. अप्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ।

३. प्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ।

४. संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

हमने क्रोध आदि के आन्तरिक परिणामों की चर्चा की। उसके बाह्य परिणाम हैं—संघर्ष, कलह, गालीगलौज, मारपीट, घर में नरक का-सा वातावरण पैदा कर डालना, आदि-आदि।

क्रोध जीवन का अभिशाप है। उसको नियंत्रित करने का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। कुछेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो पूरी बात को सुने या समझे बिना ही क्रोध में आ जाते हैं। उनमें इतना धैर्य भी नहीं है कि वे शांत चित्त से बात को सुन सकें, सोच-विचार सकें। यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक है।

अभ्यास के द्वारा क्रोध पर नियंत्रण किया जा सकता है। अभ्यास के दो सूत्र हैं। एक है प्रेक्षा का और दूसरा है अनुप्रेक्षा का। क्रोध के उत्पन्न होने का केन्द्र हमारे मस्तिष्क में है। हाथ उठता है, पर क्रोध हाथ से पैदा नहीं होता। लात उठती है, पर क्रोध लात से पैदा नहीं होता। क्रोध पैदा होता है मस्तिष्क में। इसलिए मस्तिष्क के अमुक केन्द्र पर ध्यान एकाग्र

करने से क्रोध शांत हो सकता है। ज्योतिकेन्द्र और शांतिकेन्द्र पर ध्यान करने से क्रोध के उपशमन में बहुत बड़ी सफलता मिल सकती है।

क्रोध को शांत करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है अनुप्रेक्षा का अभ्यास। मृदुता और क्षमा की अनुप्रेक्षा करने से क्रोध की स्थिति बदल जाती है। व्यक्ति का चिड़चिड़ापन कम हो जाता है और तब बात-बात में उत्तेजित होने का अवसर समाप्त हो जाता है।

क्रोध को शांत करने का तीसरा उपाय है—सम्यक् चिन्तन, सही सोचना। व्यक्ति को प्रत्येक परिस्थिति में समग्रता से सोचना चाहिए कि मैं कौन हूं। मैं अभी किस स्थान पर हूं? मेरा क्या दायित्व है? मुझे क्या करना है? जो समग्रता से सोचता है वह सहसा क्रोध में नहीं आता। वह क्रोध को टालता है और उससे अप्रभावित होने का प्रयत्न करता है। वह क्रोध को विफल करने की दिशा में प्रस्थित होता है। क्रोध को विफल करने के अनेक हेतु हैं। उनमें एक हेतु है—विनोदप्रियता, विनोद की प्रकृति। विनोद तीव्रतम क्रोध को भी विफल बना डालता है। वह आग में पानी का काम करता है। आग बुझ जाती है। जिसने विनोद का अभ्यास किया है, जिसने अपनी प्रकृति को उस रूप में ढाला है, वह क्रोध का उमशमन कर सकता है और शांत-प्रशांत रह सकता है। क्रोध के उपशमन के और-और उपायों में यह महत्त्वपूर्ण और सशक्त उपाय है।

चीन देश की बात है। एक बार सामन्तों ने सोचा, हम बगावत कर सत्ता को क्यों न हथिया लें। सभी बागी एकत्रित हुए और राजधानी पर आक्रमण कर डाला। चीन के सम्राट् को पता चला। उसने अपने सैनिकों को एकत्रित किया। वे बोले, हम आपके लिए प्राण देने के लिए तैयार हैं। हम मरेंगे, लड़ेंगे और उनको परास्त कर देंगे। युद्ध हुआ। सामन्त पराजित हो गए। उनको मौत दीखने लगी। सम्राट् ने दूसरे तरीके से सोचा। उसने सभी बागी सामन्तों को बुलाया और कहा— मैं जानता हूं कि बच्चा तभी रोता है जब वह भूखा-प्यासा होता है। तुम्हें भी कोई न कोई कष्ट है, इसलिए बगावत की है। यदि तुम्हें कोई पीड़ा नहीं होती तो कभी बगावत नहीं करते, यह मैं समझता हूं। मैं अब तुम सबकी सेवा करने के लिए तैयार हूं। जो चाहो मांगो।

सारे सामन्त अवाक् रह गए। उनके सिर झुक गए। सम्राट् ने उन्हें क्षमादान दिया। वे चले गए।

प्रधान मंत्री ने सम्राट् से कहा—यह आपने क्या किया? आपने तो कहा था कि शत्रुओं को कुचल दूंगा। आपने तो किसी को कुचला ही नहीं, सबको मुक्त कर दिया। आपको चाहिए था कि शत्रुओं का अन्त कर देते। सम्राट ने कहा, शत्रु कोई बचा ही नहीं, किसको कुचलूं।

सम्राट् के विनोदी स्वभाव ने सारी स्थिति में परिवर्तन कर दिया। शत्रु मित्र हो गए। सारा राज्य निष्कंटक हो गया।

वर्तमान की घटना है। उस समय लोकसभा के अध्यक्ष थे गुरुदयालसिंह ढिल्लो। संसद चल रही थी। एक सदस्य ने प्रश्न उठाते हुए कहा— अध्यक्ष महोदय! अमुक पत्र ने लोकसभा की अवमानना की है। जहां अध्यक्ष महोदय का फोटो छापना था वहां ब्रिगेडियर ढिल्लो का फोटो छाप दिया। सभी सदस्य बोल उठे, यह अपराध है। ढिल्लो ने हंसते हुए कहा— इस पर तो मेरी पत्नी को आपत्ति होनी चाहिए थी, माननीय सदस्यों को क्यों आपत्ति हो? इतना कहते ही सारा वातावरण हास्यरस में बदल गया। सभी शांत हो गए।

हमने क्रोध के उपशमन और उदात्तीकरण के कुछेक उपायों की चर्चा की। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा का प्रयोग, सम्यक् चिन्तन, दायित्व की अनुभूति, विनोदी स्वभाव— ये ऐसे कारण हैं जिनसे क्रोध का उपशमन और उदात्तीकरण होता है। क्रोध का संपूर्ण विलयन या क्षय होना तो बहुत दूर की बात है, वीतराग अवस्था में प्राप्त होने वाला परिणाम है, किन्तु हम क्रोध को विफल करने और उसका उदात्तीकरण करने का मार्ग हस्तगत कर लें। यह परिष्कार का मार्ग है। धीमे-धीमे परिष्कार होता जाएगा और तब क्रोध की तीव्रता और सीमा घटती चली जाएगी। उसकी काल-अवधि भी सिकुड़ जाएगी। उसको उद्दीपन की सामग्री मिलने पर भी वह उद्दिप्त नहीं होगा। यदि इतना होता है तो मैं समझता हूं कि हमने अपनी मंजिल का एक पड़ाव पार कर लिया है।

१२

समस्या कलह की

समस्या है मौन की। पहले हम इस पर विचार करें। प्रेक्षाध्यान के शिविर में लोग मौन का अभ्यास करते हैं। अन्यान्य अध्यात्म के क्षेत्रों में हजारों-हजारों लोग मौन का अभ्यास करते हैं। कोई एक वर्ष का, कोई बारह वर्ष का, कोई एक माह का, कोई एक दिन-रात का और कोई दिन में दो-चार घंटों का अभ्यास करता है। यह बहुत अच्छी साधना है। किन्तु मैं इस मौन का अर्थ समझ नहीं पाया हूं। जब कोई स्थिति सामने नहीं है, तब तो मौन और जब स्थिति सामने होती है मौन रहने की तब मौन खुल जाता है। कलह के प्रसंग में अ-मौन और कलह के अ-प्रसंग में मौन। भोजन किया बारह बजे। अब दो घंटा विश्राम करना है, तब मौन। नींद में कौन बोलेगा? किससे बोलेगा? रात को मौन। अकेले में मौन और दूसरा सामने है तब अमौन। मैं नहीं समझ सका कि मौन का अर्थ क्या है?

आचारांग सूत्र का एक प्रसंग पढ़ा तो मौन का वास्तविक अर्थ कुछ समझ में आया। पर वह व्यवहार में नहीं उतर रहा है। वहां प्रसंग है, एक मुनि है। किसी दूसरे संप्रदाय के मुनि या गृहस्थ ने उसे कुछ पूछा। मुनि जो जैसा जानता था, उत्तर दे दिया। पर प्रश्न करने वाला कहता है कि यह हेतु उचित नहीं है। मुनि ने कहा—यह हेतु और तर्क ठीक है। पर सामने वाला अपनी बात पर अड़ा हुआ है और कहता है, ऐसा हो ही नहीं सकता, तीन काल में भी ऐसा नहीं हो सकता। अब मुनि क्या करे? क्या उससे कलह करे? लड़े? भगवान् ने कहा—ऐसी स्थिति में वाणी की गुप्ति कर ले, मौन कर ले। ठीक है। जो मैं जानता हूं वह बता दिया। अब उसे मानो या न मानो, यह तुम्हारी इच्छा। मैं कौन होता हूं मनवाने वाला। मेरे पास मनवाने का कोई अधिकार भी तो नहीं है। कोई साधन नहीं है। जो मानना चाहता ही नहीं, उसे ईश्वर भी नहीं मनवा सकता। राजा किसी को मार सकता है, पर मनवा नहीं सकता। मनवाने की बात दुनिया में नहीं है। यह कितना सुन्दर निदर्शन है कि तुम स्वयं वाग्गुप्ति कर लो, मौन हो जाओ।

जो तत्त्व जाना हुआ नहीं है तो स्पष्ट कह दो, मैं नहीं जानता और मौन हो जाओ। यह मौन का प्रयोग समझ में आता है। किन्तु दिन भर कलह करना, गालीगलौज करना, लड़ना और घंटा, दो घंटा मौन करना, यह

कैसा मौन ! इसका अर्थ क्या है ? मौन वहां करो जहां विवाद, कलह और संघर्ष की स्थिति हो । यहां मौन का अर्थ समझ में आ सकता है। कोई व्यक्ति यह संकल्प ले कि जहां कोई व्यक्ति विवाद खड़ा करेगा, कलह करेगा, गाली देगा, वहां मैं मौन हो जाऊंगा, वाणी का संयम कर लूंगा। यह मौन का अभ्यास और प्रयोग समझ में आ सकता है। पर जो आज चल रहा है, उसका प्रयोजन समझ से परे है । अभ्यास इसलिए कि मौन की स्थिति आने पर मैं सहजयता मौन कर सकूं। ग्यारह बजे लड़ाई होती है और मैं मौन करता हूं बारह बजे या एक बजे । इसका अर्थ क्या हुआ ? मौन का फलित क्या हुआ ?

कलह के अनेक कारण हैं । उनमें एक है—रुचिभेद । यह भी भोजन से अधिक संबंधित है । किसी को कुछ रुचता है और किसी को कुछ । सबकी रुचि समान नहीं होती । भोजन में रुचिभेद बहुत होता है, अतः भोजन कलह का अखाड़ा बन जाता है । थाली को ठोकर भोजन के समय ही लगती है। गालियां बकने या पत्नी को बुरा भला कहने का समय भी भोजन-काल ही है । मन की ऊमस भी उसी समय निकलती है । यदि कोई व्यक्ति भोजन के समय मौन रखता है तो वह कलह-निवारण का एक उपाय है, प्रयोग है और मौन का अर्थ समझने का निदर्शन है ।

कलह का दूसरा कारण है—चिन्तन का भेद । एक व्यक्ति कुछ सोचता है और दूसरा उससे ठीक विपरीत सोचता है । हर व्यक्ति में सोचने की भिन्नता होती है । चिन्तन का जहां भेद होता है, वहां कलह की आशंका होती है । जब चिन्तन का भेद उभर कर सामने आए, वहां मौन का प्रयोग होना चाहिए । व्यक्ति जब मौन हो जाता है तब भेद आगे नहीं बढ़ता। यहां 'मौनं शरणं गच्छामि' का तात्पर्य स्पष्ट समझ में आ जाता है ।

कलह का तीसरा कारण है—आग्रह । बात की इतनी पकड़ हो गई कि टूट भले ही जाए पर उसमें ढील नहीं दी जा सकती । कुछ भी हो जाए, मैं अपना आग्रह नहीं छोड़ूंगा, ऐसी स्थिति में कलह बढ़ता चला जाता है ।

दो भाई थे । पिताजी का देहावसान हो गया । परस्पर बड़ा प्रेम था, सौहार्द था । परिवार बढ़ा । दोनों भाई बंटवारा कर अलग-अलग होते हैं । सारा बंटवारा हो गया । घर में सुपारी का एक पेड़ था । उसके बंटवारे के विषय में दोनों भाई अड़ गए । बड़े ने कहा, सुपारी का पेड़ मैं रखूंगा । छोटे ने कहा, नहीं, यह मैं रखूंगा । दोनों में तनातनी हो गई । सोचा दोनों ने नहीं । एक के पास रहता तो दूसरे को सुपारी खाने को तो मिलती । पर दोनों अड़ गए । बात तन गई । मुकदमा चला । विद्वान् और अनुभवी न्यायाधीश ने दोनों को समझाया । दोनों बात पर अड़े थे । न्यायाधीश ने फैसला दिया—पेड़ को काट कर उसकी लकड़ी आधी-आधी दोनों को दे दी

जाए। दोनों देखते रह गए।

क्या इसका समाधान मौन नहीं था? एक व्यक्ति अपने आग्रह को छोड़ देता, मौन हो जाता तो फैसला हो गया होता। पर आग्रही मनोवृत्ति ने दोनों को पछाड़ डाला।

एक वार दो भाई बंटवारे के समय आटा पीसने की चाकी के लिए अड़ गए। अन्त में पंचों ने यह फैसला दिया कि चाकी के दो पाट होते हैं। एक पाट बड़े भाई को दे दिया जाए और एक पाट छोटे भाई को सौंप दिया जाए। वैसा ही किया गया। अब न आटा बड़ा भाई पीस पाता है और न छोटा भाई। दोनों के लिए चाकी वेकार हो गई।

इस आग्रहीवृत्ति के कारण कलहपूर्ण वातावरण पैदा हो जाता है। इस स्थिति में यदि एक व्यक्ति मौन का प्रयोग करता है तो मौन का अर्थ समझ में आ सकता है।

अनेक व्यक्ति मौन करते हैं। अन्यान्य स्थानों पर लगने वाले शिविरों में मौन का कड़ाई से पालन कराया जाता हैं। मैं भी मानता हूं कि मौन वहुत आवश्यक है। पर मौन का अर्थ जव तक मेरे गले न उत्तर जाए तव तक कड़ाई नहीं वरत सकता। मौन का अर्थ भी विचित्र-सा हो गया है। दस-दिन तक तो मौन रह जाते हैं, ग्यारहवें दिन जव घर जाते हैं तव वैसे के वैसे वने रहते हैं। यह न समझें कि ध्यान-काल में विशेष मौन करना ही है। ध्यान में मौन आ ही जाता है। मौन का अर्थ समझ लेना है कि मौन कव करना चाहिए, कहां करना चाहिए? जव तक इस देश और काल के निर्धारण का अववोध सम्यक् नहीं हो जाता तव तक मौन करना उपयोगी नहीं होगा। मौन वहां करना है जहां विवाद और संघर्ष वढ़ने की आशंका हो। जहां चिन्तन, रुचि का भेद हो, आग्रह हो वहां मौन का अर्थ है। वहां मौन का अभ्यास आवश्यक है। न वोलने का अभ्यास नहीं, किन्तु संघर्ष की स्थिति में न वोलने का अभ्यास। एक है न वोलने का अभ्यास। दूसरा है वैसे प्रसंगों में न वोलने का अभ्यास। दोनों दो वातें हैं। जहां प्रतिक्रिया का प्रसंग हो वहां न वोलने का अभ्यास फलदायी होता है। प्रतिक्रिया के क्षण में मौन लाभदायक होता है और यही है वह क्षण जव मौन करना आवश्यक होता है। हम यह संकल्प करें कि ऐसे क्षणों में मौन का अभ्यास करेंगे। इस प्रकार के मौन को मैं वहुत सार्थक मानता हूं और ऐसे मौन के लिए कड़ाई भी की जा सकती है। किन्तु अमुक समय तक न वोलना या मौन रहना, यह कोई सार्थक वात नहीं है। हमें मौन के प्रयोग को वदलना चाहिए। तपस्या का प्रयोग, मौन का प्रयोग, मनोगुप्ति और वाक्गुप्ति का प्रयोग—ये सव महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। सारे प्रयोग शांत सहवास से सुरक्षित होते हैं। ये सारे प्रयोग शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, शांतिपूर्ण जीवन को वढ़ाने

वाले होते हैं तब तो इनकी संपूर्ण सार्थकता है, अन्यथा इनका फलित सीमित हो जाता है। जीवन में निरन्तर अशांति रहे, संघर्ष रहे और व्यक्ति ध्यान भी करता जाए, मनोगुप्ति, और वचनगुप्ति भी करे, मौन भी करे तो क्या प्रयोजन ? उनका फलित क्या होगा ? ऐसी स्थिति में इन प्रयोगों का अर्थ भी कम हो जाता है।

कलह का चौथा कारण है—स्वार्थवृत्ति। जहां स्वार्थ टकराता है वहां कलह पैदा हो जाता है। मौन से इसको टाला जा सकता है। जब स्वार्थ टकराए, तत्काल मौन कर लेने पर संघर्ष की स्थिति टल जाती है। या तो यह स्थिति स्वार्थ को त्यागने से टलती है या मौन से टलती है। स्वार्थ के टकराने के समय जीभर कर बोला, गालियां दीं। ऊटपटांग बकवास किया और चार बजे कहता है, मेरे मौन का समय है। अब मैं घंटा भर मौन रहूंगा। ऐसी स्थिति में मौन बेचारा शरमा जाता है। स्वार्थ के टकराहट का प्रसंग मौन करने का उत्तम काल है।

कलह का पांचवां कारण है—सचाई का ज्ञान होना, यथार्थ की जानकारी रहना। सचाई को न जानने के कारण गलतफहमी रहती है और इससे कलह उभर आता है। जब सचाई की यथार्थ जानकारी होती है तब कलह स्वयं समाप्त हो जाता है। सही घटना या स्थिति को न जानना कलह का बहुत बड़ा कारण है। ज्योंही वस्तुस्थिति की यथार्थता सामने आती है, एक मिनिट में कलह समाप्त हो जाता है, अनुताप शेष रहता है कि अरे ! मुझे तो यह ज्ञात ही नहीं था।

एक राजा था। उसकी रानी प्रव्रजित हो गई, साध्वी बन गई। उसके दो पुत्र थे। एक राज्य का संचालन कर रहा था और दूसरा चांडाल के घर रह रहा था। चांडाल के घर जो पला वह शक्तिशाली हो गया और उसने सैनिकों को जुटा भाई के राज्य पर आक्रमण कर डाला। पर दोनों एक दूसरे से अजान थे। रणभेरी बज उठी। साध्वी को पता चला। उसे यथार्थ स्थिति ज्ञात थी। उसने सोचा, युद्ध यदि हुआ तो अनर्थ हो जाएगा। हजारों निरपराध सैनिक मारे जाएंगे और न जाने कौन जीतेगा, कौन हारेगा ? कौन भाई मरेगा, कौन जीएगा ? साध्वी रणांगण में आई। एक खेमे में जाकर कहा—जिससे तू लड़ना चाहता है वह तेरा सगा भाई है। मेरी कोंख से ही जन्मा हुआ है। दूसरे खेमे में गई। वहां भी यही कहा। दोनों को यथार्थता का ज्ञान हुआ। सोचा, अरे ! यह कैसा युद्ध ! भाई के साथ युद्ध ! दोनों का रणभूत भाग गया। दोनों आए। गले मिले और रणभूमि प्रेमभूमि बन गई।

कलह का बहुत बड़ा कारण है वस्तुस्थिति का अज्ञान। यहां अध्यात्म,

प्रेम और मौन का प्रयोग कर समस्या को सुलझाया जा सकता है।

समस्या का समाधान खोजना है। समाधान मौन है। मौन कहें या त्याग—दोनों एक हैं। जब-जब मैंने अध्यात्म की गहराइयों में जाकर उसे समझने का प्रयत्न किया, मुझे लगा कि त्याग को छोड़कर कोई अध्यात्म है ही नहीं। अध्यात्म का अर्थ है—छोड़ते चलो, त्यागते चलो। लेने की बात अध्यात्म में नहीं है। अध्यात्म न खेती करता है, न राज्य चलाता है, न उद्योग चलाता है और न व्यापार-व्यवसाय करता है। उसके पास लेने की नहीं, केवल छोड़ने की बात शेष रहती है। छोड़ते चलो, छोड़ते चलो। त्याग, त्याग और त्याग।

दुनिया में दो शक्तियां काम करती हैं। एक है भोग की शक्ति और दूसरी है त्याग की शक्ति। भोग की शक्ति में बटोरने की बात होती है, लेते जाओ, लेते जाओ। त्याग की शक्ति में छोड़ने की बात प्राप्त होती है, छोड़ते जाओ, छोड़ते जाओ। व्यक्ति बटोरने के एक बिन्दु से चलता है और चलते-चलते वह बिन्दु विराट् होकर सारे संसार को बटोरने की बात तक फैल जाता है। आरम्भ एक बिन्दु से होता है और अन्त में वह पूरे ब्रह्मांड को अपने वक्ष में समेट लेता है। इतना विस्तार! यह है भोग का साम्राज्य।

त्याग का सूत्र है, सिमटते जाओ, सिमटते जाओ। सिमटते-सिमटते द्वैत से अद्वैत में आ जाओ।

भोग है विस्तारवाद, भेदवाद, द्वैतवाद और त्याग या संयम है संग्रहवाद, अभेदवाद, अद्वैतवाद।

त्याग और भोग—दोनों महाशक्तियां हैं, बड़ी शक्तियां हैं।

भोग की शक्ति विस्तार के लिए चलती है। विस्तृत होते-होते वह सबको अपने में समेट लेना चाहती है। यह सभी कलहों की जननी है। इसके निवारण का एकमात्र उपाय है त्याग। भोग के समक्ष त्याग को लाकर खड़ा करो तो सारे कलह समाप्त हो जाते हैं। अब हम उल्टे चलें। चिंतन का भेद कलह उत्पन्न करता है, चिंतन का त्याग कलह को शांत करता है। रुचिभेद कलह पैदा करता है। रुचिभेद का संवरण कलह को समाप्त करता है। आग्रह कलह पैदा करता है और अनाग्रह कलह को समाप्त करता है। स्वार्थ कलह पैदा करता है और स्वार्थ-त्याग प्रेम बढ़ाता है, कलह को मिटाता है। अज्ञान कलह बढ़ाता है और यथार्थ का ज्ञान उसका उपशमन करता है। दोनों शक्तियां—त्यागशक्ति और भोगशक्ति—अपना-अपना काम करती हैं। इन दोनों का ठीक विश्लेषण करें। भोग के प्रतिपक्ष में त्याग, अज्ञान के प्रतिपक्ष में ज्ञान, आग्रह के प्रतिपक्ष में अनाग्रह और स्वार्थ के प्रतिपक्ष में अस्वार्थ रहे तो कलह का समाधान हो सकता है।

प्रेक्षाध्यान के सभी प्रयोग त्याग को बढ़ाने के लिए, संयम को वृद्धिगत करने के लिए किए जा रहे हैं। यदि यह बात पूर्ण रूप से हृदयंगम हो जाती है तो प्रेक्षाध्यान की सार्थकता है और यदि इन सारे प्रयोगों को भोग की वृद्धि के साधनमात्र समझ कर करते हैं तो प्रेक्षाध्यान की व्यर्थता है।

भिखारी एक घर पर रुका और बोला—'बाबूजी ! रोटी चाहिए।' भीतर से उत्तर आया—'बीबी घर में नहीं है।' भिखारी बोला—'मुझे बीबी नहीं चाहिए, रोटी चाहिए।'

त्याग की चेतना जागे बिना अध्यात्म का विकास नहीं हो सकता और अध्यात्म के विकास के बिना ध्यान की सार्थकता कम हो जाती है। ध्यान वही कर सकता है जिसमें अध्यात्म की चेतना जाग जाती है। अध्यात्म की चेतना उसी में जागृत होती है जिसमें त्याग की चेतना जागती है।

प्रश्न है कि अध्यात्मवादी कौन और भौतिकवादी कौन ? इनके अनेक अर्थ किए गए, पर वे सभी अर्थ हमारी समझ से परे हैं। हम समझें, अध्यात्मवादी वह है जिसमें वैराग्य है, पदार्थ के प्रति त्याग है, पदार्थ के प्रति अनाकर्षण है। जिसमें त्याग और वैराग्य की चेतना जागृत है, वह अध्यात्मवादी है। भौतिकवादी वह है जिसमें पदार्थ का आकर्षण दिनोदिन बढ़ता जाता है और जो पदार्थ में ही त्राण खोजता है, जिसमें भोग की चेतना जागृत है, अविरक्ति है, वह भौतिकवादी होता है।

त्याग और वैराग्य—शब्द भिन्न हैं, पर तात्पर्यार्थ में एक हैं। जिसमें त्याग और वैराग्य की भावना जाग गई वह अध्यात्म की ओर अभिमुख हो गया। वही यथार्थ में ध्यान का अधिकारी है।

हम इस सचाई को स्पष्ट समझ लें कि प्रेक्षाध्यान का अभ्यास त्याग की चेतना से जुड़ा हुआ अभ्यास है। ध्यान की यह धारा दो तटों के बीच बह रही है। इस तट पर भी त्याग है और उस तट पर भी त्याग है। यदि दो शब्दों में कहना चाहें तो इस तट पर त्याग और उस तट पर वैराग्य। त्याग और वैराग्य—इन दो तटों के बीच ध्यान की धारा बह रही है। इन्हीं के बीच यह अग्रसर हो सकती है। ये दो तट नहीं हैं तो यह धारा भी नहीं बह सकेगी। फिर या तो बाढ़ बनेगी जो दूसरों के लिए खतरा साबित होगी। ध्यान भी खतरा बन सकता है। आज के भगवान् या योगी ध्यान को खतरा बना रहे हैं। हमें इस खतरे से बचना है। हम इन दोनों तटों—त्याग और वैराग्य को मजबूत बनाएं, तभी ध्यान की निर्मल धारा आगे बढ़ेगी और जीवन में नया आनन्द, नया अनुभव और नई सरसता पैदा करेगी। इससे जीवन में निरन्तर प्राण-संचार होता रहेगा और तब व्यक्ति शक्ति और प्रेम का जीवन जीने में समर्थ होगा।

१३

समस्या है उदासी की

मानसिक अवस्थाएं दो प्रकार की होती हैं। एक मानसिक अवस्था है प्रफुल्लता की और दूसरी है उदासी की। एक खिला हुआ फूल और एक मुरझाया हुआ फूल। विकसित फूल सवको मनभाता है। मुरझाया हुआ फूल अच्छा नहीं लगता, वेचैनी पैदा कर देता है।

प्रफुल्लता या प्रसन्नता वहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह टिक नहीं पाती। समाज और परिवार का वातावरण तथा व्यक्ति का आन्तरिक वातावरण—ये तीनों ऐसे हैं जो प्रसन्नता को टिकने नहीं देते। व्यक्ति समस्याओं से घिर जाता है।

हम सवसे पहले आन्तरिक वातावरण के विषय में कुछ सोचें, समझें। आन्तरिक वातावरण व्यक्ति का निजी होता है। उसको प्रफुल्लित वनाए रखना वहुत कठिन काम है। व्यक्ति उदास होता है। इसका कारण है कि ग्रन्थियों के रसायन, स्राव संतुलित नहीं होते। उदासी अकारण आ जाती है। मस्तिष्क का एक रसायन है—जेराटोनिन। इसकी कमी या असंतुलन उदासी का कारण वनता है। थाइराइड ग्रंथि का स्राव कम होता है, उदासी छा जाती है। एड्रीनल ग्रंथि का स्राव असंतुलित होता है, उदासी आ जाती है। ग्रन्थियों के असंतुलित स्राव के कारण उदासी उभरती है। मस्तिष्क में एक रसायन होता है—वीटा एन्डोरफिन, जो मनोभावों को प्रभावित करता है। जव वह रसायन पूरा नहीं वनता तव उदासी छा जाती है। तो रासायनिक असंतुलन, ग्रन्थियों का अस्राव—यह उदासी का आन्तरिक कारण है। निषेधात्मक दृष्टिकोण भी उदासी का आन्तरिक कारण है।

दूसरा है परिवार का वातावरण। यह भी उदासी का कारण वनता है। परिवार में नाना प्रकार के लोग हैं, नाना प्रकार की समस्याएं हैं। वे अनेक प्रकार की परिस्थितियां पैदा कर डालते हैं और व्यक्ति उदास हो जाता है। परिवार का सदस्य उदासी से घिर जाता है। उसकी प्रसन्नता गायव हो जाती है। पारिवारिक और घरेलु स्थितियां जो मन के अनुकूल नहीं होतीं, वे उदासी का हेतु वनती हैं। परिवार में वेटा और वहू—दोनों प्रसन्न रहने वाले हैं। किन्तु परिवार के अन्यान्य सदस्य उन दोनों को निरन्तर टोकते रहते हैं, कमी दिखाते रहते हैं, ताना कसते रहते हैं तो दोनों उदास हो जाते हैं। उनकी प्रसन्नता खिन्नता में वदल जाती है।

पारिवारिक वातावरण भी उदासी का मुख्य हेतु है।

तीसरा है समाज का वातावरण। समाज अनेक व्यक्तियों का समूह है। वहां अनेक प्रकार की समस्याएं और स्थितियां पैदा होती हैं और आदमी उदास हो जाता है। वह उन सामाजिक स्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

इस प्रकार आन्तरिक वातावरण, पारिवारिक वातावरण और सामाजिक परिवेश उदासी के हेतु बनते हैं।

उदासी मानसिक विकार है। डिप्रेशन एक बड़ा रोग है। उदास व्यक्ति अपनी क्षमताओं का ठीक उपयोग नहीं कर सकता। उसकी शक्तियां मुरझा जाती हैं, क्षीण हो जाती हैं, सिकुड़ जाती हैं। प्रसन्न रहने वाला अपनी शक्तियों का सही उपयोग कर सकता है। प्रश्न होता है कि उदासी से मुक्ति पाने का उपाय क्या है? वैज्ञानिकों ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका सुझाव है कि पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में होता है तो व्यक्ति उदासी से छुटकारा पा लेता है। पोषक आहार के अभाव में उदासी तत्काल आ जाती है। जिस आहार में विटामिन्स और एमिनो एसिड का उचित संतुलन होता है तो उदासी का एक हेतु समाप्त हो जाता है।

उदासी को निरस्त करने का दूसरा उपाय है, स्वयं की समस्या का समाधान स्वयं में खोजने की चेष्टा। समस्या आती है, आदमी उलझ जाता है, घुटने टिक जाते हैं और तब उदासी छा जाती है। समस्या प्रत्येक व्यक्ति के सामने आती है। ऐसा छोटा-बड़ा, एक भी आदमी नहीं है जिसके सामने समस्याएं न हों। समस्या आए और उसके समाधान की चेष्टा हो तो उदासी नहीं आती। सचेष्टता उदासी को नष्ट करने का उपाय है।

हम योग साधना में श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। यह अभ्यास एकाग्रता को साधने का अभ्यास है। एकाग्रता सध जाने पर भी यदि श्वास-प्रेक्षा और शरीर-प्रेक्षा ही की जाती रहे तो यह ध्यान का सम्यक् या पूर्ण उपयोग नहीं है। एकाग्रता सध जाने पर विचय ध्यान करना होता है। विचय का अर्थ है, एक समस्या को लें और उस पर विचार करते चलें। उस पर एकाग्र होते चलें। इसी चिन्तन में आगे बढ़ते चलें। प्रतीत होगा कि समस्या का समाधान हो गया है, समस्या सुलझ गई है। यदि एक बार में समाधान न हो तो दूसरी बार, तीसरी बार भी प्रयत्न करें। समाधान मिल जाएगा।

ध्यान का मुख्य प्रयोजन है सचाई को खोजना, समस्या का समाधान पाना। समस्या का अर्थ है—अयथार्थ या झूठ। कोई झूठ सामने आ गया। अब उसका समाधान खोजना है तो बस समस्या या झूठ की यथार्थता को खोजें, न कि उस झूठ में उलझ जाएं। सचाई को खोजें। केवल उसी में लगे

रहें। निरन्तर उसी का चिन्तन चले। समाधान मिल जाएगा। ध्यान के द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान हुआ है, समाधान खोजे गए हैं। दुःख क्यों है? दुःख क्यों होता है? उसका स्रोत कहां है? इस समस्या को लेकर बैठें। ध्यान में समाधान मिल जाएगा। ध्यान के द्वारा उन सभी समस्याओं का समाधान मिल जाता है जिनका समाधान बाहर नहीं खोजा जा सकता, नहीं मिलता। यह विचय ध्यान का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उदासी स्वयं एक समस्या है। इसका समाधान स्वयं खोजें। अपनी समस्या को स्वयं सुलझाएं। दूसरों के पास जाकर समस्या का समाधान पूछेंगे तो उत्तर मात्र मिलेगा, आप सुन लेंगे, पर उदासी मिटेगी नहीं। समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी। किसी ने बौद्धिक प्रश्न किया और उसे बौद्धिक उत्तर मिला। उसका बौद्धिक समाधान हो गया। किन्तु उदासी बौद्धिक समस्या नहीं है, मानसिक समस्या है। भोगी जा रही है। भोग तो आप रहे हैं और समाधान कोई दूसरा दे, यह कैसे संभव होगा? दूसरे के द्वारा यह समस्या सुलझ नहीं सकती। यह तो स्वयं के द्वारा ही समाहित हो सकती है। आप स्वयं ध्यान में जाकर उसके समाधान का उपाय पा सकते हैं और समस्या का समाधान कर सकते हैं। यदि ध्यान का सम्यक् प्रयोग हो तो यह बात असंभव नही है। ध्यान केवल मनोरति की वस्तु नहीं है कि ध्यान किया और मन आनन्द से भर गया। ध्यान का उद्देश्य आनन्द आना मात्र नहीं है। आदमी विश्राम करता है, आनन्द आता है। आदमी दो-चार मील घूम कर आता है और आते ही ठंडा स्थान मिल जाता है विश्राम के लिए तो वह आनन्द का अनुभव करता है। भूख लगी, मनोज्ञ भोजन मिला तो आनन्द आयेगा। प्यास लगी और ठंडा पेय पीने के लिए मिल गया तो आनन्द की अनुभूति होगी। यदि ध्यान और कायोत्सर्ग का काम इतना ही है तो यह कोई विशिष्ट बात नहीं है। कायोत्सर्ग किया, तनाव मिट गया। शिविर में दस दिन रहे, खूब आनन्द का अनुभव हुआ। क्योंकि न बाजार जाना, न रसोई पकानी और न अन्यान्य श्रम करना, न कमाना और न सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाना। आराम ही आराम। विश्राम ही विश्राम। आनन्द ही आनन्द। यह तो बहुत छोटी बात है। हम यथार्थ को समझें। ध्यान और कायोत्सर्ग का मतलब कोरा आनन्द आना नहीं है। यह तो होगा ही। साथ-साथ उसका मूल प्रयोजन है सचाई को समझ कर अपनी समस्या को सुलझाना। यदि यह तथ्य हृदयंगम होता है तो ध्यान का प्रयोजन सिद्ध होता है।

विचय ध्यान का मार्ग सचाई को जानने का सही मार्ग है। निर्विचार या निर्विकल्प ध्यान से भी सचाइयां ज्ञात होती हैं, पर यह दीर्घ पथ है, लंबा रास्ता है। बहुत लंबा मार्ग और बहुत लंबा समय। विचय का मार्ग सरल है, छोटा है और थोड़े समय में वहां पहुंचा जा सकता है। यह प्राथमिक

मार्ग है। जापान में जैन ध्यान पद्धति चलती है। उसमें समस्या के सहारे ध्यान की गहराई में जाया जाता है, एकाग्रता साधी जाती है। समस्या विभिन्न ढंग से दी जाती है। शिष्य ध्यान का प्रशिक्षण लेने आया। आचार्य ने कहा—चावल खाना है, पर पीछे एक दाना भी नहीं छोड़ना है। यह पहेली-सी लगती है। शिष्य इसी पहेली को लेकर ध्यान में बैठता है। दस दिन, बीस दिन, मास, छह मास, बारह मास बीत जाते हैं। पर अन्त में समाधान मिल ही जाता है। समाधान की अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते वह विशिष्ट ध्यान साधक बन जाता है। इस समस्या का शब्दार्थ कुछ और है और वाच्यार्थ कुछ और ही है। गहराई में जाकर सोचें तो, इसका तात्पर्य है कि प्रवृत्ति करना है, पर पीछे संस्कार नहीं छोड़ना है। हम इसे समझें।

भारतीय दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि प्राणी प्रवृत्ति से बंधता है और निवृत्ति से मुक्त होता है। प्रवृत्ति बांधती है और निवृत्ति मुक्त करती है। प्रश्न है, आदमी प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकता तो उसके लिए निवृत्ति संभव नहीं है। जब निवृत्ति संभव नहीं है तो मुक्ति कैसे संभव होगी? वह कभी मुक्त होगा ही नहीं। यह बात सही भी है और सही नहीं भी है। बात सही है कि प्रवृत्ति बांधती है, पर प्रवृत्ति तब बांधती है जब उसके पीछे संस्कार रह जाता है। प्रवृत्ति हुई और चली गई। हवा का झोंका आया और चला गया। पीछे कोई संस्कार नहीं छोड़ा, तो वह प्रवृत्ति बांधेगी नहीं। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे संस्कार रह जाता है। संस्कार का रहना ही बंधना है। वीतराग भी प्रवृत्ति करता है और अवीतराग भी प्रवृत्ति करता है। वीतराग बंधता नहीं, अवीतराग या रागी बंधता है। आगमिक भाषा में कहा गया कि वीतराग की प्रत्येक प्रवृत्ति 'ईर्यापथिकी' प्रवृत्ति होती है। इसका तात्पर्यार्थ है कि प्रवृत्ति से कर्म के परमाणु पहले क्षण में आत्मा का स्पर्श किया और तीसरे क्षण में निर्जीव हो गए, टूट गए। कर्मों को टिकाने का श्लेष वीतराग में नहीं होता। वह निःश्लेष होता है। अवीतराग में कषाय होता है। कषाय बंधन को पकड़ लेता है, कर्मों को पकड़ लेता है। भींत गीली है। मिट्टी फेंकी। वह चिपकेगी। भींत सूखी है। मिट्टी फेंकी। वह नीचे गिर जाएगी। गीलापन पकड़ता है। सूखापन नहीं पकड़ता। बंधन को टिकाता है राग। अराग बंधन को नहीं टिका पाता। इसलिए दोष प्रवृत्ति का नहीं होता। दोष होता है प्रवृत्ति के पीछे रह जाने वाले संस्कार का। संस्कार का होना और संस्कार का न होना, यह मूल कारण है बंधन का और बंधन मुक्ति का।

दो साधक जा रहे थे। रास्ते में नाला आ गया। किनारे पर एक युवती बैठी थी। वह पानी से डरती थी। उसने साधकों से कहा, मुझे उस पार पहुंचा दो। एक हिचकिचाया। दूसरे ने उस युवति को कंधों पर बिठा

कर उस पार पहुंचा दिया। युवति अपनी दिशा में चली गई और साधक अपनी दिशा में चल पड़ा। दूसरा साधक भी पहुंच गया। दोनों आश्रम में चले गए। युवती को न छूने वाले साधक के मन में युवती की वात वार-वार उभर रही थी। उसने पहले साधक से दो-चार वार वात कही कि तूने युवति को छूकर अच्छा नहीं किया। वह साधक बोला—अरे ! मैंने तो उस युवति को कंधे से कभी उतार कर भूल गया हूं और तू उसे अभी सिर पर लिए घूम रहा है।

समस्या यह है। प्रवृत्ति चली जाती है, पर प्रवृत्ति का संस्कार नहीं जाता। संस्कार आदमी को जकड़ देता है। प्रवृत्ति स्वभाविक और राग रहित हो कि पीछे संस्कार न छूटे। व्यक्ति चाहे खाए, पीए, घूमे, वैठे, वातचीत करे, कपड़ा पहने, मकान में रहे, वन में रहे, प्रवृत्ति हो, पर संस्कार न छूटे। यह प्रवृत्ति वांधती नहीं। यह वात तव संभव है जव विचय ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाए।

प्रेक्षाध्यान विचय ध्यान का ही एक प्रकार है। केवल श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा पर ही नहीं अटक जाना है। यह तो ध्यान की पृष्ठभूमि है। इसके पश्चात् हमें विचय ध्यान करना है। दूसरे शब्दों में हमें समस्या लेकर वैठना है और समाधान खोजना है। समस्या चाहे वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या पारिवारिक हो, सवका समाधान विचय ध्यान के द्वारा खोजा जा सकता है। प्राचीन आचार्यों ने इस विधि से अनेक समाधान खोजे हैं। आज आश्चर्य होता है यह देखकर कि प्राचीन समय में इतने उपकरण नहीं थे; सामग्री नहीं थी, साधन नहीं थे, फिर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इतनी सूक्ष्म खोजें कैसे कीं। कैसे जाना परमाणु को, लोक-अलोक को, धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय को ? कैसे पकड़ा परमाणुओं के अनेक आयामों को ? इसका उत्तर है कि उपकरण नहीं थे, साधन नहीं थे, पर उनके पास जवरदस्त ध्यानविधि थी, जिसके माध्यम से वे सव कुछ जान गए।

जो चीजें आज सूक्ष्मतम वैज्ञानिक यंत्रों की पकड़ में भी नहीं आती, उन सवका यथार्थ विवरण उन प्राचीन आचार्यों, ऋषि-मुनियों ने दे डाला। यह कैसे किया ? यह सारा हुआ सूक्ष्म ध्यानशक्ति के द्वारा।

उदासी की समस्या को भी विचय ध्यान के द्वारा सुलझाया जा सकता है। स्वयं की समस्या को स्वयं सुलझाएं। दूसरे सहयोगी वन सकते हैं, मार्ग सुझा सकते हैं, किन्तु प्रत्येक आदमी को स्वयं की समस्या स्वयं को ही सुलझानी होती है।

संत तुकाराम के पास एक व्यक्ति आया। वह अफीम खाता था। उसने संत से कहा—मैं अफीम छोड़ना चाहता हूं। आप कोई उपाय वताएं। संत ने पूछा। उसने कहा—प्रतिदिन एक तोला अफीम खा जाता हूं। छोड़ने

का प्रयत्न करता हूं, पर छूटती नहीं। संत ने कहा—कोई बात नहीं है। जितनी खा रहे हो, उतनी खाते जाओ। पर साथ-साथ एक काम करो। एक कोयला साथ में रखो और प्रतिदिन अफीम खाने के बाद उस कोयले से भींत पर एक लकीर खींचते रहो। जिस दिन लकीर खींचने के लिए कोयला न रहे, उसी दिन से अफीम खाना बंद कर दो।

उसने संत की यह बात स्वीकार कर ली। घर गया। प्रतिदिन अफीम खाता और एक लकीर कोयले से भींत पर लगा देता। दस-पन्द्रह दिनों में कोयला घिस गया। उसने अफीम खाना छोड़ दिया।

यह उपाय कारगर हुआ। उपाय कोई भी सुझा सकता है, पर करना स्वयं को ही होता है। यदि स्वयं का पुरुषार्थ और संकल्प नहीं जुड़ता है तो समस्या का समाधान नहीं हो पाता।

उदासी से बचने के लिए निषेधात्मक भावों से बचना जरूरी है। निषेधात्मक भाव समस्या पैदा करते हैं। मनुष्य का स्वभाव कहें या कर्म का विपाक कहें, कुछ विचित्र-सा लगता है कि मनुष्य में विधायक भाव कम होते हैं और नकारात्मक भाव अधिक आते हैं। आदमी नकारात्मक भावों में जीता है। पोजिटिव शक्ति कम काम करती है, नेगेटिव शक्ति अधिक काम करती है। जो निषेधात्मक भावों में जीता है, वह उदासी से कभी छुटकारा नहीं पा सकता। वह जहां भी जाएगा उदासी उसका पीछा करेगी। वह कभी प्रफुल्लित नहीं रह पाएगा। आदमी की यह धारणा बन गई कि कोई गाली दे या मारे-पीटे तो प्रफुल्लता रह नहीं सकती। यह एक बात है। पर ऐसी स्थिति में भी प्रसन्नता बनाई रखी जा सकती है। यदि प्रसन्नता नहीं रहती है तो इस दुनिया में कैसे जीवित रहा जा सकता है? तो क्या आदमी निरन्तर उदास ही रहे? उदासी के पारिवारिक सदस्य और हैं—खिन्नता, अवसाद, आत्महत्या का भाव आना, घर से पलायन करने की बात सोचना आदि-आदि। ये सारे निषेधात्मक भावों के उपजीवी हैं।

नकारात्मक भाव मन में न आएं, इसका अभ्यास किया जा सकता है। प्रातःकाल यह संकल्प लेकर उठें कि आज निषेधात्मक भावों को न आने दूंगा। विधायकभाव में रहूंगा। धीरे-धीरे इन नकारात्मक भावों से मुक्त होते जायेंगे।

मादक द्रव्यों का सेवन भी उदासी लाता है। तम्बाकू, भांग, चरस, मदिरा—इनके सेवन से भी उदासी आती है। शरीर सारा शिथिल हो जाता है। यदि उदासी से बचना है तो मादक द्रव्यों का सेवन वर्जित करना होगा।

उदासी से निपटने के लिए कुछेक उपायों की चर्चा की है।

हम इस बात को पुनः हृदयंगम करें कि ध्यान की साधना का प्रयोजन

केवल आनन्द या विश्राम की अनुभूति नहीं है। विश्राम या आनन्द की अनुभूति अन्यान्य साधनों से भी होती है। गर्मी से उत्तप्त पथिक को छायादार वृक्ष आनन्द देता है। प्यासे को ठंडा पानी और भूखे को रोटी आनन्द देती है। थके हुए व्यक्ति को विश्राम-स्थल मिल जाए तो वह थकावट भूल जाता है। यह सारा पर-सापेक्ष या पदार्थ-सापेक्ष आनन्द है। ध्यान को हम पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द देने वाला मान सकते हैं। पर उसका मुख्य प्रयोजन है, समस्याओं की गहराई में उतर कर उनका समाधान ढूंढ़ना। यह समाधान ढूंढने की प्रवृत्ति जैसे-जैसे बढ़ेगी वैसे-वैसे विचय ध्यान का अभ्यास दृढ़ होता जाएगा। इससे ध्यान का मूल्य भी बढ़ेगा और हम इस वैज्ञानिक युग में ध्यान की सार्थकता स्थापित कर पाएंगे। वैज्ञानिक तो सचाइयों को खोजता चला जाएगा और यदि धार्मिक वैसे ही बैठा रहा तो लोग विज्ञान को पूछेंगे या धर्म को ? पूजा विज्ञान की होगी या धर्म की ? आज आवश्यकता है कि हम ध्यान की गहरी साधना के द्वारा नई-नई सचाइयों को खोजते चलें और उनका जीवन में उपयोग कर लाभान्वित हों। ऐसी स्थिति में धर्म विज्ञान के साथ चल पाएगा, हम भी चल पाएंगे, ध्यान भी चल पाएगा। हम सब इस अनुभूति के साथ ध्यान की गहराइयों में जायें, ध्यान का यथार्थ मूल्यांकन करें तो दृष्टिकोण भी बदलेगा और ध्यान के प्रति सहज आकर्षण भी होगा।

१४

परिष्कार वैरवृत्ति का

'अप्पा मित्तममित्तं च'—आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है। शत्रु के साथ वैर होता है और मित्र के साथ प्रेम। संसार में प्रेम के लिए भी दूसरा चाहिए और वैर-विरोध के लिए भी दूसरा चाहिए। जब तक दूसरा सामने नहीं होता तब तक न प्रेम होता है और न वैर। अध्यात्म जगत् का नियम भिन्न है। वहां प्रेम भी अपने साथ होता है और वैर भी अपने साथ होता है। वहां दूसरा होता ही नहीं। आंतरिक जगत् में स्वयं ही स्व है और स्वयं ही पर है। हम आत्म-मैत्री, स्व-मैत्री और आत्म-वैर, स्व-वैर की बात करें, साथ ही साथ जागतिक प्रेम और वैर की बात भी सोचें।

वैर पांच कारणों से उत्पन्न होता है—

१. स्त्री के लिए
२. जमीन के लिए
३. वाणी के लिए
४. जातिगत द्वेष के कारण
५. अपराधजन्य।

प्राचीन इतिहास नारी और भूमि के कारण हुए युद्धों से भरा पड़ा है। वाणी के कारण भी वैर-विरोध बढ़ता है। वाणी का घाव गहरा होता है। वह जीवनभर नहीं भरता। बात मन से निकलती ही नहीं। वाणी वैर उत्पन्न करने में अहं भूमिका अदा करती है। जातिगत या वंशगत द्वेष पीढ़ियों तक चलता रहता है। पांच-सात पीढ़ियां बीत जाती हैं, पर आठवीं पीढ़ी वाले लोग उसी वैर-विरोध को लेकर लड़ते हैं। मरते-खपते हैं। राजाओं का इतिहास वंशानुगत वैर से होने वाली लड़ाइयों से भरा पड़ा है। पांचवां कारण है कि कोई किसी का जान या अनजान में अपराध कर लेता है तो वैर की भावना उत्पन्न हो जाती है।

महाभारत का एक प्रसंग है। राजा के महल में एक चिड़िया रहती थी। उसका नाम था पूजना। वह विलक्षण थी। राजा भी उसका सत्कार करता था। रानी के पुत्र हुआ और इधर चिड़िया ने भी प्रसव किया। अब दोनों बच्चे साथ-साथ पल रहे हैं। चिड़िया का बच्चा भी बड़ा हुआ और राजकुमार भी बड़ा हुआ। दोनों प्रेम से रहते, खेलते। चिड़िया जंगल में जाती और दो फल लेकर आती। एक अपने बच्चे को देती और एक राजपुत्र

को देती। वे फल विलक्षण थे, इस दुनिया में दुर्लभ थे। वे फल अत्यन्त स्वादिष्ट और पौष्टिक थे। यह प्रतिदिन का क्रम था। एक दिन चिड़िया जंगल में फल लेने गई हुई थी। राजकुमार चिड़िया के बच्चे के पास खेल रहा था। न जाने उसके मन में क्या आया कि उसने चिड़िया के बच्चे का गला घोंट डाला। बच्चा मर गया। चिड़िया दो फल लेकर आई। देखा कि बच्चा मरा पड़ा है। बहुत दुःख हुआ। सोचा, बच्चे को राजकुमार ने मारा है। इसने मेरा बड़ा अपराध किया है। मन में प्रतिक्रिया हुई, प्रतिशोध की तीव्र भावना जागी। चिड़िया ने झपट्टा मारा और राजकुमार की दोनों आंखें फोड़ डाली। राजकुमार अंधा हो गया। वह चिल्लाने लगा। चिड़िया ने अपराध का बदला ले लिया। वैर बंध गया। राजा आया, देखा पर समझ नहीं सका। चिड़िया बोली—यह है कृत का प्रतिकार। राजकुमार ने मेरे बच्चे को मारा तो मैंने उसकी आंखें फोड़ डाली। मैंने प्रतिशोध ले लिया। अब मैं जा रही हूं, यहां रह नहीं सकती। राजा बोला—'पूजना! मेरे बच्चे ने अपराध किया। तुमने बदला ले लिया। कृत का प्रतिकार हो गया। बात समाप्त हो गई। बात मन से निकाल दो और तुम यहीं रहो, जाओ मत।' चिड़िया बोली—अब मैं यहां नहीं रह सकती। अपराध-जन्य वैर मेरे मन से निकलेगा नहीं। मैं जाती हूं।'

वैर की श्रृंखला बहुत लंबी होती है। संक्षेप में पांच कारण बताए गए हैं। और-और भी अनेक कारण हो सकते हैं। यह लौकिक स्थिति का चित्रण है कि जगत् में वैर चलता है, रुकता नहीं। प्रश्न है कि आदमी वैर-विरोध रखकर कब तक जीवित रहेगा? नीतिज्ञ लोगों ने कहा कि वैर की स्थिति अच्छी नहीं है। मनुष्य को मैत्री का बोध भी होना चाहिए। वैर का प्रतिपक्ष है मैत्री। हम दो दृष्टियों से मैत्री पर विचार करें। एक है नीति की दृष्टि और एक है अध्यात्म की दृष्टि। नीतिकार कहते हैं कि हमारे पांच मित्र हैं—विद्या, शौर्य, दक्षता, बल और धैर्य। ये असली मित्र हैं। सहज और स्वाभाविक मित्र हैं।

मित्र दो प्रकार के होते हैं—सहज मित्र और कृत मित्र। हम किसी को मित्र बनाते हैं, किसी के साथ मैत्री करते हैं, वे सहज मित्र नहीं होते, अर्जित या कृत मित्र होते हैं। वे सदा साथ नहीं रहते, साथ नहीं देते। सहज मित्र सदा साथ रहते हैं।

विद्या सहज मित्र है। वे अपने आश्रय को नहीं छोड़ती। वह सदा साथ रहती है। मित्र वह होता है जो कठिनाइयों से बचाए। विद्या कठिनाइयों से बचाती है, साथ देती है।

शौर्य व्यक्ति का परम मित्र है। वह रक्षा करने में जितना दक्ष है उतना कोई दक्ष नहीं है। स्वयं का शौर्य और पराक्रम ही स्वयं की रक्षा

करता है।

दक्षता भी मित्रता निभाती है। यह व्यक्ति की रक्षा करती है, उसे पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त कराती है।

मनोबल व्यक्ति का परम मित्र है। वह व्यक्ति की हर समस्या को सुलझा देता है। मनोबल के अभाव में घुटने टिक जाते हैं। मनोबल बहुत बड़ा मित्र है।

धैर्य आदमी का सहज मित्र है। धैर्य आवेश का प्रतिपक्षी है। वह व्यक्ति को बचाता है।

सेठ घर आया। पत्नी को देखा। वह सो रही थी। उसके साथ एक युवक भी सो रहा था। वह आग बबूला हो गया और तलवार का वार करने के लिए उद्यत हुआ। तलवार की नोंक एक फ्रेम से टकराई। उस फ्रेम में एक श्लोक मढा हुआ था। उसमें लिखा था—'सहसा विदधीत न क्रियाम्'—जल्दबाजी में कोई काम मत करो। वह रुका। तलवार को एक ओर रख कर पत्नी को जगाया। पत्नी उठी। चरणों में प्रणाम किया। सेठ ने पूछा—यह युवक कौन है? वह बोली—यह आपका ही तरुण पुत्र है। आप परदेश गए थे तब दो वर्ष का था। आप आज चौदह वर्ष के बाद आए हैं। यह सोलह वर्ष का युवक हो गया है।' यह सुनते ही सेठ पानी पानी हो गया। उसके धैर्य ने परिवार के सत्यानाश से उसे बचा डाला। धैर्य परम मित्र है।

विद्या आदि पांचों मित्र हमारी पग-पग पर सुरक्षा करते हैं। हमें आगे बढ़ाते हैं, पूजा-प्रतिष्ठा दिलाते हैं।

अध्यात्म जगत् में आत्मा ही मित्र है। हम प्रेक्षाध्यान या चैतन्यकेन्द्रों का अभ्यास अपने मित्र को जगाने के लिए ही कर रहे हैं। आज के वैज्ञानिक इस विषय पर अन्वेषण कर रहे हैं कि बुढ़ापे को कैसे रोका जाए। रूस के वैज्ञानिकों ने एक तथ्य प्रस्तुत किया कि 'थाइमसग्लैण्ड' बुढ़ापे को रोकने की ग्रन्थि है। यह आनन्द केन्द्र है। इसे बाल्यग्रन्थि भी कहा जाता है। बचपन में यह बहुत सक्रिय होती है, इसीलिए बच्चा बहुत मस्ती में रहता है। अवस्था के साथ-साथ यह निष्क्रिय होती जाती है। इस ग्रन्थि का काम है, सुरक्षा के कोषाणुओं को सक्रिय रखना, जिससे कि वे कोषाणु रोग के कीटाणुओं से लड़ सकें और स्वास्थ्य को सुरक्षित रख सकें। क्या स्वास्थ्य की सुरक्षा करने वाली यह ग्रन्थि हमारी मित्र नहीं है? ज्योतिकेन्द्र का जाग जाना क्या सच्चे मित्र का जाग जाना नहीं है। क्योंकि यही हमें क्रोध के अनिष्ट परिणामों से बचाता है। यदि यह केन्द्र जागृत न हो तो आदमी को अनगिन शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों को झेलना पड़ता है। इसके जागने पर आदमी बच जाता है। क्या यह परम मित्र नहीं है? दर्शन केन्द्र

का जागना यथार्थ तक पहुंचने का मार्ग है। क्या यह मित्र नहीं है? जो हमें यथार्थ के साथ जोड़े, क्या वह मित्र नहीं होता? एक-एक केन्द्र का जागना मैत्री का उत्पन्न होना है। इसे इस भाषा में कहा जा सकता है—अप्पा मित्तममित्तं च। आत्मा ही मित्र है। यह ध्यान करने वाला अनुभव कर सकता है। यह हमारा अपना अनुभव है। अनुभव का सर्वोपरी मूल्य होता है।

कबीर के पास कुछ पंडित आकर बोले—आपने वेद पढ़े हैं? कबीर ने कहा—नहीं। आपने उपनिषद् और पुराण पढ़े हैं? कबीर ने कहा—नहीं। तो फिर आप लोगों को क्या उपदेश देते हैं? स्वयं कुछ जानते नहीं, शास्त्र पढ़े नहीं, और लगे उपदेश देने। यह क्या मजाक बना रखा है? कबीर बोले—आप सब ठीक कह रहे हैं। मुझे शास्त्रों का ज्ञान है ही नहीं। मैं पोथी की बात लोगों को नहीं बताता मैं आंखों देखी बात कहता हूं। जो मैंने स्वयं अनुभव किया है, उसको बताता हूं।'

वास्तव में अनुभवी ही बड़ा पंडित होता है।

मैं भी चैतन्य-केन्द्रों की साधना का ही अपना अनुभव बता रहा हूं कि आत्मा ही परम मित्र है और प्रत्येक केन्द्र का जागना आत्मा का जागना है। आत्मा को जगाकर, परम मित्र को पाकर हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

हम अपनी आत्मा को मित्र बनाएं। हम अपने आपके साथ मैत्री साधें। उस मैत्री के विकास के लिए अनुप्रेक्षा का सहारा लें।

आदमी सहज ही छोटी-छोटी बातों पर दूसरों को शत्रु बना लेता है, अपनी आत्मा को भी शत्रु बना लेता है। इसलिए आवश्यक है कि चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा की साधना के साथ-साथ मैत्री और सहनशीलता की अनुप्रेक्षा की जाए। इन दो अनुप्रेक्षाओं के द्वारा मैत्रीभाव को बढ़ाया जा सकता है। अध्यात्म का कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है मैत्री के विस्तार का—मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणई—सबके साथ मेरी मैत्री है, वैर किसी के साथ नहीं है। शत्रुता को समाप्त ही कर डाला। यह स्वर वहां से निकला जहां सब कुछ त्यागने की क्षमता है। हर स्थिति में छोड़ने की क्षमता और इतनी पवित्रता जिसने जगा ली कि शत्रुता करने वाला भी शत्रु दिखाई न दे। वह उसके साथ भी मित्रता का व्यवहार करेगा। यहां लौकिक वैर की बात भी छूट जाती है। यहां न कृत का प्रतिकार होता है, न और कुछ। सर्वत्र मैत्री ही मैत्री।

अध्यात्म की दृष्टि से मैत्री के परिप्रेक्ष्य में दूसरा कोई होता ही नहीं। यदि यह माना जाए कि यह दूसरा है तो वहां मैत्री हो नहीं सकती, वैर-विरोध मन से निकल नहीं सकता। अध्यात्म का आयाम है—सब

आत्माएं समान हैं। अन्ततः स्वरूपतः हम सब समान हैं। अध्यात्म की यह दृष्टि जब जागती है तब मैत्री की पृष्ठभूमि बनती है। प्रेम एक के साथ हो सकता है, दो-तीन के साथ हो सकता है। आध्यात्मिक मैत्री एक-दो-तीन के साथ नहीं होती। वह होगी तो सबके साथ, प्राणीमात्र के साथ, और नहीं होगी तो किसी के साथ नहीं होगी। इसकी परिधि में ऐसा नहीं होता कि इसके साथ मेरी मैत्री है और उसके साथ मेरा वैर-विरोध है। इसका घोष है—सभी जीवों के प्रति मेरी मैत्री है। इसमें कोई छूटता नहीं। एक भी छूटा तो वह मैत्री नहीं होगी, फिर चाहें हम उसे प्रेम कहें या और कुछ। मैत्री होगी सबके साथ। इसका तात्पर्य है कि जिसमें इस आध्यात्मिक मैत्री का जागरण हो गया वह व्यक्ति किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। मैत्री का अर्थ है—शत्रुता के भाव की पूर्णतः समाप्ति। मैत्री के विकास का यह अर्थ तो नहीं कि इष्ट करने की बात भी समान बन जाए। अनिष्ट किसी का न करे, यह तो संभव है, पर सबका इष्ट साधे, यह अपने शक्ति-सामर्थ्य से परे की बात है। सबका इष्ट संपादित करना यह व्यवहार की बात है। व्यवहार सदा ससीम होता है। वह निःसीम हो नहीं सकता। मैत्री सबके साथ है। कपड़ा एक है तो क्या वह एक कपड़ा सबको दे पाएगा? यह कभी संभव नहीं है। व्यवहार में सीमा रहेगी। व्यक्ति के अन्तर्भाव में मैत्री हिलोरें लेती रहेगी, वह किसी का अनिष्ट न सोचेगा और न करेगा।

दो बातें स्पष्ट समझ लेनी हैं। एक है इष्ट का संपादन और दूसरी है अनिष्ट का निवारण। इष्ट का संपादन व्यवहार की बात है, अनिष्ट का निवारण अपने अन्तर से सम्बन्धित है। यह इतना व्यापक बन जाता है कि व्यक्ति किसी भी प्राणी का अनिष्ट नहीं करेगा, यह है वैरवृत्ति का परिष्कार। वैरवृत्ति का परिष्कार कर आदमी मैत्री के उस बिन्दु पर आरोहण कर सकता है जहां चढ़ जाने पर व्यवहार बहुत नीचे रह जाता है, किंचित्कर बन जाता है।

आत्मा की परिधि

उपसंपदा समग्र जीवन-दर्शन है। ध्यान और जीवन को कैसे एकरस किया जाए, कैसे समग्रता से जीवन जीया जाए, इसका पूरा दर्शन उपसंपदा में प्राप्त है।

इन चार—तैयारी, मार्ग का चुनाव, अन्तर्दर्शन और संयम। ध्यान का अपना परिवार है। वह जीवन का दर्शन है। उसे तोड़कर हम जीवन को देख नहीं सकते। यह थोपा हुआ या आरोपित नहीं है।

जीव, जीवन और प्राण—ये सब प्राणी के द्योतक हैं। ये सब प्राण-शक्ति से संबंध रखने वाले हैं। जीवन का मूल आधार है प्राणशक्ति। एक जीवित आदमी और एक मृत आदमी में यही तो अन्तर है कि जिसमें प्राण-शक्ति काम करती है वह है जीवित और जिसमें प्राणशक्ति नहीं है, चुक गई है, वह है मृत व्यक्ति। यही भेदरेखा है। एक में प्राणशक्ति सक्रिय है, एक में प्राणशक्ति निष्क्रिय है या है ही नहीं।

प्राण की अनेक रश्मियां हैं। शरीर काम कर रहा है। प्राण की एक रश्मि बन गई शरीर। वाणी की प्रवृत्ति होती है। वाणी प्राण की दूसरी रश्मि है। इसे वचन प्राण कहा जाता है। हम इंद्रियों को प्रवृत्त करते हैं। प्राण की तीसरी रश्मि है इंद्रिय-प्राण। हम मन से काम लेते हैं। प्राण की चौथी रश्मि बन गई मन प्राण। हम श्वासोच्छ्वास लेते हैं। यह है प्राण की पांचवीं रश्मि। यह है श्वासोच्छ्वास प्राण। इनमें समूचा जीवन-दर्शन समा गया है। इंद्रिय, वाणी, मन, शरीर और श्वासोच्छ्वास—ये मुख्य घटक हैं जीवन के। एक शब्द में कहा जा सकता है कि अच्छा जीवन तब होगा जब प्राणशक्ति स्वस्थ होगी।

प्राणशक्ति प्रतिरोधात्मक शक्ति है। जब यह प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है तब कितना ही उपचार किया जाए, रोग ठीक नहीं होता। यदि प्राणशक्ति के क्षीण हो जाने पर भी दवा में प्राणी को बचाने की क्षमता होती तो आज कोई मरता ही नहीं, क्योंकि आज बाजार में दवाइयों की भरमार है। मूल आधारभूत तत्त्व है प्राणशक्ति। जब यह चुक जाती है, तब प्राणी को मरना ही पड़ता है।

जीवन दर्शन का पहला सूत्र है प्राणशक्ति की सुरक्षा। इसका व्यर्थ व्यय न हो और इसे स्वस्थ रखा जाए। इसके लिए सबसे अच्छा उपाय है

श्वास। श्वास जितना स्वस्थ, उतना ही प्राण स्वस्थ। जितना श्वास अस्वस्थ, उतना ही प्राण अस्वस्थ। यानी श्वास के द्वारा प्राण को बचाया जा सकता है। श्वास जितना दीर्घ होगा प्राणशक्ति उतनी ही सुरक्षित रह पाएगी, उतना ही जीवन स्वस्थ रहेगा, अवरोध कम आएंगे।

प्राण को स्वस्थ रखकर शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियों को स्वस्थ रखा जा सकता है। यह सारा प्राण की स्वस्थता का परिणाम है।

साधना का एक सूत्र है—मिताहार। आहार और शरीर—इन दोनों को सर्वथा अलग-थलग नहीं किया जा सकता। आहार और मन को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों इतने संश्लिष्ट हैं कि इनको बांट कर नहीं देख सकते।

हम सदा यह अनुभव करते रहे हैं कि आहार का हर विचार और हर कार्य पर प्रभाव होता है। आज वैज्ञानिक स्तर पर भी इस बात की पुष्टि हो रही है कि आदमी जैसा खाता है वैसा ही बनता है। वैज्ञानिक मानते हैं कि भोजन के द्वारा 'न्यूरो ट्रांसमीटर' बनता है और जैसा यह होता है वैसा ही आदमी का आचरण, विचार और व्यवहार होता है। भोजन का और इनका गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति आहार पर ध्यान नहीं देता, वह प्रेक्षाध्यान का साधक नहीं हो सकता। यदि कोई प्रश्न करे कि प्रेक्षाध्यान का साधक कौन तो कहा जा सकता है कि जो आहार की साधना करता है वह प्रेक्षाध्यान का साधक है। यह सरल परिभाषा है। जो आहार का विवेक नहीं रखता, वह ध्यान-साधना की आराधना नहीं करता। आहार के विवेक को छोड़कर ध्यान की साधना नहीं की जा सकती। ध्यान की ही क्यों, जीवन की साधना भी नहीं की जा सकती, कर ही नहीं सकते। आहार ठीक है तो विचार ठीक है। आहार स्वस्थ है तो व्यवहार स्वस्थ है। आहार गड़बड़ाया तो सब कुछ गड़बड़ा गया।

आजकल लोग परिष्कृत आहार लेना पसन्द करते हैं। परिष्कृत चीनी, परिष्कृत आटा, परिष्कृत दूध—सब कुछ परिष्कृत ही परिष्कृत। लोग गुड़ और शक्कर खाना पसन्द नहीं करते। वे चाहते हैं परिष्कृत दानेदार चीनी। यह दीखने में इतनी सुन्दर और सफेद होती है कि देखने वाले को मोह लेती है। खाने वाले मात्रा का ध्यान नहीं रखते, बहुत खाते हैं। आज ही मैंने पढ़ा, जो व्यक्ति बारह चम्मच चीनी रोज खाता है, वह अपनी रोग-प्रतिरोधक शक्ति का साठ प्रतिशत भाग गवां देता है। जो चौबीस चम्मच चीनी रोज खाता है, उसकी रोग-प्रतिरोधक शक्ति सर्वथा क्षीण हो जाती है, नष्ट हो जाती है। जो विटामिन हमारे मस्तिष्क और हृदय के लिए आवश्यक होते हैं, उन सबको चट कर जाती है यह चीनी। चीनी के कारण मस्तिष्कीय और स्नायविक दुर्बलता के साथ-साथ और-और भी अनेक व्याधियां

उत्पन्न होती है। कुछ व्यक्ति अत्यधिक मात्रा में चीनी खाते हैं और जीवन भर रोग की पीड़ा को भोगते रहते हैं। वे मरते दम तक चीनी नहीं छोड़ते और यह चीनी उन्हें यमलोक पहुंचा देती है।

स्वाद-वृद्धि के लिए दो वस्तुएं प्रसिद्ध हैं—चीनी और नमक। अनेक लोग ऐसे हैं जो चीनी से परहेज रखते हैं, पर नमक अत्यधिक मात्रा में खाते हैं। बम्बई के एक डॉक्टर का लेख पढ़ा था। उसने यह परामर्श दिया है कि दिनभर में केवल एक या दो ग्राम नमक शरीर के लिए अपेक्षित है। इससे ज्यादा नमक शरीर में अनेक रोग उत्पन्न करता है। जो लोग तले हुए या नमकीन पदार्थ खाते हैं, उनके शरीर में नमक की कितनी मात्रा पहुंचती है, अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

चीनी और नमक—ये दो मुख्य घटक हैं बिमारियों के। किडनी की बिमारी, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि इन दो के कारण अधिक होते हैं।

आहार के साथ तीसरी बात जुड़ी हुई है मात्रा की। आदमी की भोजन की मात्रा बहुत अधिक है। आदमी अपनी जरूरत से ज्यादा खाता है। आज के डॉक्टर किलोरी के आधार पर डाईट का निर्धारण करते हैं। किलोरी की न्यूनता या अधिकता—दोनों हानिकारक हैं। आहार की मात्रा परिमित हो, यह विवेक सभी में नहीं है। अच्छी वस्तु अधिक खाने की आदत अनेक कठिनाइयों को जन्म देती है। मित आहार स्वास्थ्य का प्रमुख अंग है। जो इसकी उपेक्षा करता है, वह अपने जीवन की उपेक्षा करता है।

जिसमें आहार का विवेक नहीं है, वह चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो, जीवन का सही दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। परिमित आहार और संतुलित आहार वाला व्यक्ति ही जीवन-दर्शन पा सकता है।

आहार-विजय का एक अंग है—तपस्या। शिविर काल में यह भी चलती है। आयंबिल कराए जाते हैं। दो प्रकार के आयंबिल होते हैं। एक में थोड़े से कच्चे चावल खाए जाते हैं और दूसरे में सौ ग्राम अधपके चावल खाए जाते हैं। बस, पानी और चावल और कुछ नहीं। यह स्वास्थ्यकारक प्रयोग है। शिविर में आने वाले अनेक डाक्टरों ने इस प्रयोग से लाभ उठाया है, स्वस्थ हुए हैं।

आहार के साथ अनाहार भी जुड़ा हुआ है। खाना है तो कैसे खाना? क्या खाना? कितना खाना और कब खाना? नहीं खाना है तो कैसे? ये दोनों जुड़े हुए हैं। न खाना भी आहार का अंग है। इन दोनों का दर्शन प्रेक्षाध्यान का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से आहार और शरीर का संबंध है।

वाणी का अर्थ है भाषात्मक प्रयोग। इसका विवेक भी बहुत अपेक्षित है। प्राणशक्ति बोलने में बहुत खर्च होती है, इसलिए अनावश्यक नहीं

श्वास। श्वास जितना स्वस्थ, उतना ही प्राण स्वस्थ। जितना श्वास अस्वस्थ, उतना ही प्राण अस्वस्थ। यानी श्वास के द्वारा प्राण को बचाया जा सकता है। श्वास जितना दीर्घ होगा प्राणशक्ति उतनी ही सुरक्षित रह पाएगी, उतना ही जीवन स्वस्थ रहेगा, अवरोध कम आएंगे।

प्राण को स्वस्थ रखकर शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियों को स्वस्थ रखा जा सकता है। यह सारा प्राण की स्वस्थता का परिणाम है।

साधना का एक सूत्र है—मिताहार। आहार और शरीर—इन दोनों को सर्वथा अलग-थलग नहीं किया जा सकता। आहार और मन को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों इतने संश्लिष्ट हैं कि इनको बांट कर नहीं देख सकते।

हम सदा यह अनुभव करते रहे हैं कि आहार का हर विचार और हर कार्य पर प्रभाव होता है। आज वैज्ञानिक स्तर पर भी इस बात की पुष्टि हो रही है कि आदमी जैसा खाता है वैसा ही बनता है। वैज्ञानिक मानते हैं कि भोजन के द्वारा 'न्यूरो ट्रांसमीटर' बनता है और जैसा यह होता है वैसा ही आदमी का आचरण, विचार और व्यवहार होता है। भोजन का और इनका गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति आहार पर ध्यान नहीं देता, वह प्रेक्षाध्यान का साधक नहीं हो सकता। यदि कोई प्रश्न करे कि प्रेक्षाध्यान का साधक कौन तो कहा जा सकता है कि जो आहार की साधना करता है वह प्रेक्षाध्यान का साधक है। यह सरल परिभाषा है। जो आहार का विवेक नहीं रखता, वह ध्यान-साधना की आराधना नहीं करता। आहार के विवेक को छोड़कर ध्यान की साधना नहीं की जा सकती। ध्यान की ही क्यों, जीवन की साधना भी नहीं की जा सकती, कर ही नहीं सकते। आहार ठीक है तो विचार ठीक है। आहार स्वस्थ है तो व्यवहार स्वस्थ है। आहार गड़बड़ाया तो सब कुछ गड़बड़ा गया।

आजकल लोग परिष्कृत आहार लेना पसन्द करते हैं। परिष्कृत चीनी, परिष्कृत आटा, परिष्कृत दूध—सब कुछ परिष्कृत ही परिष्कृत। लोग गुड़ और शक्कर खाना पसन्द नहीं करते। वे चाहते हैं परिष्कृत दानेदार चीनी। यह दीखने में इतनी सुन्दर और सफेद होती है कि देखने वाले को मोह लेती है। खाने वाले मात्रा का ध्यान नहीं रखते, बहुत खाते हैं। आज ही मैंने पढ़ा, जो व्यक्ति बारह चम्मच चीनी रोज खाता है, वह अपनी रोग-प्रतिरोधक शक्ति का साठ प्रतिशत भाग गवां देता है। जो चौबीस चम्मच चीनी रोज खाता है, उसकी रोग-प्रतिरोधक शक्ति सर्वथा क्षीण हो जाती है, नष्ट हो जाती है। जो विटामिन हमारे मस्तिष्क और हृदय के लिए आवश्यक होते हैं, उन सबको चट कर जाती है यह चीनी। चीनी के कारण मस्तिष्कीय और स्नायविक दुर्बलता के साथ-साथ और-और भी अनेक व्याधियां

उत्पन्न होती हैं। कुछ व्यक्ति अत्यधिक मात्रा में चीनी खाते हैं और जीवन भर रोग की पीड़ा को भोगते रहते हैं। वे मरते दम तक चीनी नहीं छोड़ते और यह चीनी उन्हें यमलोक पहुंचा देती है।

स्वाद-वृद्धि के लिए दो वस्तुएं प्रसिद्ध हैं—चीनी और नमक। अनेक लोग ऐसे हैं जो चीनी से परहेज रखते हैं, पर नमक अत्यधिक मात्रा में खाते हैं। बम्बई के एक डॉक्टर का लेख पढ़ा था। उसने यह परामर्श दिया है कि दिनभर में केवल एक या दो ग्राम नमक शरीर के लिए अपेक्षित है। इससे ज्यादा नमक शरीर में अनेक रोग उत्पन्न करता है। जो लोग तले हुए या नमकीन पदार्थ खाते हैं, उनके शरीर में नमक की कितनी मात्रा पहुंचती है, अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

चीनी और नमक—ये दो मुख्य घटक हैं बिमारियों के। किडनी की बिमारी, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि इन दो के कारण अधिक होते हैं।

आहार के साथ तीसरी बात जुड़ी हुई है मात्रा की। आदमी की भोजन की मात्रा बहुत अधिक है। आदमी अपनी जरूरत से ज्यादा खाता है। आज के डॉक्टर किलोरी के आधार पर डाईट का निर्धारण करते हैं। किलोरी की न्यूनता या अधिकता—दोनों हानिकारक हैं। आहार की मात्रा परिमित हो, यह विवेक सभी में नहीं है। अच्छी वस्तु अधिक खाने की आदत अनेक कठिनाइयों को जन्म देती है। मित आहार स्वास्थ्य का प्रमुख अंग है। जो इसकी उपेक्षा करता है, वह अपने जीवन की उपेक्षा करता है।

जिसमें आहार का विवेक नहीं है, वह चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो, जीवन का सही दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। परिमित आहार और संतुलित आहार वाला व्यक्ति ही जीवन-दर्शन पा सकता है।

आहार-विजय का एक अंग है—तपस्या। शिविर काल में यह भी चलती है। आयंबिल कराए जाते हैं। दो प्रकार के आयंबिल होते हैं। एक में थोड़े से कच्चे चावल खाए जाते हैं और दूसरे में सौ ग्राम अधपके चावल खाए जाते हैं। बस, पानी और चावल और कुछ नहीं। यह स्वास्थ्यकारक प्रयोग है। शिविर में आने वाले अनेक डाक्टरों ने इस प्रयोग से लाभ उठाया है, स्वस्थ हुए हैं।

आहार के साथ अनाहार भी जुड़ा हुआ है। खाना है तो कैसे खाना? क्या खाना? कितना खाना और कब खाना? नहीं खाना है तो कैसे? ये दोनों जुड़े हुए हैं। न खाना भी आहार का अंग है। इन दोनों का दर्शन प्रेक्षाध्यान का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से आहार और शरीर का संबंध है।

वाणी का अर्थ है भाषात्मक प्रयोग। इसका विवेक भी बहुत अपेक्षित है। प्राणशक्ति बोलने में बहुत खर्च होती है, इसलिए अनावश्यक नहीं

बोलना चाहिए। बोलना हो तो धीरे बोलना चाहिए। नहीं तो नहीं ही बोलना चाहिए। तीव्र आवाज में बोलने से प्राणशक्ति का व्यय अधिक होता है।

जब वाणी का संयम, आहार का संयम और शरीर का संयम सधता है तब हम प्राणशक्ति को सुरक्षित रख पाते हैं।

प्राणशक्ति या जीवनीशक्ति को नष्ट करने वाले तत्त्व ये और हैं—

१. प्रतिक्रियात्मक वृत्ति

२. अतिचिन्तन, अतिकल्पना और अतिस्मृति

३. निषेधात्मक दृष्टिकोण।

जीवनीशक्ति के क्षरण को रोकने के लिए प्रतिक्रिया-विरति का अभ्यास करना होता है। प्रतिक्रिया स्वाभाविक-सी बन गई है। इन्द्रियों से देखेंगे, सुनेंगे, चखेंगे तो प्रतिक्रिया होगी। मन से चिन्तन करेंगे तो प्रतिक्रिया होगी। प्रतिक्रिया को रोका नहीं जा सकता। प्रतिक्रिया-विरति का तात्पर्य है कि अतिमात्रा में प्रतिक्रिया न करें। ऐसी प्रतिक्रिया न करें कि वह प्रतिक्रिया इन्द्रिय और मन की शक्ति को ही खाने लग जाए। भोजन जैसा चाहा वैसा नहीं मिला तो प्रतिक्रिया हो गई। एक बार कभी ऐसा हो सकता है पर प्रतिक्रिया यदि लम्बी बन जाती है, द्रौपदी का चीर बन जाती है, तब समस्या पैदा करती है। प्रतिक्रिया के कारण हमारी पचास प्रतिशत प्राण-शक्ति नष्ट हो जाती है। क्रिया में जितनी शक्ति खर्च होती है, उससे अधिक प्रतिक्रिया में खर्च होती है।

प्रतिक्रिया-विरति का साधना-सूत्र है समता की आराधना। जैसे-जैसे समभाव की वृद्धि होगी, प्रिय-अप्रिय के संवेदन से ऊपर उठने का अभ्यास होगा, वैसे-वैसे प्रतिक्रिया-विरति सधती जाएगी। प्रतिक्रिया पैदा करते हैं प्रिय संवेदन या अप्रिय संवेदन। इनके घेरे में यह विरति संभव नहीं है। इसलिए यह अभ्यास भी जरूरी है कि इनसे बचा जा सके। एक ही दिन में यह अभ्यास नहीं हो जाता। यह तो एक प्रकार का नशा है। जैसे शराब का नशा आदमी को पकड़ लेता है, फिर उसे छोड़ने में दिक्कत होती है, क्योंकि वह धीरे-धीरे स्नायविक मांग बन जाती है। जब उसके परिणामों का भान होता है तब आदमी उससे छूटने का उपाय करता है और धीरे-धीरे उसकी पकड़ से मुक्त हो जाता है। वैसे ही इसका अभ्यास भी यदि दीर्घकाल तक चले तो वांछित परिणाम आ सकते हैं।

अभी-अभी रूसी नेता गोर्वाच्योव भारत आए थे। उन्होंने शराब के विषय में जो कहा, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे स्वयं शराब नहीं पीते और अपने देश रशिया को इस चंगुल से मुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने कहा—शराब के अनेक नुकसान हैं—

१. जन्मजात बच्चों में बीमारियां आती हैं।
२. रोग-निरोधक शक्ति कम हो जाती है।
३. अनुशासनहीनता आती है।
४. कर्त्तव्य के प्रति लापरवाही बढ़ती है।
५. अपराध बढ़ते हैं।

आश्चर्य होता है कि जहां शराब पानी की तरह पीई जाती है, वहां के अधिकारी उसके परिणामों से आतंकित होकर उसके निराकरण की चेष्टा करते हैं।

प्रतिक्रिया स्वयं नशा है, शराब है। प्रतिक्रिया क्रोध को, अहंकार को, घृणा को, ईर्ष्या को जन्म देती है। ये सारे शराब के नशे जैसे ही हैं। इनसे प्रतिक्रिया को बढ़ावा मिलता है। यह प्रमाद है। अप्रमाद का जीवन है प्रतिक्रिया-विरति का जीवन।

निषेधात्मक दृष्टिकोण से भी प्राणशक्ति का अत्यधिक व्यय होता है। नकारात्मक दृष्टिकोण के उपजीवी हैं निराशा और हीनभावना। व्यक्ति सदा निषेध की भाषा में सोचता है। विधायक भाव आते ही नहीं, यदि आते हैं तो बहुत अल्प। इस नकारात्मक भाव से जीवनीशक्ति बहुत कर्च होती है।

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग का अर्थ है निषेधात्मक भाव से बचना यानि शत्रुता के भाव से बचकर मित्रता के भाव को अपनाना। मैत्री का विकास होने पर दृष्टिकोण रचनात्मक हो जाता है। मैत्री का अर्थ केवल दूसरों के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करना ही नहीं है, किन्तु रचनात्मक दृष्टिकोण बनाना, यह मैत्री का महत्त्वपूर्ण अंग है।

भावक्रिया शक्ति के क्षरण को रोकती है। यह साधना का महत्वपूर्ण अग है। भावक्रिया का अर्थ है—शरीर, वाणी और मन को एक साथ मिला देना। उनका अलग-अलग होना द्रव्यक्रिया है, जड़ क्रिया है। भोजन करते समय या उपासना करते समय मन कहीं अन्यत्र चक्कर लगाता है तो वह क्रिया जड़ क्रिया है, भावक्रिया नहीं है। जो व्यक्ति भोजन करते समय शरीर, वाणी और मन से भोजन की क्रिया में संयुक्त रहता है तो वह भोजन सजीव भोजन है, अन्यथा वह भोजन मृत भोजन बन जाता है। आयुर्वेद के महान् आचार्य चरक ने कहा—खाते समय खाने में ही मन लगा रहे। वह अन्यत्र न जाए। मन, वचन और शरीर—तीनों एक ही क्रिया में संयुक्त रहें। ऐसी क्रिया जीवित क्रिया होती है और जो अजान-कारी में की जाती है, तीनों की अलग-अलग क्रियाएं होती हैं तो वह मृत क्रिया होती है। भावक्रिया का प्रयोग मस्तिष्क की शक्ति को जगाने का महत्वपूर्ण प्रयोग है। हम इस प्रयोग से ज्ञानतंतुओं को इतना विकसित

कर देते हैं कि वे हमारी बात मानने लग जाते हैं, हमारे आदेश का पालन करने लग जाते हैं।

पहले की बात है। मैं बीमार हो गया। प्राकृतिक चिकित्सा करवाई। चिकित्सक ने कहा—यदि कब्ज महसूस हो तो आंतों को आदेश दो की वे मल का विसर्जन पूरे रूप में करें, शुद्धि करें। मुझे इस कथन पर संदेह हुआ। मन में आया कि आदेश कौन मानेगा ? बच्चा तो है नहीं आंत कि वह आदेश मान ले। बेचारी जड़ आंतें आदेश को क्या समझेंगी ? पर, मैंने यह विधि अपनाई और मुझे स्वयं को आश्चर्य हुआ कि कुछ ही दिनों बाद आंतें निर्देश मानने लगीं जैसे सधा हुआ घोड़ा या नौकर आदेश मानता हो। कब्ज का रोग मिट गया।

ज्ञानतंतु आदेश मान सकते हैं। आदेश देने का ढंग होना चाहिए। कठोर भाषा में स्वामी की तरह आदेश न दें। विनम्रता के साथ दिया जाने वाला प्रत्येक निर्देश मान्य होगा। भावक्रिया ज्ञानतंतु और कर्मतंतु को जगाने की विशिष्ट प्रक्रिया है।

जीवन की आधारभूत शक्ति जीवनीशक्ति को बचाने के उपाय की समग्रता का बोध कराना ही है प्रेक्षाध्यान। आज जो मैंने चर्चा की है, उन सबका यथार्थ अभ्यास करने से ही ध्यान का पूरा लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा लाभ होगा, पर थोड़ा। पूरे लाभ के लिए समग्रता पर ध्यान केन्द्रित करना है।

संन्यासी की कुटिया में चोरी हो गई। संन्यासी ने कहा—मेरा सर्वस्व लुट गया। चोर पकड़ा गया। न्यायाधीश ने संन्यासी से पूछा—बताओ, क्या-क्या चोरी गया ? उसने कहा—सब कुछ चला गया। मेरा बिछौना, तकिया, कंबल, चादर, सब कुछ चोर ले गया। चोर बोला—हजूर ! संन्यासी झूठ बोल रहा है। मैंने तो केवल एक कंबल ही चुराया था। संन्यासी बोला—कंबल ही तो मेरा सर्वस्व है। वही सब कुछ है।

प्रेक्षाध्यान ही सब कुछ है। कभी आप इसे बिछा लें, ओढ़ लें, तकिया बना लें। सब कुछ है। ध्यान चाहे तो आप आहार पर केन्द्रित कर लें, बोलने पर केन्द्रित कर लें, चलने पर या सोने पर केन्द्रित कर लें। वही कभी कुछ बन जाएगा, कभी कुछ बन जाएगा, सब कुछ बन जाएगा। यानि समग्र जीवन का दर्शन बन जाएगा। इसे प्राप्त करेंगे तो आपका व्यक्तिगत जीवन सुखद और आनन्दमय बनेगा, आसपास में उसकी सौरभ फलेगी और समाज को भी आप लाभान्वित कर सकेंगे।

१६

अपनी आत्मा अपना मित्र

हम अनन्त महासागर में श्वास ले रहे हैं। अनन्त है अतीत और अनन्त है भविष्य। सब कुछ अनन्त ही अनन्त। सत्य भी अनन्त है। इसलिए अतीत में सत्य खोजा गया और भविष्य में भी खोजा जाता रहेगा। सत्य की खोज कभी पूरी नहीं होगी, क्योंकि वह अनन्त है। अनन्त कभी पूरा नहीं होता। वह पूर्ण होता है। पूर्ण और अनन्त इसलिए कि न वह बुद्धिगम्य है और न शब्दगम्य। बुद्धि की अपनी सीमा है। शब्द की अपनी सीमा है, इसलिए सत्य इस सीमा में आबद्ध नहीं होता। वह असीम है। ससीम में कैसे आएगा? फिर भी मनुष्य सत्य को बुद्धिगम्य और शब्दगम्य करने का प्रयत्न करता रहा है। उसे जानने, खोजने और क्रियान्वित करने का प्रयास करता रहा है।

सत्य की खोज अनेक दिशाओं में हुई है। अनेक व्यक्तियों ने सत्य को खोजा है। दार्शनिकों ने सत्य को खोजा तो वैज्ञानिकों ने भी सत्य को खोजा। धर्म और अध्यात्म के आचार्यों ने भी सत्य की खोज की। इस प्रकार नाना दिशाओं में सत्य खोजा जाता रहा है।

दो शब्द हैं—शत्रु और मित्र। खोजा गया कि शत्रु कौन और मित्र कौन? उनकी पहचान क्या है? जीवन की यह महत्त्वपूर्ण खोज है। अनेक वार ऐसा होता है कि जो शत्रु माना जाता है, वह मित्र निकल जाता है और जो मित्र माना जाता है वह शत्रु निकल जाता है। व्यवहार की भूमिका में भी इसकी खोज हुई है। इसकी कुछ कसौटियां भी लौकिक स्तर पर निर्धारित की गई हैं। वे कसौटियां ये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव, षड् विधं मित्रलक्षणम्॥

१. २. जो देता भी है और लेता भी है।

३. ४. जो मित्र को गुप्त बात बताता भी है और उसकी गुप्त बात पूछता भी है।

५. ६. जो मित्र के घर खाता भी है और मित्र को खिलाता भी है।

व्यवहार में मित्र की पहचान इन छह बातों से होती है। मित्र वह है जो केवल लेता ही नहीं, देता भी है। वह अपनी मन की बात किसी को नहीं बताता, पर मित्र के समक्ष उसे नहीं छुपाता, सारा रहस्य उगल

देता है। वह मित्र के रहस्य को भी जानने का प्रयत्न करता है और लेता है। मित्रता में छिपाव नहीं होता। जहां छिपाव आता है वहां मित्रता टूट जाती है। या मित्रता रहती है या छिपाव रहता है। दोनों साथ नहीं चल सकते। वह मित्र के घर खाता भी है और मित्र को खिलाता भी है। नीतिशास्त्र में मित्रता, प्रेम और प्रीति के ये छह लक्षण बताएं हैं।

अध्यात्म के आचार्यों ने भी मित्रता पर विचार किया, पर उसकी कसौटियां भिन्न हैं। वहां देने-लेने की बात प्राप्त नहीं होती। क्या दे और क्या ले? ज्ञान का आदान-प्रदान होता है। ज्ञान देने वाला गुरु और लेने वाला शिष्य। बस, इतना ही होता है। वहां गुप्त बात कुछ होती ही नहीं। अध्यात्म में स्पष्टता ही स्पष्टता है। छिपाव है ही नहीं। छिपाव माया है। अध्यात्म माया से अछूता होता है। जहां माया है वहां अध्यात्म नहीं और जहां अध्यात्म है वहां माया नहीं। माया, प्रवंचना आदि व्यवहार की भूमिका पर चलते हैं। जहां शुद्ध अध्यात्म की भूमिका प्राप्त होती है, वहां ये सारी बातें छूट जाती हैं। यही अध्यात्म का आदि-बिन्दु है। अन्यथा अध्यात्म को खोजा ही नहीं जा सकता। अध्यात्म में मित्र की खोज करते-करते एक निष्कर्ष पर पहुंच कर यह घोषणा की—

'पुरिसा! तुम मेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्त मिच्छसि।'

पुरुष! तू ही तेरा मित्र है। बाहर मित्र की खोज क्यों कर रहा है?

'अप्पा कत्ता विकता य।'

आत्मा ही सुख का कर्त्ता है और आत्मा ही दुःख का कर्त्ता है।

'अप्पा मित्तममित्तं च।'

आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है।

यह मित्र और शत्रु की परिभाषा हमारे समक्ष है। इसका परीक्षण करें।

यदि आत्मा ही मित्र है तो मित्रता की सारी बात ही समाप्त हो जाती है। छोटा बच्चा भी दूसरों को मित्र बनाता है और बड़ा आदमी भी मित्र बनाता है। ऐसा माना भी जाता है कि जिसके मित्र और शत्रु नहीं हैं, उसका कैसा जीवन? कहा है—

'सज्जन जाके सौ नहीं, दुर्जन नहीं पचास।
ता सुत को जननी जनी, भार मरी नौ मास॥

पर जब हम अद्वैत की भाषा में सोचते हैं कि आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है, तब यह बात गले नहीं उतरती। क्या हम किसी को मित्र न मानें? क्या हम किसी को शत्रु न मानें? कैसे संभव हो सकता है? पर हमें गहरे में उतर कर सोचना होगा कि कब मित्र मानें और कब शत्रु मानें?

कारण की खोज में बताया गया कि हमारे दो प्रस्थान होते हैं—कुप्रस्थान और सुप्रस्थान। आत्मा का सुप्रस्थान होता है तब वह हमारी मित्र है और जब कुप्रस्थान होता है तब वह हमारी शत्रु है। यह मित्रता और शत्रुता के विषय में आचरणवादी दृष्टिकोण है।

दो नय हैं, दृष्टिकोण हैं। एक है द्रव्यार्थिक नय जो वस्तु की समग्रता को स्वीकार करता है। एक है पर्यायार्थिक नय जो वस्तु में पैदा होने वाले नए-नए रूपों को स्वीकार करता है। जब हम द्रव्यार्थिक नय अर्थात् वस्तु पर समग्रता की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा आत्मा है। बस, इससे आगे कुछ भी नहीं। आत्मा केवल आत्मा। चैतन्य केवल चैतन्य। न अच्छा, न बुरा। न शत्रु, न मित्र। एक पर्याय उसमें पैदा होता है तब वह आत्मा मित्र बन जाती है और एक दूसरा पर्याय पैदा होता है तब वह आत्मा शत्रु बन जाती है। यह है पर्यायार्थिक दृष्टिकोण। पर्याय है, इसलिए ध्यान का प्रयोजन है। यदि पर्याय नहीं होता, शत्रु और मित्र, अच्छा और बुरा नहीं होता तो न धर्म की जरूरत होती और न ध्यान और तपस्या की आवश्यकता होती। जो जैसा है, वैसा ही रहता। किन्तु यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह उसका अस्तित्व नहीं है। यह पर्याय है। अच्छा होना एक पर्याय है। बुरा होना एक पर्याय है। उपयोगी होना एक पर्याय है और अनुपयोगी होना एक पर्याय है। ये सारी अवस्थाएं हैं। ये बदलती हैं। इनको बदला जा सकता है, इसीलिए धर्म की जरूरत है। ये बदलती हैं, इसीलिए ध्यान और तपस्या आवश्यक है। हमारा कर्तृत्व और पुरुषार्थ है कि इनमें परिवर्तन ला सकते हैं। यह स्वामित्व हमारे हाथ में है। परिवर्तन का सूत्र हमारे हस्तगत हो गया। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं, दूसरा कोई विधाता नहीं है।

आत्मा का सु-उत्थान सबको प्रिय लगता है। वह हमारा मित्र है। आत्मा का दुः-उत्थान अच्छा नहीं लगता। वह हमारा शत्रु है। अच्छा आचरण सबको सुहाता है। बुरा आचरण किसी को नहीं सुहाता। बुरे आचरण वाले को कोई साथ में मिलाना भी नहीं चाहता।

राजा समरसेन और उसका मंत्री कुषाण। दोनों तेजस्वी और शक्तिशाली। एक बार राजा समरसेन ने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण कर, उसे अपने राज्य में मिला लिया। सर्वत्र जय जयकार होने लगा। सभी प्रसन्न। पर मंत्री कुषाण के चेहरे पर कोई प्रसन्नता नहीं। राजा ने पूछा। मंत्री बोला—'राजन्! आपने पड़ोसी राजे की उद्दंडता मिटाई, इसका सबको हर्ष है। पर उस राज्य को अपने राज्य के साथ मिलाना, कतई उचित नहीं है। उसके राज्य को मिलाकर अपने राज्य का विस्तार करना ठीक नहीं है, क्योंकि उस राज्य के नागरिक भ्रष्ट हैं। उनका चारित्र ऊंचा नहीं है। उनके मिलने

से हमारा राज्य भी प्रभावित होगा, नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा।' राजा ने इस कथन के लिए प्रमाण मांगा। मंत्री ने कहा—मैं प्रमाणित करूंगा।

एक दिन राजा, मंत्री तथा अन्यान्य संभ्रांत नागरिक विजित प्रदेश में गए। वहां मंत्री ने नगर में घोषणा करवाई कि कल महाराजाधिराज समरसेन दूध के तालाब में स्नान करेंगे। अभी तालाब सूखा है। प्रातःकाल होते-होते सभी नागरिक दो-दो लोटा दूध तालाब में डालकर उस तालाब को दूध से भर दें। सबने घोषणा सुनी।

एक नागरिक ने सोचा, सभी दूध डालेंगे ही, मैं यदि पानी डाल देता हूं तो कौन देखेगा। वह अंधेरे-अंधेरे जाकर दो लोटा पानी डाल आया। दूसरे, तीसरे और चौथे नागरिक ने भी यही सोचा। सभी ने दूध के बदले पानी डाला और तालाब पानी से भर गया।

राजा समरसेन, मंत्री कुषाण तथा अन्यान्य लोग तालाब पर उपस्थित हुए। राजा ने जब उसे पानी से भरा देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। मंत्री के बिना कहे ही राजा को सारी बात ज्ञात हो गई। उसने उस राज्य को अपने राज्य में न मिलाकर पुनः उसी राजा को लौटा दिया।

कोई भी व्यक्ति अप्रशस्त को अपने साथ न रखना चाहता है और न मिलाना चाहता है। एक भ्रष्ट अफसर भी अपने अधीनस्थ अफसरों को अभ्रष्ट देखना चाहता है। एक बेईमान सेठ भी बेईमान नौकर को नहीं चाहता। एक आलसी व्यक्ति अपने नौकर को आलसी देखना नहीं चाहता। यह आदमी की प्रकृति है।

आत्मा का अच्छा उत्थान हमारा मित्र है और बुरा उत्थान शत्रु। हम इसे समझें।

१७

समस्या और दुःख एक नहीं दो हैं

बूढ़े ने ठूंठ से कहा—तेरी और मेरी एक ही दशा है। पहले कितना वैभव था मेरा। मेरा रूप सुंदर था, दृश्य था। रूप गया। झुरियां पड़ गईं। पहले तुम भी सुंदर थे, पत्तों और फूलों से लदे हुए। सबको गंवा कर तुम भी ठूंठ जैसे बन गए हो। अब हम दोनों की एक दशा है।

ठूंठ बूढ़े की बात सुन मुस्करा कर बोला—मैं तेरे जैसा नहीं हूं। तू आज दुःख के गीत गा रहा है। मैं दुःखी नहीं हूं। क्या तू नहीं जानता, अभी मैं पतझड़ भोग रहा हूं? पतझड़ चला जाएगा, फिर वसंत आएगा और मेरा रूप निखर जाएगा। मेरे मन में वसंत की आशा है। वह मेरा आलंबन है। उसके सहारे मैं सदा सुखी रहता हूं। पर तू दुःख भोग रहा है।

एक समान अवस्था। पेड़ भी बूढ़ा और ठूंठ बना हुआ है और आदमी भी बूढ़ा और ठूंठ बना हुआ है। पेड़ दुःख नहीं भोग रहा है। आदमी दुःख भोग रहा है। ऐसा क्यों? दोनों में अन्तर है और इस अन्तर में से सचाई खोज निकालना है।

यह सचाई है कि समस्या और घटना अलग वस्तु है और दुःख होना अलग बात है। दो व्यक्ति हैं। दोनों एक जैसी परिस्थिति से गुजरते हैं। एक दुःख भोगता है और दूसरा दुःख नहीं भोगता। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो राई जितने दुःख को पहाड़ बना देते हैं और कुछ व्यक्ति पहाड़ जितने भारी-भरकम दुःख को छोटा बना देते हैं, राई जितना बना देते हैं।

दो प्रकार के लोग हैं—ज्ञानी और संवेदनशील। जो संवेदनशील होता है, उसका दुःख मिटता नहीं क्योंकि वह छोटे-से दुःख को भी बड़ा बनाकर भोगता जाता है। उसका पूरा जीवन संवेदना का जीवन होता है। वह तिनके को मूसल बना देता है। ज्ञानी आदमी तिनके को तिनका भी नहीं रहने देता, उसे भी मिटा देता है। वह संवेदन नहीं करता, दुःखी नहीं होता। ज्ञान का संबंध हमारी चेतना से होता है और संवेदन का संबंध हमारी इन्द्रिय-चेतना से होता है। जो व्यक्ति इस स्तर पर जीता है वह इन्द्रियों को प्रधानता देता है। जो इन्द्रियों की सचाइयों को ही मानता है, वह संवेदनशील हो जाता है और अपने आसपास दुःख का जगत् निर्मित

कर डालता है। इन्द्रियां धोखा देती हैं। आंखों देखा और कानों सुना भी झूठ होता है।

सिंह का विश्वस्त मंत्री था सियार। सियार अत्यन्त बुद्धिमान और चतुर था। सिंह उस पर मुग्ध था। दोनों की घनिष्टता अनेक पशुओं के लिए ईर्ष्या की बात बन गई। सब जलने लगे। सभी एकमत होकर सियार के छिद्र देखने लगे। सभी चाहते थे कि सियार को यहां से हटा दिया जाए। उन्होंने उपाय खोजा। सिंह के रसोइयों को अपने पक्ष में मिलाया। सिंह के लिए जो मांस पकता, उसमें से अस्सी प्रतिशत सियार की गुफा में और शेष बीस प्रतिशत सिंह की गुफा में भेजा जाता। दो-तीन दिन यही क्रम चला। चौथे दिन सिंह ने पूछा—'मांस कम क्यों आ रहा है?' अन्य जानवरों ने कहा—आपके मंत्री सियार का आदेश है कि अधिक भाग उनकी गुफा में भेजा जाए और आपको कम मांस दिया जाए। सिंह ने सुना। वह सियार की गुफा देखने गया। वहां मांस का ढेर लगा पड़ा था। उसका आवेश बढ़ा और उसने कहा—अभी मैं उस नीच सियार का काम तमाम कर देता हूं। वह नालायक है। सिंह की बुढ़ी मां गुफा में बैठी थी। उसने कहा—बेटे! एक बार और सोचो। सिंह बोला—मैं आंखों से देख आया हूं। मां ने कहा—आंखों देखा भी तो झूठ हो सकता है? यह आकाश दिखाई देता है नीला। पर नीला रंग है कहां? जुगनू आग जैसा दिखाई देता है, पर आग है कहां? इसलिए जांच करो, फिर निर्णय करना। सिंह ने सियार को बुलाकर पूछा—तेरी गुफा में इतना मांस क्यों? वह बोला—'महाराज! मैं तो चार दिनों से यहां था ही नहीं, मुझे ज्ञात नहीं है, किसने वहां मांस रखा है।' सिंह समझ गया और उसे षड्यंत्र का पता लग गया।

इन्द्रिय-चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति यथार्थ जीवन नहीं जीता, झूठा जीवन जीता है। वह संवेदन का जीवन जीता है, ज्ञान का जीवन नहीं जीता। ज्ञान और संवेदन एक नहीं, दो हैं। संवेदना से ऊपर उठे बिना सचाई ज्ञात नहीं हो सकती। जो दुःखी हैं वे संवेदना का जीवन जीते हैं या यों कहें जो संवेदना का जीवन जीते हैं वे दुःखी हैं। जो ज्ञान के स्तर पर जीते हैं वे कभी दुःखी नहीं होते।

आदमी दुःख नहीं चाहता, पर वह दुःख भोगता है। इसके दो कारण हैं—आदत और असातवेदनीय कर्म।

एक धनाढ्य व्यक्ति है। अपार संपत्ति, पर वह कहता है कि इस संसार में उस जैसा दुःखी व्यक्ति दूसरा है नहीं। सभी सुविधाएं हैं। कोई कमी नहीं है। फिर दुःख क्यों? यह आदत की लाचारी है। बीस वर्ष पहले किसी ने दो शब्द कह दिए। कहने वाला नहीं रहा, पर वे शब्द आज भी

उसे चुभते हैं। उनकी चुभन से वह इतना दुःख भोगता है। उन शब्दों की स्मृति दुःख का सागर खड़ा कर देती है। यह है अहेतुक दुःख, आदतन दुःख। अपनी आदत के वशीभूत होकर भोगा जाने वाला दुःख। आदत बन गई कि अतीत की घटना को याद करते जाना और दुःख भोगते जाना। इसका अंत कैसे हो?

दुःख का दूसरा हेतु है—असातवेदनीय कर्म का उदय। अतीत के कर्म वर्तमान में उदय में आकर जब फल देते हैं तब अप्रिय संवेदन जागते हैं और आदमी दुःखी बन जाता है। अपना किया हुआ स्वयं को ही भोगना पड़ता है। यह है कर्मजन्य संवेदन।

दुःख है। दुःख का हेतु है। सुख है। सुख का हेतु है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दुःख का हेतु है—प्रतिकूल सामग्री और सुख का हेतु है अनुकूल सामग्री।

सुख की तीन अवस्थाएं हैं—सुख की सामग्री, सुख का संवेदन और सुख-चेतना की आन्तरिक अनुभूति। दुःख की दो ही अवस्थाएं होती हैं—दुःख की सामग्री और दुःख का संवेदन। आत्मा में दुःख है नहीं। दुःख बाह्य जगत् का संवेदन है। भीतर में दुःख नहीं है। हमारा स्वरूप है आनन्दमय, सुखमय। हमारा स्वरूप दुःखमय नहीं है। दुःख थोपा हुआ है, आरोपित है, स्वरूप नहीं है।

दुःख और समस्या एक नहीं है। दूसरा कोई भी व्यक्ति समस्या पैदा कर सकता है, पर दुःखी नहीं बना सकता। संकट में डाल सकता है, पर दुःखी नहीं बना सकता। यह एक सचाई है, जिसे अध्यात्म के आचार्यों ने उजागर किया है। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि संकट या बाधा कोई भी व्यक्ति उपस्थित कर सकता है, पर विश्व में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो किसी को दुःखी बना सके।

क्या हरिश्चन्द्र को कम संकट में डाला गया? उसका राज्य गया, पत्नी गई, स्वयं भी स्थानच्युत हो गया। भयंकर संकट आया, पर क्या उसे दुःखी बनाया जा सका? बिलकुल नहीं? राम ने चौदह वर्ष का वनवास सहा। जंगल में भटकते रहे। क्या वे दुःख का वेदन करते थे? महावीर और बुद्ध के समक्ष क्या-क्या संकट पैदा नहीं किए गए? पर क्या वे दुःखी बने? आचार्य भिक्षु के समक्ष कितनी प्रतिकूल परिस्थितियां पैदा की गईं, पर क्या उन्हें दुःखी बनाया जा सका? सुकरात को जहर पीने के लिए विवश किया गया, पर क्या उनको दुःख में ढकेला जा सका? क्या जहर की प्याली ने मीरा को दुःखी बनाया? ये सब वे लोग थे जो संवेदना की चेतना से ऊपर उठकर ज्ञान का जीवन जीते थे। वैसे लोगों को कोई भी शक्ति दुःखी नहीं बना सकती। ज्ञान-चेतना की शक्ति बहुत प्रखर होती है। इस शक्ति से संपन्न

व्यक्तियों का सुख अबाध रहता है। कोई उन्हें दुःखी नहीं बना सकता।

अध्यात्म का अर्थ है—अतीन्द्रिय चेतना का विकास यानी इन्द्रिय-चेतना से ऊपर की चेतना का विकास। ऐसी चेतना का विकास जहां इन्द्रिय के संवेदन नीचे रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में न आदतें दुःख की हेतु बनती हैं और न असातवेदनीय कर्म का विपाक व्यक्ति को दुःखी बना पाता है। वह दुःख का अंबार खड़ा कर सकता है पर व्यक्ति को दुःखी नहीं बना पाता क्योंकि संवेदना की चेतना से ऊपर उठकर वह जी रहा है।

यह समझने में हर एक व्यक्ति को कठिनाई होती है कि जटिल समस्या में व्यक्ति दुःखी न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? यह केवल कल्पना है या इसमें कुछ तथ्य भी है?

सबका यह प्रश्न है। मैं जो यह कह रहा हूं कि समस्या अलग बात है और दुःख अलग बात है, इसमें सचाई है। समस्या हर कोई पैदा कर सकता है, पर कोई किसी को दुःखी नहीं बना सकता। दुःखी वह बनता है जो समस्या को स्वीकार कर लेता है। जो समस्या को नकार देता है, वह कभी दुःखी नहीं होता। समस्या को वह स्वीकारता है जो संवेदना का जीवन जीता है। जो ज्ञान चेतना के स्तर पर जीता है वह समस्या को स्वीकार नहीं करता। प्रश्न होता है क्या लौकिक स्तर पर ऐसा संभव है? संभव क्यों नहीं? जिस व्यक्ति ने उस आदर्श का चुनाव कर उसके प्रति सर्वात्मना समर्पण किया है, वह व्यक्ति इस भूमिका पर पहुंच सकता है। हम कुछेक बड़े लोगों की दुहाई इसलिए देते हैं कि केवल हम उन्हीं को जानते हैं। ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्होंने ज्ञान-चेतना का जीवन जीया है।

जो व्यक्ति अपने आदर्श का चुनाव नहीं करता, उसके प्रति समर्पित नहीं होता, वह कभी सफल जीवन नहीं जी सकता। वह भटक जाता है।

आदर्श क्या हो, यह भी अहंप्रश्न है। हमारा आदर्श होना चाहिए—ज्ञान, आनन्द और शक्ति की त्रिवेणी। 'अर्हत्' इसका प्रतीक है। वह ज्ञानमय है, आनन्दमय है और शक्तिमय है। यह आदर्श सम्प्रदायातीत आदर्श है। यह त्रिवेणी का प्रतीक है। जिसमें इस त्रिवेणी का प्रवाह प्रवहमान होता है वह 'अर्हत्' है। यह हमारा आदर्श है। जब हम इसके प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाएंगे तब हम उस भूमिका पर पहुंच जाएंगे जहां हमें यह स्पष्ट दीखने लगेगा कि यह रहा संवेदना का जगत् और यह रहा ज्ञान का जगत्। यह है दुःख का जगत् और यह है सुख का जगत्। सारा अवबोध स्पष्ट हो जाएगा।

व्यक्ति का यह संकल्प हो—मैं उस आदर्श के प्रति समर्पित होता हूं जहां न प्रिय-अप्रिय संवेदन हैं, जहां न दुर्बलता है, न हीनभावना है पर है केवल सत्य का अजस्र स्रोत जो सतत प्रवहमान है। उसके साथ तादात्म्य

जोड़ना, एकात्मकता का अनुभव करना ही पूर्ण समर्पण है। इस स्थिति में चाहे सुकरात हो या मीरां—कोई भी व्यक्ति हालाहल विष पी सकता है। वह जहर पीकर भी अमृत की डकार ले सकता है। वह व्यक्ति अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों को झेल सकता है, कष्टों से अप्रभावित रह सकता है। इसी एकात्मभाव को योग की भाषा में 'समापत्ति' कहते हैं। इसके साथ-साथ नई चेतना का उदय होता है, जो दुःख को पास में नहीं फटकने देती। असात वेदनीय कर्म उदय में आकर शरीर को पीड़ा दे सकता है, पर व्यक्ति को दुःखी नहीं बना सकता। ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके शरीर में अपार पीड़ा है पर पूछने पर वे कहते हैं—कष्ट शरीर को है। मैं तो परम आनन्द में हूं। आनन्द आया कहां से ? कष्ट है, पर सता नहीं पाता, क्योंकि व्यक्ति का तादात्म्य उस त्रिवेणी के साथ जुड़ा हुआ है।

मैं देखता हूं, एक धार्मिक व्यक्ति भी दुःखी है और एक अधार्मिक व्यक्ति भी दुःखी है। तो फिर धार्मिक और अधार्मिक का भेद करना व्यर्थ है। धर्म की आराधना न करने वाला यदि दुःख भोगता है तो बात समझ में आ जाती है। पर धर्म की आराधना करने वाला भी दुःख का संवेदन करे तो कुछ अटपटा-सा लगता है। दुःख दोनों को आता है। कोई अपवाद नहीं होता। पर दुःख भोगना या नहीं, यह व्यक्ति की आन्तरिकता पर निर्भर है। अधार्मिक भी बूढ़ा होता है और धार्मिक भी बूढ़ा होता है। अधार्मिक बुढ़ापे को दुःख मानकर दुःखी होता है और धार्मिक उसे अनिवार्य मानकर उसको भी सुख का हेतु बना देता है। यही तो अन्तर होता है, धार्मिक और अधार्मिक में।

हमें धार्मिक की परिभाषा यह बनानी होगी कि जो बुढ़ापा आने पर भी दुःखी नहीं होता, जो वियोग के होने पर भी दुःख नहीं भोगता, जो राग-ग्रस्त होने पर भी दुःखी नहीं होता, वह धार्मिक है। जो इन अवस्थाओं में दुःख का संवेदन कर अपार दुःख भोगता है, वह धर्म से दूर है।

ऐसी स्थिति का निर्माण अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। जो केवल सिद्धान्त की रट लगाते रहते हैं, अभ्यास नहीं करते, वे कभी ऐसी स्थिति का निर्माण नहीं कर सकते। अभ्यास जरूरी है। अभ्यास के द्वारा संवेदना की चेतना से ऊपर उठकर ज्ञान की चेतना तक हम जा सकते हैं। वहां पहुंच कर हम स्पष्ट देख सकते हैं समस्या और दुःख को अलग अलग। वहीं हम संकल्प कर पाएंगे कि हम न समस्या को स्वीकार करेंगे और न दुःख को। इन दोनों से परे जो ज्ञानचेतना है उसमें जीवन वितायेंगे। ऐसा होने पर सचाई का साक्षात्कार स्वयं होगा।

बहुत दूरी है आवश्यकता और आसक्ति में

सुविधा और सुख एक नहीं है। समस्या और दुःख भी एक नहीं है। इस सचाई को जान लेने पर भी आदमी सुविधा की ओर दौड़ता है, समस्या को समाप्त करना चाहता है। यह क्यों? आदमी कितना ही प्रयत्न करें, कितनी ही सचाई को जान लें, जब तक अपने अतीत का परिमार्जन और परिष्कार नहीं कर लेता तब तक जानते हुए भी अनजान बना रहेगा। हमारे साथ अतीत का एक भंडार है। उसका भार हम ढो रहे हैं। वह भार उठने नहीं देता। उठने का प्रयत्न करते हैं और वह नीचे दबा देता है।

अतीत के परिमार्जन के लिए मनुष्य को समझना, उसकी प्रकृति और चरित्र को समझना बहुत जरूरी है। मनुष्य अनेक चरित्र वाला होता है। चरित्र छह प्रकार का होता है—

१. रागात्मक चरित्र
२. द्वेषात्मक चरित्र
३. मोहात्मक चरित्र
४. श्रद्धात्मक चरित्र
५. बुद्धयात्मक चरित्र
६. वितर्कात्मक चरित्र

इन छह चरित्रों के आधार पर मनुष्य भी छह भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक मनुष्य रागात्मक चरित्र वाला होता है। उसे आसक्ति और राग अच्छा लगता है। वह इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहता है। सर्वत्र राग ही राग। सर्वत्र प्रियता ही प्रियता। वह सौन्दर्य का पिपासु होता है। पदार्थ जगत् की लुभावनी आकृतियों में वह आसक्त होता है। वह सबके साथ रागात्मक व्यवहार करता है। राग उसे प्रिय होता है।

एक व्यक्ति द्वेषात्मक चरित्र वाला होता है। जहां जाता है वहां द्वेष ही द्वेष फैला देता है। द्वेष, ईर्ष्या, घृणा और संघर्ष के कीटाणुओं को साथ लिए चलता है और जहां अवसर देखता है उनको बिखेरता जाता है। यह द्वेषात्मक प्रकृति है।

एक व्यक्ति मोहात्मक चरित्र वाला होता है। वह अकर्मण्यता, आलस्य और मूढ़ता लिए चलता है। वह कुछ करना नहीं चाहता। निरंतर आराम और विश्राम। खाना, पीना और सोना—ये उसके जीवन के मुख्य कार्य होते हैं। वह मूढ़ता में जीता है।

एक व्यक्ति होता है श्रद्धात्मक चरित्र वाला। वह हर बात में विश्वास कर लेता है और प्रत्येक व्यक्ति की बात को मान लेता है।

एक व्यक्ति ने आकर कहा—अरे! मैं तुम्हारे ससुराल से आया हूं। बहुत दुःखद समाचार है कि तुम्हारी पत्नी विधवा हो गई। इतना सुनते ही वह रोने लगा। लोगों ने पूछा, रो क्यों रहे हो? वह बोला—रोऊं क्यों नहीं! मेरी पत्नी विधवा हो गई है। एक समझदार व्यक्ति ने कहा—तुम जीवित बैठे हो, फिर तुम्हारी पत्नी विधवा कैसे हो गई? उसने कहा—मेरे ससुराल का नाई आया था। क्या वह झूठ कहेगा?

ऐसी प्रकृति के व्यक्ति होते हैं, जो प्रत्येक बात को मान लेते हैं। कुछ व्यक्ति होते हैं जो बुद्धयात्मक चारित्र से युक्त होते हैं। वे हर बात पर सोच-समझ कर फिर उसे मानेंगे। उनका चरित्र जिज्ञासात्मक या ज्ञानात्मक होता है। यह भी एक प्रकृति होती है।

कुछ व्यक्तियों का चरित्र वितर्कात्मक होता है। हर बात में वे तर्क करते हैं। उनका चित्त व्यवस्थित नहीं रहता, अनवस्थित होता है। उनका संदेह कभी नहीं मिटता। वे पग-पग पर संदेह करते रहते हैं और तर्क के जाल में फंसते जाते हैं। यह वितर्कात्मक चरित्र की अवस्था है।

इस प्रकार चरित्र के आधार पर मनुष्यों के छह नहीं, छह सौ विभाग किए जा सकते हैं। जितनी आकृतियां उतनी ही प्रकृतियां और उतने ही चरित्र।

रागात्मक प्रकृति वाला आदमी संग्रह करता है, चाहे आवश्यक हो या न हो। वह बटोरना चाहता है। आदिम समाज में यह प्रवृत्ति नहीं थी। जो जिसके काम आ जाती आ जाती। अन्यथा ऐसे ही पड़ी रहती। न पदार्थ की चिंता और न उपयोग की चिन्ता। न वर्तमान की चिंता और न भविष्य की चिंता। जब समाज का विकास हुआ तब रागात्मक वृत्ति का भी विकास हुआ। राग बढ़ा। साथ ही साथ संग्रह की भावना बढ़ी। राग है इसलिए आदमी संग्रह करता है, अन्यथा नहीं करता। रागात्मकता के कारण ही व्यक्ति सुख-सुविधाओं को बटोरता है, भोगता है। हजार बार सुन लेने पर भी रागभाव से छुटकारा नहीं मिलता।

प्रश्न है—क्या रागात्मक प्रकृति को बदला जा सकता है? क्या संग्रह की समस्या का कोई समाधान है? क्या संग्रह के कारण उत्पन्न विषमता और उससे उत्पन्न तनाव और प्रतिक्रियात्मक हिंसा को कम किया जा सकता है? ये सारे प्रश्न आज के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

उपाय का निर्देश दिया गया कि लोभ को संतोष से और राग को विराग से जीतो। पर प्रश्न है, संतोष और विराग आए कैसे? मैं जानता हूं, दूध में घी है और फूल में सुगंध है। पर उनको विलग करने का उपाय नहीं जानता हूं तो दूध से घी निकलेगा कैसे और फूल से सुगंध (इत्र) निकलेगी कैसे? कठियारा जानता था कि अरणि की लड़की में आग विद्यमान

है। पर वह उससे आग निकालने का उपाय नहीं जानता था। उसने अरणि की लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर डाले पर आग नहीं निकली। आग वही निकाल सकता है जो तरकीव जानता है।

राग को वदलने का उपाय है विराग। विराग तव आता है जव व्यक्ति ध्यान के द्वारा अपने संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है। श्वास-प्रेक्षा, दीर्घ श्वास-प्रेक्षा आदि ध्यान नहीं हैं। ये ध्यान के परिवार हैं, घटक हैं इसलिए इन्हें भी ध्यान कह देते हैं। ध्यान तो वहुत दूर है। लंवी यात्रा के वाद वहां पहुंचा जा सकता है। ये सारी प्रारम्भिक भूमिकाएं हैं। ध्यान की अवस्था वह है जहां मन निरुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है या अमन वन जाता है।

मन अनिरुद्ध है। वह भटकता रहता है। उसे वछड़े की उपमा दी जाती है। वछड़ा वाड़े में वंधा रहता है तो ठीक रहता है। उसे यदि मुक्त आकाश दे दिया जाता है तो वह ऊधम मचाता फिरता है। मन यदि वाड़े में वंधा नहीं रहता तो उसकी चंचलता अपार हो जाती है। इसलिए मन का निरोध आवश्यक होता है। मन की एक भूमिका है—यातायात। प्रायः लोग इसी भूमिका में जीते हैं। मन दौड़ता रहता है। कभी एकाग्र होता है और कभी उच्छृंखल। उसके निरोध का अभ्यास करें। यह न देखें कि एकाग्रता टूटी कितनी वार। यह देखें कि एकाग्रता सधी कितनी वार। चंचलता कितनी कम हुई। आदमी उलझ जाता है निषेधात्मक भावों में। एक मार्मिक कहानी है—

एक व्यक्ति ने शीशे का आविष्कार किया। उसने सोचा, आदमी अपने आपको देख नहीं सकता, पर मेरे आविष्कार से वह अपने आपको देख सकेगा। वह प्रसन्न होकर राजा के पास गया। राजा ने पूछा—क्या लाए हो? उसने कहा—'महाराज! अद्‌भुत वस्तु लाया हूं। वह वस्तु लाया हूं, जिसमें आदमी स्वयं को देख सके। राजा का मन उत्सुकता से भर गया। वह स्वयं को देखना चाहता था। तभी मंत्री ने राजा को एकान्त में ले जाकर कहा—महाराज! क्या आप राज्य का सत्यानाश करना चाहते हैं? क्या आप नहीं जानते कि अपनी छाया या प्रतिविम्व को देखना कितना वड़ा अपशकुन है? लगता है यह धोखेवाज है। किसी राज्य का गुप्तचर या आपका अकल्याण चाहने वाला है।' राजा ने सुना। माथा ठनका। विचार वदला और उस व्यक्ति को जेल में डाल, फांसी की सजा सुना दी। फांसी का दिन आया। राजा ने पूछा—वोलो, तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या है? उसने कहा—महाराज! मेरी अंतिम इच्छा यही है कि आप मेरे शीशे में एक वार स्वयं को देखें। यह सुनकर राजा अवाक् रह गया। अंतिम इच्छा पूरी करनी होती है।

बात फैलते-फैलते अन्तःपुर में पहुंची। पटरानी के मन में उत्सुकता जागी। उसने महाराजको कहकर वह शीशा अपने पास मंगा कर स्वयं का प्रतिबिंब देखा। वह पुलक उठी। साज-शृंगार कर पुनः देखा। मन आनन्द से भर गया। रानी की प्रसन्नता ने उसके सौन्दर्य में निखार ला दिया। राजा ने रानी से निखार का कारण पूछा। रानी ने सारी बात बता दी। राजा के मन में पुनः उत्सुकता जागी। उसने एकांत में जाकर अपनी छवि देखी। मन आनन्द से भर गया। राजा ने उस व्यक्ति को बुलाकर, छाती से लगा पुरस्कृत किया।

यह है स्वयं को देखने का चमत्कार। व्यक्ति निषेधात्मक भावों से विधेयात्मक भावों में आ जाता है। दंड पुरस्कार में बदल जाता है। राग विराग में बदल जाए, लोभ पर संतोष छा जाए—यह सब कुछ हो सकता है, जब हमें स्वयं को देखने का दर्पण प्राप्त हो जाता है। यह प्राप्त होने पर लोभ और संग्रह से होने वाली समस्या, विषमता की समस्या तथा अन्यान्य सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। प्रश्न है वह दर्पण क्या है?

१९

चारित्र-परिवर्तन के सूत्र

ललित-कला, ललित-साहित्य—ये जीवन की दिशा के घटक हैं। आदमी इनसे प्रेम करता है। रागात्मकता को जीवन विकास की दिशा में अनिवार्य माना जाता है। जहां रागात्मकता नहीं होती वहां किसी भी कला का विकास नहीं होता और कलाशून्य जीवन पशुतुल्य माना जाता है। इस स्थिति में राग से विराग की ओर जाने की बात क्यों ?

भारत के प्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह दिनकर ने कहा था, कोई भी जैन मुनि अच्छा कवि नहीं हो सकता क्योंकि वह विराग की साधना करता है, विरागी है। कवि रागी होना चाहिए। मैंने सोचा, कवि होना कठिन नहीं है, किन्तु राग और विराग की सीमा को समझना कठिन है। राग प्रशस्त और अप्रशस्त—दोनों प्रकार का होता है। महावीर के प्रति गौतम का बहुत राग था, अनुराग था। उसे प्रशस्त राग कहा गया है। यह रागात्मकता दोष नहीं है। जो आसक्ति है, प्रमाद है, वह अप्रशस्त राग है, जो अपने भीतर द्वेष के कीटाणुओं को पालता चलता है।

लौकिक दृष्टि में कला, साहित्य, स्थापत्य आदि में होने वाला राग बुरा नहीं माना जाता। हम अभी अध्यात्म के संदर्भ में विचार कर रहे हैं। वहां राग को अप्रशस्त भी माना गया है। हमें इस पर नियंत्रण करना है। इसका उपाय है प्रशस्त राग का विकास। प्रशस्त राग का विकास अप्रशस्त राग पर विजय पाने में सहायक बनता है।

आदमी में शरीर, आहार और धन के प्रति आसक्ति होती है। शरीर की आसक्ति, आहार की आसक्ति और धन की आसक्ति—ये तीन मुख्य आसक्तियां है, जो अन्यान्य आसक्तियों को जन्म देती हैं। सामाजिक प्राणी न शरीर को छोड़ सकता है, न आहार और धन को छोड़ सकता है। फिर प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में राग को छोड़ने और विराग को लाने की बात कैसे सोची जा सकती है ? विराग अच्छा है। संतोष अच्छा है। पर उनके प्रतिष्ठापन का प्रश्न जटिल है।

अध्यात्म के आचार्यों ने कहा, सबसे पहले आवश्यकता और आसक्ति का भेद समझ लेना चाहिए। दोनों दो बातें हैं। शरीर एक आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। आहार जीवन की अनिवार्यता है, परम आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। धन जीवन निर्वाह का एक साधन है,

आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता ।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा—आवश्यकता और आसक्ति में अन्तर क्या है ? गुरु ने एक पिंजरा और एक फल मंगवाया । पिंजरा खाली था, खुला था । एक पक्षी आया । फल खाकर पिंजरे को देखकर चला गया । दूसरे दिन एक फल बाहर रखा और दूसरा फल भीतर । पिंजरा बंद था । ठीक समय पर पक्षी आया । बाहर पड़ा फल खाया । उसकी दृष्टि पिंजरे में पड़े बड़े फल की ओर गई । वह पिंजरे के चक्कर लगाने लगा । बहुत समय तक चक्कर लगाता रहा । थक गया । फल मिला नहीं । उड़ गया ।

गुरु ने कहा—पक्षी के कल थी आवश्यकता और आज है आसक्ति । आवश्यकता पूरी हुई । पक्षी उड़कर चला गया । आज आसक्ति है । फल पिंजरे में बंद है । छटपटा रहा है उसे पाने के लिए ।

बंदरों को पकड़ने वाले एक संकरे मुंह वाले बर्तन में चने डालकर रख देते हैं । बंदर चनों का लालची होता है । वह उस संकरे बर्तन में हाथ डालता है, चनों से मुट्ठी भर कर हाथ बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, पर बाहर निकाल नहीं पाता । क्योंकि मुट्ठी में चने हैं, वह बंद है । यह बंदर की आसक्ति है ।

अध्यात्म के चिंतकों ने अव्यावहारिक बात नहीं कही । उन्होंने व्यवहार का लोप नहीं किया । उन्होंने पहले ही चरण में यह नहीं कहा कि वीतराग बन जाओ । ऐसा होना असंभव है । साधना का भी क्रम होता है । पहले चरण में उन्होंने कहा—आवश्यकता और आसक्ति का भेद समझो कि यह मेरे जीवन की आवश्यकता है और यह मेरे जीवन की आसक्ति है । यह बोध स्पष्ट होने पर आगे की बात सुगम हो जाती है ।

जीवन में यदि कोरी आसक्ति रहती है तो वह बोझिल बन जाता है । फिर आवश्यकता का भी नामशेष हो जाता है । उसका पता ही नहीं चलता । केवल आसक्ति चलती रहती है । बहुत सारे लोग आसक्ति का जीवन जीते हैं और भार ढोते रहते हैं । मानसिक तनाव, उच्च रक्तचाप, मानसिक अवसाद और पागलपन—ये सब आसक्ति की चिनगारियां हैं जो अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हैं ।

रागात्मक चरित्र को मिटाने का पहला उपाय है—आसक्ति और आवश्यकता का भेदज्ञान करना ।

दूसरा उपाय है अशौच भावना । यह अपने शरीर के प्रति या दूसरे के शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति या रागभाव को मिटाने का उपाय है ।

शरीर बाहर से सुन्दर है । चमड़ी गोरी है । रंग अच्छा है । पर भीतर रक्त है, मांस है, चर्बी है, मज्जा है, हड्डियां हैं, और नानाविध मल हैं । दुर्गन्ध है । सडान ही सडान है । ऊपर चमड़ी न हो तो भीतर का रूप बीभत्स है,

डरावना है, अशुचिमय है। इससे जो निकलता है वह सारा अशुचिमय है। शरीर के संपर्क से अच्छी से अच्छी वस्तु खराव हो जाती है। ऐसा सोचना अशौच भावना है। इस चिन्तन से शरीर की आसक्ति मिटती है। रागात्मक चारित्र को बदलने का यह उपाय है।

अशौच भावना शरीर को भीतर से देखने की प्रेरणा है। इस भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर शरीर की आसक्ति नहीं टिकती।

रागात्मक चरित्र को बदलने का तीसरा उपाय है—श्मशान प्रतिमा। साधक श्मशान में जाता है और जलते हुए मुर्दों को देखता है और देखता है कि चिता ठंडी हुई, हवा आई, राख उड़ गई। इतस्ततः उसी व्यक्ति की हड्डियां बिखरी पड़ी हैं। खोपड़ी भूमि पर असहाय पड़ी है। साधक जा रहा था। ठोकर लगी। नीचे देखा। ठोकर खोपड़ी से लगी थी। उसने खोपड़ी अपने हाथ में ली। चारों ओर से उसे देखा। अपनी झोली में डाल उसे झोंपड़ी में ले गया। अब प्रतिदिन प्रातःकाल उसे देखता है और शरीर की नश्वरता के विचार से ओतप्रोत हो जाता है। भक्तों ने पूछा—महाराज! यह क्या है? इसे क्यों लिए घूमते हैं? संन्यासी ने कहा—यह खोपड़ी संजीवनी है। इसने मुझे जिला दिया। इसने मेरी सुषुप्ति मिटा दी, मुझे जगा दिया।

श्मशान-दर्शन रागात्मक प्रवृत्ति को रूपान्तरित कर विराग की भूमी प्रस्तुत करता है।

चौथा उपाय है—भय। रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति में यदि भय न हो तो वह विकृत आचार वाला बन सकता है। भय उसे पग-पग पर उबारता है।

भय दोनों प्रकार का होता है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में भय है, परिणाम का बोध कराना, आतंक का बोध कराना। उसे स्पष्ट बताना कि जैसे किंपाक फल का उपभोग मृत्यु में परिणत होता है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों का उपभोग हानिकारक होता है। भोग आपातभद्र होते हैं, पर उनका परिणाम विरस ही होता है।

धर्मग्रन्थों में स्त्री को राक्षसी आदि कहा गया है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। स्त्रियों का यह जो रौद्र चित्र है वह सारा रागात्मक चरित्र वाले व्यक्तियों के लिए है। स्त्री सबके लिए राक्षसी नहीं है। वह रागात्मक व्यक्तियों के लिए राक्षसी है। जिस व्यक्ति में देहासक्ति प्रबल होती है, उसके लिए स्त्री राक्षसी है। वह उसके शरीर-सार को चूसकर उसे हड्डियों का ढांचा मात्र बना देती है। ऐसे व्यक्तियों को प्रतिबोध देने के लिए, उनकी आंख खोलने के लिए, ये बातें कही गई हैं।

अभय होना बहुत बड़ी साधना है तो भय का होना भी आवश्यक है।

समाज भयमुक्त होकर चल नहीं सकता। साधक में यदि भय न हो तो वह भी ठीक चल नहीं सकता। भय दोनों प्रकार का आवश्यक है—बाहर का भय और भीतर का भय। वर्तमान स्थिति का भय और परिणाम का भय। 'ऐसा काम करोगे तो नाम पर धव्वा लग जाएगा'—यह भय है। शुद्ध अध्यात्म की स्थिति में यह बात कभी मान्य नहीं होती। पर यह भय आदमी को बचाता है। प्रतिष्ठा के कम होने का भय, गुरु के उलाहने का भय, साथी के उपालंभ का भय, परिवार के सम्मान का भय—ये सारे भय रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति को बचाते हैं।

पांचवां उपाय है—नियंत्रण। नियंत्रण के बिना रागात्मक भाव सहसा बदल नहीं पाता। आवास, भोजन, साथी—इन सबका नियंत्रण आवश्यक होता है। रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति का भोजन एक प्रकार का होगा और द्वेषात्मक चरित्र वाले व्यक्ति का भोजन दूसरे प्रकार का होगा। दोनों की भोजन विधाएं भिन्न होंगी। रागभाव वाला व्यक्ति मनोज्ञ भोजन पसन्द करेगा। उससे राग में वृद्धि होगी। द्वेष प्रकृति वाला अमनोज्ञ भोजन करेगा, चिचिड़ापन बढ़ता जाएगा। स्निग्धता स्निग्धता को और रूक्षता रूक्षता को बढ़ाती है। रागात्मक चरित्र वाले को कभी-कभी अमनोज्ञ भोजन और द्वेषात्मक चरित्र वाले को कभी-कभी मनोज्ञ भोजन देने से संतुलन बना रहता है। यह नियन्त्रण आवश्यक है।

सबके साथ समान व्यवहार नहीं किया जा सकता। विधि-निषेध को जानने वाला संतुलन स्थापित करता है।

वैद्य के पास दो रोगी आए। वैद्य ने एक रोगी को कहा—तुम प्रतिदिन कुछ घी का सेवन करो और दूसरे से कहा—तुम जीवन भर के लिए घी का प्रयोग छोड़ दो। सुनने वाले को यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार लग सकता है। पर वैद्य अनुभवी था। जिसके पाचन की मंदता थी उसकी पाचन-अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए घी का साधारण प्रयोग उचित था। जिसके चर्बी बहुत बढ़ी हुई थी, उसके लिए घी का वर्जन उचित था। यह पक्षपात नहीं, विवेकपूर्ण व्यवहार है।

दूसरा नियंत्रण है आवास का। रागात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए नीले रंग का आवास उपयोगी होता है। उसकी प्रकृति का परिवर्तन होने लगता है। नीला रंग उसके रूपान्तरण का सही घटक है। द्वेषात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए हरा रंग वाला आवास कारगर होता है। वासना विजय और इन्द्रिय विजय के लिए नीले रंग का ध्यान उपयोगी है। नमस्कार महामंत्र का पांचवां पद है—'णमो लोए सव्वसाहूणं'। उसका स्थान है—स्वास्थ्य-केन्द्र। वहां नीले रंग का ध्यान किया जाता है। ऐसा करने से उत्तेजना शांत होती है, रागात्मक भाव बदलता है।

उस स्कूल के बच्चे बहुत उद्दंड थे। विचार-विमर्श हुआ। हल नहीं निकला। एक मनोचिकित्सक ने देखा। उसे पता चला कि स्कूल के कमरे लाल रंग से पुते हुए हैं। नीचे लाल रंग की कालीन बिछी हुई है। बच्चों की उद्दंडता का कारण है यह लाल रंग। उसने व्यवस्थापकों को कहकर लाल रंग के स्थान पर नीला रंग कर दिया। कुछ ही महीनों में बच्चों की उद्दंडता मिट गई। वे विनम्र हो गए, अनुशासित हो गए।

नियंत्रण का अर्थ बांध देना नहीं है। पागल आदमी को बांधा जा सकता है। आदमी के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से स्थितियां बदल कर नियंत्रण प्रस्तुत करना चाहिए।

तीसरा नियंत्रण है साथी का। अच्छा साथी मिलता है तो व्यक्ति बदल जाता है। यदि बुरे का सहवास होता है तो अधःपतन होता है। शास्त्र कहते हैं—'निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा' साथी निपुण हो। वह स्वयं के गुणों से अधिक गुणी हो या समान गुणवाला हो। वैसा साथी साथ निभा सकता है और उबार सकता है। वह चारित्र को बदल सकता है।

चारित्र को बदलने के चार उपाय प्रस्तुत किए—

१. आसक्ति और आवश्यकता का भेद-बोध

२. अशौच भावना का अभ्यास

३. श्मशान-दर्शन, मृत्यु-दर्शन

४. भय की अनिवार्यता

ये सारे मध्यवर्ती उपाय हैं। अन्तिम सचाई है समता। वह एक साथ नहीं उभरती। इन माध्यमों से हमें वहीं पहुंचना है।

हमें सबसे पहले अपने चरित्र को समझना होगा कि मेरा चरित्र राग-प्रधान है या द्वेष-प्रधान। दोनों के भिन्न-भिन्न आलंबन होंगे। द्वेषात्मक प्रकृति वाले के लिए ज्योतिकेन्द्र की साधना और रागात्मक प्रकृति वाले के लिए आनन्दकेन्द्र की साधना अत्यधिक लाभप्रद होती है। द्वेषात्मक प्रकृति वाला आनन्दकेन्द्र पर और रागात्मक प्रकृति वाला ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान कर सकता है। पर समय की मात्रा का अन्तर रहेगा। यदि राग को बदलना है तो आनन्दकेन्द्र पर लम्बे समय तक, द्वेष को बदलना है तो ज्योतिकेन्द्र पर लंबे समय तक, ध्यान अपेक्षित होगा। यह विवेक आवश्यक है। हमारा यह दृढ़ अभिमत बन जाए कि किसी भी चरित्र को बदला जा सकता है पद्धति के द्वारा। कोरा ज्ञान और कोरा सिद्धान्त रूपान्तरण में उतना सहायक नहीं होता, जितना सहायक प्रयोग होता है। हम सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों का सन्तुलन साधें।

२०

आसक्ति अनासक्ति का आधार निवृत्तिवाद

जैन दर्शन निवृत्ति प्रधान दर्शन है। सांख्य दर्शन भी निवृत्ति प्रधान है और वेदांत को भी निवृत्ति प्रधान कहा जा सकता है। मीमांसा आदि कुछ दर्शन प्रवृत्ति प्रधान हैं। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में दो धाराएं रही हैं—प्रवर्तक धर्म की धारा और निवर्तक धर्म की धारा।

प्रवृत्ति जीवन के लिए अनिवार्य है। मन, वाणी और शरीर—ये तीन प्रवृत्तियों के साधन हैं। मन की प्रवृत्ति, वाणी की प्रवृत्ति और शरीर की प्रवृत्ति—इन तीनों को जीवन के रहते छोड़ा नहीं जा सकता। जब तक शरीर है तब तक प्रवृत्ति और जब तक प्रवृत्ति है तब तक शरीर। शरीर और प्रवृत्ति का संबंध है।

योग की साधना निवृत्ति प्रधान है। अमन होना निवृत्ति है। मौन होना निवृत्ति है और शरीर का स्थिर होना निवृत्ति है।

हमारे सामने प्रश्न है कि हम निवृत्ति का चुनाव करें या प्रवृत्ति का? प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा जा सकता तो निवृत्ति को भी नहीं छोड़ा जा सकता। समस्या आसक्ति की है तो समस्या अनासक्ति की भी है। आवश्यकता बचे, आसक्ति न बचे, इसके उपाय पर चिन्तन करते-करते हम इस बिन्दु पर पहुंच जाते हैं कि यदि अनासक्त होना है तो निवृत्ति लानी ही होगी। निवृत्ति का आधार है अनासक्ति। उसके बिना निवृत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। निवृत्ति में से जो प्रवृत्ति निकलती है, वह है अनासक्ति। 'करो' में से 'करो' निकलेगा वह आसक्ति होगी और 'न करो' में से 'करो' निकलेगा वह अनासक्ति होगी। न करो, न बोलो, न सोचो—यह अनासक्ति का आधार है। प्रश्न है कि इस 'न करो' से व्यवहार कैसे चलेगा? जीवन कैसे चलेगा? सब कुछ जडवत् हो जाएगा।

'न करना' सामान्य विधि है, उत्सर्ग मार्ग है। 'करना' विशेष विधि है, अपवाद मार्ग है। हमारी मूल प्रकृति या शुद्ध चेतना है न करना, न बोलना, न चिन्तन करना। किन्तु जब व्यक्ति व्यवहार की भूमिका में आता है, जीवन यात्रा को चलाने का प्रश्न आता है तब विशेष विधि या अपवाद-मार्ग का सेवन करना पड़ता है। यदि 'न करने' में से 'करना' निकलता है तो कर्त्तव्य का विवेक होगा कि क्या करना है, कितना और कैसे करना है? यदि 'करो' में से 'करो' निकलेगा तो वहां कर्त्तव्य का विवेक नहीं होगा,

कार्य की सीमा नहीं होगी।

जैन दर्शन के दो प्रसिद्ध शब्द हैं—समिति और गुप्ति। समिति प्रवृत्ति है और गुप्ति निवृत्ति। समिति जब गुप्ति से संवलित होती है तब प्रवृत्ति सत् होती है, अनासक्तिपूर्ण होती है। जिस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में गुप्ति नहीं होती, वह असम्यक् होती है, असत् होती है। निवृत्ति कार्य को शुद्धता देती है। जितना जितना निवृत्ति या निषेध का अंश है वह कार्य को उतना ही सद् बनाता है।

एक आदमी खड़ा है, ठहरा हुआ है। ठहरना निवृत्ति है, चलना प्रवृत्ति है। ठहरने के पीछे एक संकल्प है कि मैं ठहरा हुआ हूं। वह संकल्प उसे गति-निवृत्ति यानी ठहराए हुए है। ठहरने के बाद जो उसमें से गति निकलेगी वह शक्तिशाली होगी। एक आदमी चलता जाए, निरंतर चलता चले तो उसकी गति में मंदता आ जाएगी। शरीर के पुर्जे घिस जाएंगे। यदि वह गति की निवृत्ति करता हुआ प्रवृत्ति नहीं करेगा तो लुढ़क जाएगा, चल नहीं पाएगा। स्थिति है गतिमूलक। यदि गति नहीं है तो स्थिति नहीं है।

एक राजा ने एक व्यक्ति से कहा—दिन भर में तुम जितनी भूमी को चलकर पार करोगे, उतनी भूमि तुम्हें दे दी जाएगी। वह व्यक्ति प्रसन्न होकर चला। निरंतर गति करता रहा। रुका नहीं विश्राम नहीं लिया। गति की निवृत्ति नहीं की। सांझ हुआ। चलकर राजा के पास आ ही रहा था कि गिर पड़ा और मर गया।

सतत प्रवृत्ति जीवन को अस्त-व्यस्त कर डालती है। निवृत्ति जरूरी है। मैं यदि पूछूं कि जीवन किससे चलता है तो सभी एक ही उत्तर देंगे—जीवन चलता है आहार से, भोजन-पानी से। सीधा उत्तर है। सही भी है। पर यह पूरा सही नहीं है। जीवन केवल आहार से नहीं चलता। वह चलता है आहार और अनाहार के संतुलन से। यदि केवल आहार से जीवन चलता हो तो चौबीस घंटा खाकर देखें। निरंतर खाते रहें। दूसरे दिन निकम्मे हो जाएंगे। उठना-बैठना भारी हो जाएगा। संभव है काम तमाम हो जाए। अनाहार तो चौबीस घंटे क्या, पचास-साठ या अधिक दिन भी रहा जा सकता है। पर निरंतर आहार का क्रम चलाना, इतने लंबे समय तक, संभव नहीं है। असंभव है। जीवन चलता है आहार और अनाहार के उचित योग से। यथार्थ में आहार से अनाहार का महत्त्व अधिक है।

हम सोचते हैं, इसलिए काम कर पाते हैं। अधूरा सत्य है। हम नहीं सोचते, इसलिए सोचे हुए काम को सरलता से संपन्न कर डालते हैं। यदि निरंतर २४ घंटे सोचते रहें। चिन्तन करते रहें, पागल हो जाएंगे या ब्रेन हेमरेज के शिकार बन जाएंगे। समझदार और पागल में यही तो अन्तर होता है कि समझदार आदमी जब चाहे तब अपने चिंतन पर नियन्त्रण कर सकता

है, जब कि पागल नियंत्रण नहीं कर सकता। जो विचार आ गया पागल उसी में वह जाता है। इसीलिए वह पागल कहलाता है। पागल आदमी कम नहीं सोचता। वह समझदार से भी अधिक सोचता है, पर नियंत्रण की क्षमता न होने के कारण वह पागल कहलाता है।

अधिक सोचना, निरन्तर सोचना, आदमी को पागल बना देता है, दिमाग पगला जाता है। निरंतर बोलना भी आदमी को खोखला बना देता है, पागल-सा बना देता है। जो सोचता है और चिंतन को विश्राम भी देता है, जो बोलता है और वाणी को विश्राम भी देता है, उसका चिंतन और बोलना और अधिक तेजस्वी बन जाता है। जो केवल बोलता ही है, चुप नहीं रहता, वह झूठ अधिक बोलेगा। जो सीमित बोलता है वह झूठ से बच सकता है।

पशुओं का मेला लगा हुआ था। अनेक बेचने वाले और अनेक खरीदने वाले। एक व्यक्ति ने एक सौदागर से अनेक पशु खरीदे। उस सौदागर के पास एक कुत्ता भी था। उसने कहा—'आप ने अन्यान्य सारे पशु खरीद लिए, इस कुत्ते को क्यों छोड़ा? आप इसे ले जाएं, यह बड़ा अद्भुत कुत्ता है। यह मनुष्य की भाषा बोलता है।' यह सुनकर खरीददार को आश्चर्य हुआ। उसने कुत्ते से पूछा—

'तुम कहां से आए हो?'

'मैं उज्जयिनी से आया हूं।'

'यहां क्यों आए हो?'

'मालिक ले आया, इसलिए।'

'तुम क्या करोगे?'

'जो मालिक कहेगा।'

'रात में रखवाली करोगे?'

'हां।'

'दिन में जहां भेजूंगा, वहां चले जाओगे?'

'अवश्य ही।'

उसने जो भी कहा, कुत्ता स्वीकार करता गया, नकारना वह जानता ही नहीं था। उसने फिर पशु के सौदागर से कहा—इतना अच्छा नौकर है, फिर इसे बेच क्यों रहे हो? वह बोला—'यह कहता सब कुछ है, पर करता कुछ भी नहीं। झूठ बोलने में यह माहिर है।'

जो आदमी सब कुछ स्वीकारता जाता है, कुछ भी नहीं नकारता, केवल वाचालता करता है, वह झूठ बोलता है, धोखा देता है। आदमी को नकारना भी चाहिए कि यह मेरी शक्ति से बाहर है। मैं यह कर नहीं सकता। ऐसा व्यक्ति धोखा नहीं दे सकता।

सोचना और सोचने का निषेध 'न सोचना', बोलना और बोलने का निषेध 'न बोलना' तथा करना और करने का निषेध 'न करना'—ये दो मार्ग हैं। एक है प्रवृत्ति और दूसरी है निवृत्ति। प्रवृत्ति के साथ यदि निवृत्ति नहीं होती है तो वह प्रवृत्ति सम्यक् नहीं हो सकती। अनेक व्यक्ति निवृत्ति को पलायनवाद कहते हैं। पश्चिमी दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को पलायनवादी दर्शन की संज्ञा दी है। भारतीय दार्शनिकों ने भी यहां के जैन और सांख्य दर्शन को पलायनवादी दर्शन माना है। यह पलायनवाद नहीं, मूल सचाई है। जिस साधना या प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में निवृत्ति नहीं होती वह प्रवृत्ति आदमी को खतरनाक मोड़ पर पहुंचा देती है। वह आदमी में आसक्ति पैदा कर देती है और यही कारण है कि नितांत प्रवृत्ति, कोरी प्रवृत्ति ने अणुयुग को पैदा किया, अणुअस्त्रों को जन्म दिया। यदि निवृत्ति का भाव होता तो अणु-अस्त्रों को जन्म नहीं मिलता। कोरी प्रवृत्ति की ही यह उपज है। जब इस उपज के भयावह परिणाम आने लगे तब निवृत्ति या निःशस्त्रीकरण या अणु-अस्त्रों का सीमाकरण—यह बात उपजी। तब ये स्वर उभरे कि स्टार वार को रोका जाए। अणुअस्त्रों का विस्तार न किया जाए। यह निवृत्ति की बात सामने आती है। आखिर निवृत्ति पर आकर ही आदमी सुख की सांस ले पाता है। यदि प्रवृत्ति ही सब कुछ है तो फिर आगे बढ़ते चलें, रुके नहीं। फिर चाहे अणुयुग का विस्तार हो या अन्तरिक्ष युद्ध का निर्माण हो या और कुछ हो। जहां रुकने की भावना आएगी, वह निवृत्ति होगी।

हम किसी भी क्षेत्र में निवृत्ति को नकार नहीं सकते। साधना में निवृत्ति जरूरी है तो व्यवहार में भी उसकी अनिवार्यता है।

श्वास लेना प्रवृत्ति है, आवश्यकता है। इसके बिना कोई रह नहीं सकता। किन्तु अ-श्वास रहना भी आवश्यक है। जिसने अ-श्वास रहने का अभ्यास कर लिया उसने विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अ-श्वास अचिन्तन की भूमिका है, मौन और अक्रिया की भूमिका है। यदि हम प्रत्येक श्वास के साथ दो सेकेंड के अ-श्वास का अभ्यास करें तो सहज ही अ-श्वास की स्थिति बन जाती है। पूरे दिन में हम लगभग २०-२५ मिनिट अ-श्वास के बिता सकते हैं। इससे जीवनशक्ति, कर्मजाशक्ति और मस्तिष्कीय शक्ति बढ़ेगी। श्वास का संयम, कुंभक या अ-श्वास विकास के स्रोत हैं। श्वास का संयम करना चिन्तन को प्रखर और शक्ति को प्रस्फुटित करना है। जितना श्वास का मूल्य है उतना ही अ-श्वास का मूल्य है, उससे अधिक मूल्य है।

आसन करते हैं। आसन का अर्थ है सक्रियता। किन्तु जिस आसन के साथ निवृत्ति जुड़ी हुई नहीं है वह आसन अच्छा नहीं होता। अत्यन्त सूक्ष्म क्षण है निवृत्ति का। सर्वांगासन करते हैं। यदि उसमें स्थिरता नहीं है, तो वह आसन पूर्ण नहीं होगा। सर्वांगासन किया। करने के पश्चात् बिल्कुल

स्थिर, कोई हलन-चलन नहीं, जैसे कोई प्रतिमा खड़ी हो। प्रत्येक आसन के साथ निवृत्ति जोड़ने से ही वह फलदायक होता है।

प्रवृत्ति के पीछे-पीछे नहीं, साथ-साथ निवृत्ति चलेगी तो क्रिया अच्छी होगी। चलते-चलते भी कायोत्सर्ग हो सकता है। यह असंभव नहीं है। इधर तो चल रहे हैं, उधर शरीर को शिथिल करने की क्रिया भी चालू है। यह साधना जब परिपक्व हो जाती है तब साधक आनन्द से आप्लावित हो जाता है। आदमी सरसों के ढेर पर नाचता है, पर एक भी दाना इधर से उधर नहीं होता। आदमी पानी से भरी दस-बीस गिलासें माथे पर रखकर, बिना हाथ का सहारा दिए, नाच रहा है। ऊपर चढ़ रहा है, नीचे उतर रहा है। पानी की एक बूंद भी नहीं गिर रही है। ये सारी असंभव बातें नहीं, संभव बातें हैं। यह प्रवृत्ति में निवृत्ति की साधना है। श्वास और प्रश्वास के बीच जो अ-श्वास का क्षण है, वह महत्त्वपूर्ण है। उसकी साधना करनी है। उसे पकड़ना है। उसे देखना है। यह है प्रवृत्ति में निवृत्ति।

हृदय एक सेकेंड धड़कता है तो दो सेकेंड विश्राम करता है। प्रवृत्ति से दुगुनी निवृत्ति। यह है उसकी कार्य-प्रणाली। यह है प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति। जिस प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति जुड़ी हुई होती है वह अनासक्त प्रवृत्ति होती है, अनासक्त कर्म होता है।

इससे अधिक संग्रह नहीं करूंगा। खाऊंगा तो इतनी मात्रा से अधिक नहीं खाऊंगा। बोलूंगा तो इससे अधिक नहीं बोलूंगा। सोचूंगा तो इतने समय से ज्यादा नहीं सोचूंगा—हर प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति जोड़ दें। अनासक्त की साधना स्वतः होती रहेगी। जो केवल अनासक्ति की चर्चा करते हैं, पर प्रवृत्ति का सीमाकरण नहीं करते, निवृत्ति की बात नहीं जोड़ते, वे और अधिक आसक्ति में फंस जाते हैं। एक व्यक्ति ने कहा संपदा का अत्यधिक विस्तार अनासक्ति का कारण बन सकता है। पर अनुभव ऐसा नहीं कहता। जिन-जिन लोगों ने संपदा का विस्तार किया है, वे आसक्ति में फंसे हैं और जीवन भर अनासक्ति का सपना लेते रहे, पर अनासक्त बन नहीं पाए। केवल मृत्यु के क्षणों में जब उन्हें इस सचाई का पता चला तो उन्हें केवल पछताना ही हाथ लगा।

सिकन्दर महान् इसका ज्वलंत उदाहरण है। वह प्रत्येक अभियान में सफल होता गया। विजय और केवल विजय। साम्राज्य का इतना विस्तार कर लेने पर भी वह अन्त तक अनासक्त नहीं बन सका।

महाराज अपराजित महान् विजय प्राप्तकर माता के चरण-स्पर्श करने गया। मां ने मुंह फेर दिया। उसने कहा, मां! महान् विजेता बनकर आया हूं। आशीर्वाद दो। मां ने कहा—नर-संहार कर विजय प्राप्त करने वाले को क्या आशीष दूं? बोलो, इतनी विजय प्राप्त कर क्या करोगे? उसने कहा—

मां ! पड़ोसी राज्यों को जीतूंगा। फिर क्या करोगे ? आस-पास तथा दूर के राज्यों को अपने राज्य में मिलाऊंगा। फिर क्या करोगे ?' सभी राजाओं को अधीनस्थ बनाकर फिर शांति से बैठूंगा।' मां बोली—कितने भोले हो ! लाखों लोगों का संहार कर शांति से बैठोगे तो आज ही शांति से क्यों नहीं बैठ जाते ?

हर आदमी को कहना पड़ेगा, इतना सब कुछ कर लेने पर अन्त में मैं शांति से बैठूंगा, निवृत्त हो जाऊंगा। प्रत्येक युद्ध का परिणाम होता है संधि, समझौता। यह आखिरी मंजिल है। तो पहले ही हम इसको दृष्टि में रखकर प्रवृत्त क्यों नहीं होते ?

आदमी प्रवृत्ति-निपुण है। उसे प्रवृत्ति की शिक्षा अपेक्षित नहीं है। वह निवृत्ति सीखे, निषेध सीखे। आज के मनोविज्ञान ने 'नकार' पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है कि नकार की भाषा में नहीं बोलना, सोचना चाहिए। पर यह एकांगी दृष्टिकोण है।

निषेध बहुत आवश्यक है। आदमी सब कुछ खाना जानता है पर उसे सीखना है कि भोजन में अमुक चीजें कैसे छोड़ी जा सकती हैं। वह सोचने में निपुण है, पर उसे 'न सोचने' की विधि सीखनी है। वह बोलने में विचक्षण है, पर उसे 'मौन' रहने की कला सीखनी है। यह सारा है निवृत्ति का अभ्यास। यदि कोई पूछे कि श्रेष्ठ जीवन की परिभाषा क्या है तो मैं कहूंगा कि जिस जीवन में प्रवृत्ति का संतुलन है वह है श्रेष्ठ जीवन, उत्कृष्ट जीवन। जिसमें यह संतुलन नहीं है वह है जघन्य जीवन। कोरी निवृत्ति चल नहीं सकती। कोरी प्रवृत्ति चलती है तो जीवन टूट जाता है। मानसिक और शारीरिक विकृतियां पैदा हो जाती हैं। वह जीवन नारकीय जीवन बन जाता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि हम आवश्यकता और अनासक्ति की सीमा में जीएं। बीच में जो आसक्ति है, उसे समझें। एक ओर आवश्यकता है, दूसरी ओर अनासक्ति। दोनों के बीच निवृत्ति का धागा जुड़ जाए, आसक्ति कम हो जाएगी। तब आवश्यकता अनासक्ति को जन्म देगी और अनासक्ति आवश्यकता को कम करेगी। परस्पर विरोध वाली बात नहीं है। यदि आवश्यकता की बात ही रही तो प्रवृत्ति को बल मिलेगा, जीवन की व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी, साधना की बात प्राप्त ही नहीं होगी। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी प्रतिदिन कुछ समय निवृत्ति की साधना में बिताए। निवृत्ति का सूत्र जीवन-विकास का महान् सूत्र है।

२१

क्या धन की आसक्ति छूट सकती है ?

आज मैं एक प्रश्न उपस्थिति कर रहा हूं। ध्यान की शक्ति-सीमा क्या है ? प्रत्येक तत्त्व की शक्ति-सीमा होती है। अनेक लोग कहते हैं, ध्यान से सब कुछ हो जाएगा। मैं इसमें विश्वास नहीं करता। अनेक लोग कहते हैं, धर्म से सब कुछ हो जाएगा। मैं इसमें विश्वास नहीं करता। 'सब कुछ हो जाए' या 'सब कुछ कर दे'—ऐसा तक भी तत्त्व नहीं है संसार में। सबकी अपनी-अपनी सीमा है, मर्यादा है। ध्यान की भी एक सीमा है। उससे कुछ होता है, पर सब कुछ नहीं होता। अनेक लोगों ने यह प्रश्न प्रस्तुत किया है कि ध्यान के द्वारा आर्थिक समस्या सुलझ सकती है ? क्या धन के प्रति जो असीम आसक्ति है, उसे ध्यान के द्वारा तोड़ा जा सकता है ? तो आज हम ध्यान और धन के सम्बन्ध की चर्चा करें।

धन एक आवश्यक तत्त्व है। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। जीवन की यात्रा चलाने के लिए आवश्यक तत्त्वों में धन की प्राथमिकता है। रोटी से जीवन चलता है, पर धन के बिना रोटी नहीं आती। पानी से जीवन चलता है, पर पैसे के बिना पानी नहीं मिलता। जीवन की जो प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति का साधन है धन। श्वास इसका अपवाद है, क्योंकि वह खरीदना नहीं पड़ता, कहीं से लाना नहीं पड़ता। वह सबके पास है। पर कभी-कभी श्वास भी धन से प्राप्त किया जाता है। जब सहज श्वास लेने में कठिनाई होती है तब आक्सीजन लिया जाता है। उसके लिए धन आवश्यक होता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जीवन की यात्रा को चलाने का सबसे पहला और सबसे अन्तिम सशक्त साधन है धन। इसलिए धन की आवश्यकता को स्वीकारने में किसी को कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

दूसरी बात है, जो जितना आवश्यक होता है, वह उतना ही प्रिय बन जाता है। आवश्यकता और प्रियता में दूरी बहुत कम है। जिसकी आवश्यकता होती है, उसमें प्रियता का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से धन आवश्यक साधन ही नहीं रहा, उसके साथ प्रियता भी जुड़ गई। धन की पहली अवस्था है आवश्यकता और दूसरी अवस्था हो गई प्रियता। मकान बनाया आवश्यकता-वश, पर अब उसके साथ प्रियता जुड़ गई। इतनी प्रियता जुड़ गई कि कभी-

कभी दूसरों के मकान में सोने की आवश्यकता होती है तो वहां नींद भी नहीं आती। आवश्यकता और प्रियता में बहुत निकटता है।

तीसरी बात है, प्रियताजनित आसक्ति। प्रियता आसक्ति पैदा करती है। पानी यत्र-तत्र नहीं ठहरता। पत्थर या रेत पर पानी नहीं ठहरता। पत्थर पर पानी बह जाता है और रेत पानी को शोष लेती है। पानी वहां ठहरता है जहां नीचे कीचड़ हो। पंकीले स्थान में पानी ठहरता है। कोरी भूमि पर पानी नहीं ठहरता। आसक्ति को भी प्रियता का पंक चाहिए। जहां प्रियता होती है वहां आसक्ति जमा होती जाती है।

पहले पैदा हुई आवश्यकता, उससे जन्मी प्रियता और उससे उत्पन्न हुई आसक्ति! अब ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में धन आवश्यक नहीं, आसक्ति बना हुआ है। इसी प्रकार व्यक्ति में वह आसक्ति बन गया है। आवश्यकता को तोड़ने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है आसक्ति को तोड़ने का। एक ओर ध्यान है, एक ओर धन है और बीच में है आसक्ति का धागा। ध्यान के सामने धन और आवश्यकता को मिटाने की बात नहीं है, उसके सामने है आसक्ति को मिटाने की बात। मेरा अनुभव है कि विश्व में ध्यान के अतिरिक्त ऐसी कोई दूसरी शक्ति नहीं है जो धन की आसक्ति को तोड़ सके। आवश्यकता को रोका जा सकता है। अनेक शक्तियां हैं। पर आसक्ति को रोक सके, तोड़ सके, ऐसी कोई ताकत नहीं है। अध्यात्म का दृष्टिकोण, धर्म की आराधना या ध्यान—ये ही धन की आसक्ति का उच्छेद कर सकते हैं। पर शर्त यह है कि जो आसक्ति से वास्तव में छूटना चाहे वही छूट सकता है, दूसरा नहीं।

तीन चीजें हैं—दंड, कानून और धर्म। हमें तीनों की प्रकृति को समझना है। दंड और कानून के सामने चाहने और न चाहने का प्रश्न नहीं होता। कोई चाहे, या न चाहे, वह उसकी गिरफ्त में आ जाता है। वहां बाध्यता है। धर्म की प्रकृति इनसे भिन्न है। कोई चाहे तो बदल सकता है और न चाहे तो नहीं बदल सकता। धर्म की अपार शक्ति है। कोई उसे काम लेना चाहे तो वह काम करती है। कोई काम में लेना न चाहे तो वसे अपने आप में स्थित हैं। चाह पैदा हो। चाह पैदा हो जाने पर व्यक्ति धर्मह और ध्यान को साधन बना कर रूपान्तरण घटित कर सकता है। ध्यान या धर्म से जबरन किसी को नहीं बदला जा सकता।

आसक्ति के चक्र को तोड़ने की पहली शर्त है कि व्यक्ति में आसक्ति मुक्त होने की भावना जागनी चाहिए। दूसरी बात है, फिर उसे तोड़ने का उपाय खोजना चाहिए। ध्यान उपाय है। पर कैसा ध्यान, इसका विवेक अपेक्षित है। सबके लिए या सभी अपायों के लिए एक ही प्रकार का ध्यान कारगर नहीं हो सकता। क्रोध को मिटाया जा सकता है, पर हर प्रकार के

ध्यान से वह नहीं मिटता। यह जानना जरूरी होता है कि शरीर के किस बिन्दु पर कैसा ध्यान करने से वह मिटता है। यह स्पेशेलाइजेशन की प्रक्रिया है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक डाक्टर पूरे शरीर की चिकित्सा करता है, फिर भी शरीर के विभिन्न अवयवों की सूक्ष्म चिकित्सा या विशेष चिकित्सा के लिए विशेषज्ञ होते हैं। आंख, नाक, कान, हृदय, हड्डी का संधान आदि-आदि के विशेषज्ञ होते हैं। उनका इन अवयवों की चिकित्सा पर अधिकार होता है। ध्यान का प्रयोग भी ठीक ऐसा ही है। हमारा पूरा शरीर ध्यान का केन्द्र है और उसके किसी भी भाग पर ध्यान किया जा सकता है। किन्तु बदलना है क्रोध की प्रकृति को और ध्यान किया जाए घुटनों पर या अंगुलियों पर तो सफलता नहीं मिलेगी। बदलना है काम-वासना की प्रकृति को और ध्यान किया जाए कंधे पर या पीठ पर, तो काम नहीं नहीं बनेगा। निराशा ही हाथ लगेगी। हमें उस बिन्दु का ज्ञान होना चाहिए, जहां ध्यान करने पर क्रोध की और कामवासना की प्रकृति रूपान्तरित होती है। इन सब अपायों के लिए विशेष बिन्दु हैं शरीर में, जिन पर एकाग्र होने से ये सारे अपाय मिट जाते हैं। यदि क्रोध को बदलना है तो ललाट पर ध्यान करना होगा। यहां कषाय की अभिव्यक्ति होती है। कषाय का यह मुख्य क्षेत्र है। यह एमोशनल एरिया है। इसी प्रकार विशुद्धि-केन्द्र और आनन्द-केन्द्र पर ध्यान करने से कामवासना पर नियंत्रण किया जा सकता है। सबके भिन्न-भिन्न बिन्दु हैं और ध्यान के भिन्न-भिन्न प्रयोग हैं।

धन के प्रति आसक्ति को कम करने के लिए पहले हमें आसक्ति के बिन्दु को जानना होगा। वह शरीर में कहां-कैसे है, इसका ज्ञान करना होगा। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग केवल शारीरिक परिवर्तन मात्र घटित करने के लिए नहीं है। जैसे, ध्यान किया, रक्तचाप किया और जो रक्तचाप अधिक था वह कम हो गया। ध्यान किया, रक्तचाप संतुलित हो गया। ध्यान किया और बीमारी मिट गई। ये सारी प्रासंगिक बातें हैं, प्रासंगिक परिणाम हैं। प्रेक्षाध्यान का मुख्य प्रयोजन है भावपरिवर्तन, वृत्तियों का रूपान्तरण। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा, भय, कामवासना आदि-आदि जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियां हैं, उनसे निपटना, संस्कारों को क्षीण करना—यह है ध्यान का मुख्य प्रयोजन। ये सारी प्रकृतियां सताए नहीं, बढ़े नहीं, आसक्ति का रूप न ले लें, यह अपेक्षित है।

धन की आसक्ति मनुष्य की सभी आसक्तियों में प्रबलतम आसक्ति है। आदमी के लिए धन जितना प्रिय है, उतना दूसरा कुछ भी नहीं है। भाई-भाई को प्रिय होता है, पर तब तक ही जब तक कि धन का प्रश्न बीच में न आए। पति को पत्नी और पत्नी को पति सबसे अधिक प्रिय है। पर जब धन का प्रश्न उठता है तब पति पत्नी से और पत्नी पति से अलग हो

जाते हैं। धन का प्रश्न आते ही चूल्हे दो, घर दो, दरवाजे दो और सब कुछ दो हो जाते हैं। जहां एकात्मकता थी, वहां द्वंद्वात्मकता विराजमान हो जाती है। इन सारे संदर्भों से यही फलित निकलता है कि संसार में सबसे अधिक प्रिय है धन, संपदा, संपत्ति। शेष सारे संबंध इसके समक्ष फीके हैं, व्यर्थ हैं।

एक प्रश्न उभरता है कि क्या जीवन निर्वाह के लिए धन अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए इसके साथ इतनी प्रियता जुड़ गई या अन्य कोई कारण है? विमर्श करने पर ऐसा लगता है कि धन के प्रति आसक्ति होने का मुख्य कारण है मिथ्यादृष्टिकोण। यही आसक्ति का जनक है। धन या संपदा के प्रति एक मिथ्या धारणा बन गई कि धन से सब कुछ हो सकता है, होता है, धन सर्व-शक्ति संपन्न देवता है, प्रभु है। यह धारणा इतनी गहरी हो गई कि धन है तो सब कुछ है, धन नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ति—यह उक्ति इसी धारणा का प्रतिनिधित्व करती है। जिसके पास धन है, वह व्यक्ति सर्वगुणसंपन्न है। जिसके पास धन नहीं है, वह अगुणी है, फिर चाहे वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो। राजनीति का सूत्र है, जिसके पास भरापूरा कोश है, खजाना है, वह सर्व-शक्तिसंपन्न राजा है। वह सभी कठिनाइयों का पार पा सकता है। जिसका कोश रिक्त है, वह पग-पग पर कठिनाइयों में फंसता जाता है। इन सारी बातों ने मनुष्य को यह मानने के लिए विवश किया कि धन ही परमेश्वर है। यही शक्ति है। इससे सब कुछ साधा जा सकता है। इस धारणा ने धन के प्रति आसक्ति को और अधिक गहरी कर दी। धन के प्रति असीम मोह पैदा हो गया। इतना मोह कि आदमी और कुछ छोड़ सकता है, पर धन को नहीं छोड़ सकता। यह मोह आदमी के रक्तगत हो गया, मज्जागत हो गया। एक छोटे बच्चे में भी पैसों के प्रति अजीब आसक्ति देखी जाती है। इस आसक्ति के संस्कार, वह पूर्वजन्म से लेकर आता है। निमित्तों से वे संस्कार उभरते हैं और धन की आसक्ति बढ़ती चली जाती है।

धन की आसक्ति को न्यून करने के लिए संत-साहित्य में धन को दुर्गति की खान, लोभ को पाप का बाप आदि-आदि कहा गया। पर आदमी में धन की आसक्ति कम नहीं हुई। आदमी जीवन भर धर्म की आराधना करता है, पर इस आसक्ति से छुटकारा नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि धन या धन की आसक्ति को कम करने का धर्म से कोई संबंध है ही नहीं। धर्म है परलोक सुधारने के लिए और धन है गृहस्थी को चलाने के लिए। दोनों में क्या संबंध हो सकता है? कोई संबंध नहीं माना गया। प्राचीनतम साहित्य में यह बार-बार कहा गया है कि जहां धन की आसक्ति है वहां न धर्म है, न तप है और न दम है, न शांति है और न इन्द्रिय-

विजय है। ईसू क्राइस्ट ने कहा—सूई की नोक से ऊंट निकल सकता है, पर धनी आदमी स्वर्ग के द्वार में प्रवेश नहीं पा सकता। और-और भी अनेक प्रकार के उपदेश-वाक्य हैं। पर आसक्ति टूटी नहीं। चक्र और अधिक जटिल बनता चला जा रहा है। चक्रव्यूह जैसा बन गया है।

हम निराश न हों। उपाय की खोज में लगे रहें। अवश्य ही सफलता मिलेगी। यह मानकर न बैठ जाएं कि दो-चार हजार वर्षों में जिसका उपाय नहीं खोजा गया या उपाय सफल नहीं हुआ तो क्या आज हम इस समस्या का पार पा लेंगे? यह निराशा की ध्वनि है। हम आशा का अनुबंध लेकर आगे बढ़ें। रास्ता मिल जाएगा। रास्ता मिलेगा उसी को जिसके मन में आसक्ति को तोड़ने की प्रबल चाह जाग गई है। आचार्य ने कहा—जो भागीदार हैं वे सब ताक लगाए बैठे हैं कि कब आदमी मरे और कब हमें धन का हिस्सा मिले। चोर धन चुराने की ताक में है। राजा भी धन के अपहरण की बात सोचता है। राज्याधिकारी भी धन लूटने की ताक में हैं। आग लगती है, धन जल कर राख हो जाता है। बाढ़ धन को बहा ले जाती है। आदमी धन को जमीन में गाड कर सुरक्षित रखना चाहता है, पर कभी-कभी यक्ष उसका हरण कर लेते हैं। आदमी अचानक मर जाता है और धन जमीन में गडा का गडा रह जाता है। करोड़ों का संचय करता है और उसकी आचरणहीन संतान उस संचित धन को थोड़े समय में ही बरबाद कर डालती है।

आदमी इन सब सचाइयों को जानता है फिर भी धन की आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता। हम इसको तोड़ना चाहते हैं पर अभी तक ऐसा कोई बिन्दु प्राप्त नहीं हो सका जिस पर ध्यान करने से आसक्ति पर सीधा प्रहार हो सके। अन्यान्य उप।यों के निराकरण के लिए अनेक बिन्दु खोज लिए गए, पर इसका कोई अस्पष्ट बिन्दु अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। यह खोज का विषय है। आज नहीं तो कल यह बिन्दु अवश्य ही प्राप्त होगा! शरीर का ऐसा एक भी भाग नहीं है, जहां परिवर्तन का बिन्दु न हो। हठयोग ने शरीर में हजारों बिन्दु माने हैं, जो परिवर्तन के घटक हैं। पर धन की आसक्ति को मिटाने वाला विशेष बिन्दु अभी भी अज्ञात है। जब तक उसकी खोज चले तब तक हम दूसरे किसी एक उपाय को काम में लें। वह उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग् दृष्टिकोण। इसके आते ही मूर्च्छा टूटेगी और यह स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि धन ही सब कुछ नहीं है। धन को सब कुछ मान लेना, मिथ्या दृष्टिकोण है। जब सम्यग्दर्शन जागता है, उसी क्षण से आसक्ति पर प्रहार होने लगता है और धीरे-धीरे वह क्षीण होती जाती है।

धन के प्रति आसक्ति होने का एक व्यावहारिक कारण यह भी है कि आदमी जब अन्यान्य व्यक्तियों को धन के प्रति आसक्त देखता है,

गुलछर्रे उड़ाते हुए देखता है तब उसके मन में यह ललक जागती है कि जब सब धन एकत्रित कर रहे हैं तो भला मैं क्यों बाकी रहूं। यह ललक लालसा पैदा करती है और उसमें आसक्ति बढ़ जाती है। यह बहुमत के प्रभाव से होने वाली आसक्ति है। आदमी बहुमत के प्रभाव में बह जाता है। वह नहीं सोचता, सच क्या है झूठ क्या है। सरपंच के सामने एक व्यक्ति ने शिकायत करते हुए कहा—गांव वाले मुझे जलाने के लिए मरघट पर ले जा रहे हैं। वे कहते हैं, मैं मर गया। पर सरपंच साहब! देखें, मैं आपके सामने जिन्दा बैठा हूं, मरा नहीं हूं। आप न्याय करें। सरपंच ने कहा—मैं जानता हूं कि तू मरा नहीं है। सामने बैठा है, बोल रहा है, पर बहुमत के निर्णय को मैं नकार नहीं सकता। जब गांव कह रहा है कि तू मर गया, फिर मेरे अकेले के कहने से क्या होगा? बहुमत का निर्णय मानना ही होगा।

प्रश्न यह नहीं है कि आदमी जिन्दा है या मरा। प्रश्न है बहुमत की क्या राय है। आज का बहुमत धन के पक्ष में है। आसक्ति को बढ़ाने की दिशा में प्रस्थित है। फिर उस आसक्ति को तोड़ने की बात में वजन ही क्या रह जाएगा? इस स्थिति में एक मात्र उपाय बचता है सम्यग् दर्शन का। व्यक्ति-व्यक्ति में इस धारणा का निर्माण हो कि धन ही सब कुछ नहीं है। इस धारणा के पुष्ट होते ही आसक्ति में छेद होने लगेगा और देखते-देखते वह छेद दरार बनकर आसक्ति के सरोवर को रिक्त कर देगा।

'धन ही सब कुछ नहीं है,' क्योंकि जीवन के महत्त्वपूर्ण घटक तत्त्व दो हैं—बुद्धि और स्वास्थ्य। जिनके पास धन का अंबार लगा हुआ है पर बुद्धि और स्वस्थता नहीं है तो वह धन उनके लिए शत्रु बन जाएगा। वे उस धन का उपभोग नहीं कर पाएंगे। मनोबल टूट जाएगा। वे केवल धन के नौकर मात्र रहेंगे, स्वामी कभी नहीं बन पाएंगे।

एक करोड़पति सेठ मेरे पास बैठा था। उदास था। मैंने उदासी का कारण पूछा। उसने कहा, महाराज! मेरे पास सौ का नोट था। वह कहीं गिर गया। बहुत ढूंढा मिला नहीं।' उसी चिन्ता में आज भोजन भी नहीं किया। नींद भी उड़ गई।' मैंने पूछा—करोड़पति आदमी हो। सौ रुपयों का क्या अर्थ है? गुम हो गए तो कौन-सा अनर्थ हो गया? उसने कहा, महाराज! मैं एक पैसे का घाटा भी सहन नहीं कर सकता। आय कितनी भी हो, उसे सह लेता हूं, पर व्यय सहा नहीं जाता। मनोबल टूट गया है।

धन के होने पर भी यदि स्वास्थ्य नहीं है तो वह धनी-दरिद्र होगा। दरिद्रता का जीवन जीना पड़ेगा। न खा-पी सकेगा और न खिला-पिला सकेगा।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि सुखद जीवन का एकमात्र विकल्प धन नहीं है। स्वास्थ्य, मनोबल, शरीरबल, मानसिक संतुलन, बुद्धि-

बल, विवेक आदि-आदि होने पर ही जीवन सुखी हो सकता है। यदि ये नहीं होते और कोरा धन होता है तो अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। जब यह तथ्य हृदयंगम हो जाता है तब आदमी जीवन की सफल यात्रा के लिए धन को पचीस प्रतिशत और पिचहोत्तर प्रतिशत अन्यान्य तत्त्वों को मानेगा। इस सम्यग् दर्शन के प्रकाश से जब व्यक्ति का मन आलोकित होता है, जब यह समग्रता की दृष्टि प्राप्त होती है तब आसक्ति के बचने का कोई उपाय शेष नहीं रहता। जब व्यक्ति के मन में यह मनोरथ जागता है—कब मैं इस परिग्रह—आसक्ति के बन्धन से मुक्त हो सुखी जीवन जीऊं, उसी क्षण से आसक्ति का चक्र टूटने लगेगा।

सम्यग् दर्शन की जागृति का क्षण आसक्ति के टूटने का क्षण है। इसे हम सब समझें, हृदयंगम करें और इसे बनाए रखने का संकल्प लें।

२३

अपनी आत्मा अपना मित्र : कब—कैसे ?

अपनी आत्मा अपना मित्र, अपनी आत्मा अपना शत्रु—यह सिद्धांत हमने सुना है, पढ़ा है और जाना है। पर सोचना है कि हमारा अनुभव क्या है ? क्या सही है कि अपनी आत्मा अपना मित्र है, अपनी आत्मा अपना शत्रु है ? अनुभव और सिद्धांत में दूरी है तब तक कुछ नहीं होता। सुनी-सुनाई बात और अनुभव एक हो जाए तब सत्य की कसौटी होती है। दूरी मिट जाती है। जब तक यह दूरी बनी रहती है तब तक जीवन भर हम सिद्धांत को सुनते चले जाते हैं, न सिद्धान्त हमारे पास आता है और न हम सिद्धान्त के समीप जाते हैं। बस, कान का काम है सुनना और मन का काम है सिद्धांत का भार ढोना। आदमी सुनता चला जाता है, भार ढोता चला जाता है। जिसमें विवेक चेतना नहीं है, उसके लिए शास्त्र भी भार है। वह शास्त्रों से लाभ नहीं उठा पाता। गधा चंदन का बोझ ढोता है, सुगन्ध नहीं ले पाता। मनुष्य भी उस स्थिति में केवल भारवाही होता है। सिद्धांत अनुभव के स्तर पर आए, तब वह लाभदायी बनता है। तभी यह कहा जा सकता है कि अपनी आत्मा ही मित्र है और अपनी आत्मा ही शत्रु है। जिन लोगों ने यह कहा, यह उनके अनुभव की वाणी थी। अनुभव करने वालों की वाणी हमारे पास है। उनके पास अनुभव था, हमारे पास केवल उनकी वाणी है। अपना अनुभव नहीं जुड़े तो वह वाणी केवल वाणी ही बनकर रह जाएगी। एक है अनुभवी आदमी, एक है अनुभवहीन आदमी और बीच में है वह वाणी, तो कुछ होगा नहीं। इसीलिए कहा गया कि जितना जाना जाता है उतना कहा नहीं जाता और जितना कहा जाता है उतना बोधगम्य नहीं होता, समझा नहीं जाता।

मैं महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण को जानता हूं। मैंने गीता पढ़ी है, योगवाशिष्ठ, त्रिपिटक और पुराण पढ़े हैं। महावीर आदि चारों महान् व्यक्तियों की वाणियां पढ़ी है। पढ़ लेने पर भी मैं न राम बना, न कृष्ण बना, न बुद्ध बना और न महावीर बना। बना इसलिए नहीं कि उन्होंने तपस्या और साधना कर परदे के पीछे जो था वह कहा, जो आवृत था उसे अनावृत कर कहा, जो अननुभूत था उसे अनुभूत कर कहा। मैं परदे के पीछे जो है, उसे तो जानता नहीं हूं, किन्तु परदे में से एक वाणी आ रही है, स्वर निकल रहा है, उसे सुन रहा हूं। इस प्रक्रिया में मेरे हाथ आया केवल शब्द,

कोरा शब्द। शब्द की पहुंच सीमित होती है। जिस व्यक्ति ने परदे के पीछे इस सचाई का साक्षात्कार किया है, वह व्यक्ति जो कहता है वह बात सत्य है, अनुभूत है। किन्तु जिसने सचाई का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया और केवल शब्दों को पकड़ रहा है, वह उसकी सही व्याख्या नहीं कर सकता। वह तर्क से सिद्ध कर सकता है, भुलावे में डाल सकता है, पर पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। तर्क उन लोगों ने चलाया जिनके पास अपना अनुभव नहीं था, सत्य का साक्षात्कार नहीं था। तर्क की प्रकृति ही ऐसी लचीली है कि उसे जहां चाहो वहां बिठा दो, बैठ जाएगा। तर्क जगत् की एक समस्या है कि वहां तर्क और शब्द का स्पर्श नहीं है। तर्क का जगत् बड़ा विचित्र है।

राजा के पास एक आदमी आकर बोला—मैं नौकरी चाहता हूं। राजा ने कहा—'क्या खजाने का काम संभाल लोगे ?' उसने कहा—नहीं। क्या सेना में भर्ती होना चाहते हो ? 'नहीं।' 'क्या आरक्षी बनोगे ?' 'नहीं।' 'तो फिर क्या करना चाहोगे ?' वह बोला—'राजन् ! ये सारे काम मैं नहीं जानता। मेरी अपनी यह विशेषता है कि मैं किसी भी प्रश्न का उत्तर तत्काल दे सकता हूं। मेरा उत्तर सटीक होता है।

राजा ने परीक्षा करने के तात्पर्य से पूछा—'बताओ ! मेरी हथेली में बाल क्यों नहीं हैं ? उसने कहा—राजन् ! दान देते-देते आपकी हथेली के बाल उड़ गए।' राजा ने पूछा—'तुम तो दान नहीं देते, फिर तुम्हारी हथेली में बाल क्यों नहीं हैं ? उसने कहा—महाराज ! दान लेते-लेते मेरे सारे बाल साफ हो गए।' राजा ने आगे पूछा— अच्छा, तो बताओ कि मेरे सभासदों की हथेलियों में बाल क्यों नहीं हैं ? वह तत्काल बोला—'महाराज ! आप दान देते हैं, हम लेते हैं, तब इन्हें परम आनन्द की अनुभूति होती है। उस हर्ष के प्रकर्ष में ये जोर-जोर से तालियां बजाते हैं, इसलिए हथेलियों के बाल सारे झड़ गए।

तर्क ठीक था। उसने तीनों बातों का सटीक उत्तर दिया। तर्क संगत भी था, पर इससे निकला क्या ? निष्कर्ष कुछ भी नहीं।

एक व्यक्ति आधुनिक भगवान् के प्रवचन में गया। एक घंटा तन्मयता से प्रवचन सुना। सारा प्रवचन तर्कपूर्ण, बौद्धिक और शब्दों के लालित्य से भरा पूरा। उसने आकर बताया—महाराज ! घंटा भर वक्तव्य सुना। सुनने में बहुत अच्छा। तर्क संगत्। उठा, दरवाजे के बाहर आकर सोचा, प्रवचन से क्या मिला ? मेरे मस्तिष्क ने उत्तर दिया—कोरे शब्द और कोरा भटकाव।

जिस सिद्धांत के साथ अनुभव नहीं जुड़ता, वह किसी का बहुत भला नहीं कर सकता। अनुभवहीन बात भटकाती है, पहुंचाती नहीं। अपनी आत्मा

अपना मित्र तभी बन सकती है जब यह बात अनुभव में उत्तर जाए। अनुभव अभ्यास के बिना नहीं बनता। अभ्यास महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कृष्ण से पूछा गया कि मन का नियंत्रण कैसे हो सकता है? उत्तर मिला, अभ्यास के द्वारा मन पर नियंत्रण किया जा सकता है। पतंजलि ने भी यही कहा कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निरोध घटित हो सकता है। महावीर ने कहा—चरित्र के बिना सब अधूरा है। चरित्र है अभ्यास की प्रक्रिया। अभ्यास के द्वारा ही अनुभूति के स्तर पर पहुंचा जा सकता है।

अभ्यास करने से पहले कुछ एक धारणाओं को स्पष्ट करना आवश्यक होता है। धारणाओं के स्पष्ट होने पर अभ्यास करने में सुविधा होती है।

अपनी आत्मा को अपना मित्र बनाने के चार सम्यग्दर्शन हैं—

१. सुविधावादी दृष्टिकोण का परित्याग।

२. कोई दूसरा व्यक्ति सुख-दुःख नहीं दे सकता—इस आस्था का निर्माण।

३. आवश्यकता और आसक्ति की भेदरेखा का बोध।

४. आदत को बदला जा सकता है—इस श्रद्धा का निर्माण।

इन चार सम्यग्दर्शन के अंजन से जब आंखें आंजी जाती हैं, तब उनमें आलोक उभर आता है।

कुछ व्यक्ति संघ बनाकर यात्रा कर रहे थे। एक जंगल में विश्राम के लिए पड़ाव डाला। वहां डाकुओं का आतंक था। संघ के समाचार सुनकर डाकू आ धमके। सबके पास से धन लूट लिया। एक लड़का पुस्तक पढ़ रहा था। वह अभय था। एक डाकू उसके पास गया, बोला, जो कुछ है दे दो। लड़के ने अपने पास जो पचास मोहरें थीं, वे दे दीं। डाकू ने चाकू दिखाते हुए कहा—और कुछ? लड़का बोला—और भी है, पर वह तुम्हें नहीं दूंगा। तुम्हारे सरदार को भेजो। सरदार आया। लड़के ने कहा—यह पुस्तक मेरा धन है। सरदार बोला—इसे मुझे दे दो। लड़का बोला—ऐसे ही नहीं दूंगा। पहले सुनाऊंगा, फिर दूंगा। लड़के ने डाकू के सरदार को पुस्तक का एक पन्ना इतने मार्मिक ढंग से सुनाया कि सरदार हतप्रभ रह गया। उसमें लिखा था—दूसरों को उत्पीड़ित करने वाला समाज के लिए किस प्रकार कंटक बनता है और उसकी अन्ततोगत्वा क्या गति होती है। सरदार की आंखें खुल गईं और उसने लूटपाट का सारा सामान उनके मालिकों को लौटा दिया।

हमारा यह सम्यग्दर्शन जागे कि आदमी बदल सकता है। बदलने के अनेक कोण हैं, माध्यम हैं। जो कर्म पर विश्वास करते हैं वे कर्मवादी आचरण का मूल कर्म का विपाक मानते हैं। वैज्ञानिक लोग रसायनों को आचरण का मूल मानते हैं। उनका कहना है, जैसा रसायन होगा वैसा ही

आचरण और व्यवहार होगा। उनकी खोज शारीरिक रसायनों और पदार्थों से सम्बन्धित है। धार्मिक व्यक्ति कर्मों के आधार पर आचरण और व्यवहार की बात कहेगा। प्रत्येक व्यक्ति कर्मों से बंधा हुआ है। प्रतिक्षण कर्म उदय में आते हैं, विपाक में आते हैं। यह चक्र क्षण भर के लिए भी नहीं रुकता। निरंतर कर्म-बन्ध और निरन्तर कर्म-विपाक। यह कर्म-विपाक हमें प्रेरित करता है कुछ करने के लिए। आदमी हिंसा में, झूठ में प्रवृत्त होता है। उस प्रवृत्ति का जम्मेवार है कर्म का विपाक। हम यों भी कह सकते हैं, कि जैसा कर्म का विपाक वैसा ही शरीर का रसायन। जैसा रसायन वैसा ही आचरण। धर्म और विज्ञान—दोनों के कथन में संवादिता खोजी जा सकती है।

हम आस्था और अभ्यास के द्वारा कर्म-विपाक में परिवर्तन ला सकते हैं। जो हिंसा या असत् आचरण का विचार आने वाला है, उसे टाला जा सकता है। पहले ही ऐसी दीवार खड़ी की जा सकती है कि आने वाले को रोका जा सकता है।

जब विचार-प्रेक्षा का अभ्यास गहरा होता जाता है तब विचारों की तरंगें जो उठती हैं, उनका पता लगने लग जाता है कि अब मस्तिष्क में किस प्रकार की तरंग उठने वाली है। यह आभास होने लगता है। तब साधक किसी एक प्रयोग के द्वारा उस उठने वाली तरंग का आधार ही खत्म कर डालता है और तब मस्तिष्क के हाइपोथेलेमस या लिंबिक सिस्टम में होने वाली प्रतिक्रिया बंद हो जाती है। निमित्त बदल जाता है।

पंडित ने एक व्यक्ति से कहा, शनी की दशा आने वाली है। वह साढ़े सात वर्ष रहेगी। सावधान रहना। व्यक्ति ने सुना। एक गुफा में जा साढ़े सात वर्ष बिता डाले। वह पंडित से मिलकर बोला—शनी ने साढ़े सात बरस तक कुछ नहीं किया। पंडित बोला, और क्या करता। तुमको एक पशु की भांति गुफा में बिठा दिया।

हम इस बात को इस रूप में ग्रहण करें कि साढ़े सात बरस में जो कुछ अनिष्ट होने वाला था, वह टल गया। व्यक्ति ने इतने दीर्घ समय तक साधक का जीवन जीया, अपनी आत्मा को अपना मित्र बनाकर जीया, शनी कुछ भी नहीं कर सका।

जब-जब लगे कि ग्रह की कठोर दशा है तब-तब यदि व्यक्ति उस ग्रहकाल तक स्वयं को जप, ध्यान आदि धार्मिक क्रियाओं में लगाए रखता है, एकान्तवास करता है, निवृत्तिमय जीवन बिताता है तो अनेक संकटों से बच जाता है। कठिनाइयों से बचने का यह अच्छा मार्ग है। अन्यथा कभी-कभी भयंकर स्थितियों का सामना करना पड़ता है।

यह अपनी आत्मा को अपना मित्र बनाने का महत्त्वपूर्ण फार्मूला

है कि जब लगे कि अब समय ठीक नहीं चल रहा है, विचार बुरे आ रहे हैं, समस्याएं उलझती जा रही हैं, उस समय स्वयं को जितना अलग रख सकें, निवृत्ति में स्थापित कर सकें, उतना ही अच्छा है। उस समय केवल अपने मित्र आत्मा के साथ रहना ही श्रेयस्कर है। यह अलगाव बहुत काम का होता है, बहुत समाधान देने वाला होता है। यह एक प्रयोग है। इसे हम प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन कह सकते हैं। व्यक्ति में यह विवेक जागृत होना चाहिए कब वह प्रवृत्ति करे और कब निवृत्ति। कितनी प्रवृत्ति और कितनी निवृत्ति। कालबोध की बात महत्त्वपूर्ण अवश्य है पर है बहुत आगे की। कब कौन-सी प्रवृत्ति करे और कब निवृत्ति करे, यह विवेक अपेक्षित है। उचित समय में की गई प्रवृत्ति बहुत लाभप्रद होती है और वही प्रवृत्ति यदि बिना अवसर के की जाती है तो स्थिति उलझ जाती है।

भारतीय अध्यात्म के चिंतकों का कालबोध बहुत विशद था। इसी से स्वरोदय का जन्म हुआ! स्वरोदय कालबोध का ही वाचक है। ज्योतिष का ज्ञान इससे संबंधित है। जैविक घड़ी का ज्ञान भिन्न प्रकार का था कि कौन-सी घड़ी में कौन-सा कार्य सुफलदायी होता है। स्वाध्याय और ध्यान कब करना चाहिए? शासक और आचार्य से कब मिलना चाहिए? कब बातचीत करनी चाहिए? मुंह किस दिशा में होना चाहिए? उनके किस पार्श्व में बैठना चाहिए? दाएं या बाएं बैठना चाहिए—इन सारी बातों का बहुत सूक्ष्म ज्ञान था। ये सारी बातें इसलिए देखी जाती थीं ताकि कर्म-विपाक को बदला जा सके। दूसरे शब्दों में ये सारे प्रवृत्ति और निवृति के संतुलन-सूत्र हैं। यह पांचवां सूत्र है।

अपनी आत्मा को अपना मित्र बनाने के पांच सम्यग्दर्शन या दृष्टि-सूत्र प्रस्तुत किए। इनका ज्ञान और अभ्यास निरंतर चलता रहे तो आत्मा को मित्र बनाया जा सकता है। यदि इनसे विपरीत चलें तो आत्मा को शत्रु बनाया जा सकता है। अभ्यास से ही आत्मा के साथ मित्रता स्थापित हो सकती है, अन्यथा कोरी रटना या सिद्धान्त को दोहराते रहने से कुछ नहीं बनेगा। 'अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ'—यह सिद्धांत-बोध रहेगा, पर जीवन पर्यन्त आत्मा मित्र नहीं बन पाएगी।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग एक दृष्टि से देखने का प्रयोग है तो दूसरी दृष्टि से यह भीतर की गहराइयों में जाने का प्रयोग भी है। व्यक्ति भीतर में प्रवेश नहीं कर पाता इसलिए बाधाओं का पार नहीं पा सकता। शिविरार्थी शिविर संपन्न कर घर जाते हैं। पांच-दस दिन प्रयोग भी करते रहते हैं, समय भी लगाते हैं, किन्तु जैसे-जैसे यहां का वातावरण मन की आंखों से ओझल होता जाता है और घर-परिवार का वातावरण प्रभाव डालता है तब कभी आलस्य, कभी स्थितियों के कारण वे साधना में शिथिलता ला देते हैं और मास-दो

मास के बाद वह साधना छूट-सी जाती है। इससे कोई बड़ा लाभ नहीं मिलता और आत्मा को मित्र बनाने की कला भी हाथ से छूट जाती है। यह कला स्थायी तभी बन सकती है जब प्रमाद और आलस्य न आए, आस्था में कोई छेद न हो और संकल्प की दृढ़ता बनी रहे, अभ्यास परिपक्व होता जाए। संकल्प की दृढ़ता आदर्श का अभ्यास करने में मदद करती है। रोटी खाऊं या नहीं, पर दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग का अभ्यास जरूर चालू रखूंगा। एक वक्त की रोटी छोड़ दूंगा पर ये क्रियाएं नहीं छोड़ूंगा। यदि यह निश्चय होता है तो माना जा सकता है कि आत्मा को मित्र बनाने की ओर प्रस्थित है, मार्ग मिल चुका है। फिर आदतें बदलनी प्रारंभ होंगी, आस्था के अंकुर फूटने लगेंगे और अभ्यास का विटपी शतशाखी होता जाएगा।

आदमी इस बात पर ध्यान दे कि यह जीवन छोटा है, बहुत लम्बा नहीं है। हजारों-लाखों वर्षों का नहीं, मात्र सौ वर्ष का। इसको सफल बनाकर हम इसका आनन्द लूटें, यह अपेक्षित है। आनन्दमय जीवन जीना हमारे हाथ में है। हम चाहें तो जीवन में आनन्द भर सकते हैं और चाहें तो उसे विषाद से भर सकते हैं।

जीवन के प्रति एकाग्रता और समर्पण जब पनपता है तब कुछ भी शेष नहीं रहता। एकाग्रता सफलता का महान् सूत्र है, आनन्द का स्रोत है।

एक जर्मन इंजीनियर भारत सरकार की नौकरी पर आया। उसका कमरा वातानुकूलित नहीं था। वह काम करता। आठ घंटा श्रमपूर्ण काम करता। पसीना चूता रहता। पंखा था कमरे में पर वह इसलिए उसका उपयोग नहीं करता कि हवा से पन्ने इधर-उधर उड़ने से ध्यान विचलित हो जाता है। उसका मासिक वेतन था एक लाख रुपया। हमारे ही एक उपासक अधिकारी ने यह बात बताते हुए कहा—महाराज ! उस अकेले व्यक्ति ने जो काम किया वह काम भारत के आठ-दस अधिकारी भी नहीं कर पाते।

यह सफलता है एकाग्रता की, तन्मयता की, कार्य के प्रति समर्पित भावना की। ये सारे ध्यान के ही परिणाम हैं। उसके परिवार के ही सदस्य हैं। आदमी में चंचलता है, इसलिए वह न एकाग्र हो पाता है और न कार्य के प्रति समर्पित। हम ध्यान को मोक्ष के साथ जोड़ें या न जोड़ें, अध्यात्म के साथ जोड़ें या न जोड़ें, व्यवहार के धरातल पर इतना तो अवश्य ही समझ लें कि ध्यान से एकाग्रता बढ़ती है और कार्य में सफल होने का रहस्य हाथ लग जाता है।

मैं बहुत कम लिखता हूं, पर जब लिखता हूं तब दुनिया का भान नहीं रहता। पास में कौन बैठे हैं, कौन बातें कर रहे हैं, क्या-क्या हो रहा है आसपास में, मैं नहीं देखता। मुझे ज्ञात ही नहीं होता। लिखने के अतिरिक्त कुछ भी सामने नहीं रहता। यह स्थिति मुझे संतोष देती है। लोग पूछते हैं,

आप इतनी सारी प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हैं, फिर लिखते कब हैं ? मैं कहता हूं—कहां लिखता हूं। हो जाता है लिखना। कोई करा देता है और कराने वाले दो तत्त्व हैं—एकाग्रता और तन्मयता। तन्मय होने से कार्य अपने आप होता है। तन्मयता, एकाग्रता और समर्पण के विना कार्य भार बन जाता है और तब एक घंटा का काम दस घंटे में भी नहीं हो पाता। शक्ति और समय का अपव्यय।

ध्यान पारलौकिक प्रयोग नहीं है, वार्तमानिक प्रयोग है। परलोक दूर है। वर्तमान को हम जी रहे हैं। इसके प्रति आकर्षण अधिक हो, यह अपेक्षित है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि सफलता का अर्थ है, अपने आपका मित्र होना और सफलता का सूत्र है लक्ष्य के प्रति समर्पित होना। अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित होने का सूत्र है अभ्यास और अभ्यास को दृढ़बद्ध करने का सूत्र है ध्यान।

ध्यान से हम जानेंगे, फिर बोध होगा, अभ्यास होगा। उसके बाद एकाग्रता सधेगी और तब चंचलता मिटेगी। ध्यान से चंचलता मिटती है। चंचलता दुखः है। आदमी घटना से दुःख नहीं भोगता, चंचलता से दुःख भोगता है। घटना घटी। व्यक्ति नींद में है। उसे कोई दुःख नहीं होगा। आदमी मूर्च्छा में आ गया। कहां भोगता है वह दुःख ? दुःख भोगा जाता है चंचल अवस्था में। जितनी चंचलता उतना ही दुःख। कम चंचलता, कम दुःख। अधिक चंचलता, अधिक दुःख। दुःखद घटना घटित हुई। आदमी भक्ति में लग गया, उपासना में लग गया। एकग्रता हुई। दुःख की अनुभूति क्षीण हो गई। एकाग्रता दुःख-मुक्ति का उपाय है।

हम इन सभी तथ्यों का अभ्यास करें। स्वयं को, अपनी वृत्तियों और कर्म-संस्कारों और कर्म-विपाकों को देखने का अभ्यास करें तो सही अर्थ में हम अपनी आतमा को मित्र बना सकेंगे।

चरैवेति चरैवेति

२३

चैतन्य-विकास के सोपान

मनुष्य चेतन है । पदार्थ अचेतन है । चेतन की समस्या का समाधान अचेतन नहीं कर सकता । वह समस्या के समाधान में निमित्त बन सकता है, उपादान नहीं बन सकता । मनुष्य सामाजिक, पारिवारिक और राजनैतिक जीवन जीता है । अन्यान्य संबंधों का जीवन भी वह जीता है । उनकी समस्याएं भी अनेक प्रकार की हो जाती हैं—राजनीतिक समयस्या, सामाजिक समस्या, पारिवारिक समस्या, आर्थिक और धार्मिक समस्या आदि-आदि । वह अनेक प्रकार की समस्याओं से घिर जाता है । इन सब समस्याओं का समाधान किसी एक से किया जाए, यह संभव नहीं है । राजनीतिक समस्या का समाधान राजनीति के स्तर पर, आर्थिक समस्या का समाधान आर्थिक स्तर पर और धार्मिक समस्या का समाधान धार्मिक स्तर पर खोजना होता है । यदि चैतसिक समस्या है तो उसका समाधान अपने भीतर खोजना होगा । समस्याएं अनेक हैं तो उनके समाधान-सूत्र भी अनेक हैं । ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो सभी समस्याओं का एक साथ समाधान कर सके या एक ही उपाय से सबको समाहित कर सके ।

इस बिन्दु पर व्यक्ति को विभज्यवाद का सहारा लेना होगा । विभज्यवाद का अर्थ है—हर समस्या को विश्लेषित करके देखो, समस्याओं को मिलाओ मत । समस्या के समाधान में मिश्रण वाली बात बाधक बनती है । समस्या को अलग-अलग कोण से देखना होता है, सोचना होता है । अध्यात्म का काम है—आंतरिक समस्याओं का निराकरण करना । उससे केवल इतना ही हो सकता है । संसार की सारी समस्याओं के समाधान का ठेका कोई ले नहीं सकता और यदि कोई ऐसा करता है, कहता है तो वह जनता को भ्रम में डालता है, जनता को धोखा देता है । यह बहुत स्पष्ट है कि जब आन्तरिक समस्या का समाधान होता है तो बाहर की सारी समस्याओं को सुलझाने में सुविधा हो जाती है ।

हम सोचें, समस्या को उलझाता कौन है ? जटिलता कौन पैदा करता है ? राजनैतिक समस्या को पेचीदा कौन बनाता है ?

समस्याओं का जनक है आदमी का मस्तिष्क । यही तो उलझाता है । यही तो जटिलता पैदा करता है । आर्थिक समस्याएं क्यों उलझती हैं ? उनके उलझन का एक मात्र कारण है मानव का मस्तिष्क । एक व्यक्ति अर्थ का

इतना संग्रह कर लेता है कि दूसरे समस्या में फंस जाते हैं। एक जगह इतना बड़ा पहाड़ या ढेर बना लेता है कि दूसरी जगह गढ़े ही गढ़े हो जाते हैं। यह सारी करतूत है मस्तिष्क की। यदि मनुष्य का मस्तिष्क स्वस्थ होता है तो समस्याओं को सुलझाने में सुविधा हो जाती है।

समस्या का मूल है—मानव का मस्तिष्क। यदि इसको दुरस्त किया जाता है तो आदमी समस्याओं की जटिलताओं से बच जाता है। इस कोण से यदि हम सोचें तो चैतन्य-विकास की बात प्रमुख बन जाती है। यदि चैतन्य-विकास हो जाता है तो सारी समस्याओं का समाधान का द्वार खुल जाता है। यदि यह एक नहीं होता है तो समस्याओं को उलझने का अवसर मिल जाता है। इस निष्कर्ष को केन्द्र में मानकर परिधि का चिन्तन करें तो लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। हम इसे संक्षेप में नहीं, कुछ विस्तार से समझें।

मुल्ला नसरुद्दीन बहुत प्रसिद्ध था अपने वाक्-चातुर्य के लिए। वह इतना चतुर था कि दूसरे लोग उसकी बात में उलझ जाते। एक बार वह कानून की गिरफ्त में आ गया। न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित किया गया। बहस चली। मुल्ले की बहस सुनकर न्यायाधीश चकरा गया। उसने कहा—मुल्ले! तुम इतने वाक्-चतुर हो कि प्रत्येक बात को उलझा देते हो। हमारे लिए भी समस्या खड़ी कर देते हो। थोड़ा कम बोलो। साफ-साफ कहो। एक काम करो, मैं जो पूछूं उसका उत्तर 'हां' या 'नां' में दो। समस्या को पेचीदा मत बनाओ। मुल्ला बोला—माई लार्ड! आप ठीक कहते हैं। पर आपने ही तो शपथ दिलाई है कि सच बोलना है, झूठ नहीं। आप इस शपथ को उठा लें, फिर मैं 'हां' या 'नां' में ही उत्तर दूंगा। जब तक यह शपथ है तब तक मुझे बात को विस्तार से रखना होगा, अन्यथा बात बनेगी नहीं। जज ने कहा—ऐसी क्या बात है जिसे 'हां' या 'नां' में नहीं कहा जा सकता। मुल्ला बोला—नहीं कहा जा सकता। न्यायाधीश भी अपने हठ पर था और मुल्ला भी हठ पर था। न्यायाधीश कहता है—कहा जा सकता है। मुल्ला कहता है—नहीं कहा जा सकता। दोनों अड़ गए। मुल्ला बोला—'माई लार्ड! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूं, आप उसका उत्तर 'हां' या 'नां' में दें और फिर मैं आपके प्रश्न का उत्तर भी 'हां' या 'नां' में दूंगा।' जज ने मुल्ला की शर्त को स्वीकार कर लिया।

मुल्ला बोला—आपने आज से अपनी पत्नी को पीटना बंद कर दिया या नहीं? केवल 'हां' या 'नां' में उत्तर दें। जज दुविधा में फंस गया। 'हां' कहने का अर्थ है—आज तक पीटता था और 'नां' कहने का अर्थ है पीटना अब भी चालू है। न्यायाधीश निरुत्तर हो गया। उसके पास 'हां' या 'नां' कहने को कुछ बचा ही नहीं था।

केवल 'हां' या 'नां' में पूरी बात कही भी जा सकती है और नहीं भी

कही जा सकती। विश्लेषण और विभाजन करना होता है। अध्यात्म या धर्म के द्वारा सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है या नहीं, इसका उत्तर 'हां' या 'नां' में नहीं दिया जा सकता। विभज्यवाद के सहारे ही इसका प्रतिपादन किया जा सकता है।

मनुष्य के मस्तिष्क को जागृत किया जाए, चैतन्य का विकास किया जाए तो अनेक समस्याओं को सुलझाने की पृष्ठभूमी तैयार हो जाती है। इससे समस्या को सुलझाने में सहयोग मिलता है। यदि मस्तिष्क को प्रशिक्षित या जागृत नहीं किया जाता है तो हर समस्या उलझ जाती है। छोटी समस्या भी वड़ी वन जाती है। जिसका मस्तिष्क प्रशिक्षित है, सुलझा हुआ है, वह वड़ी से वड़ी समस्या को शीघ्र सुलझा देता है, अन्यथा राई भी पहाड़ वन जाती है। पारिवारिक जीवन में ऐसा वहुधा होता है। छोटी-सी वात भयंकर रूप धारण कर लेती है। घटना कोई वड़ी नहीं होती। घटना कोई छोटी नहीं होती। उसको छोटा या वड़ा वनाने वाला है मानव का मस्तिष्क। हम इस सचाई को पकड़ें कि समस्या को समाहित करने के लिए या उसे सुलझाने के लिए मानवीय मस्तिष्क को सुलझाना होगा। उसके सुलझने पर सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं और उसके उलझने पर सारी समस्याएं उलझ जाती हैं। इस विन्दु पर अध्यात्म और चैतन्य का मूल्य समझ में आ जाता है।

मानवीय समस्याओं का वर्गीकरण हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. मानवीय सम्वन्धों की समस्या
२. नैतिकता की समस्या
३. सामाजिक विषमता की समस्या
४. अणु-अस्त्रों की समस्या
५. अशांति और तनाव की समस्या।

सवसे पहली समस्या है—मानवीय संबंधों की समस्या। सामाजिक जीवन संबंधों का जीवन है। वच्चा जन्मता है। माता-पिता का संबंध होता है। यह माता है, यह पिता है, यह भाई है, यह वहिन है, यह चाचा है, यह नाना है। सम्वन्धों का विस्तार आगे से आगे होता चला जाता है। कोई पत्नी वनती है। कोई पति होता है। कोई मालिक होता है। कोई नौकर होता है। पूरे समाज में सम्वन्धों का ताना-वाना वुना होता है। एक व्यक्ति के साथ अनेक संवन्ध जुड़े होते हैं। सम्वन्ध, सम्वन्ध और सम्वन्ध। व्यक्ति अकेला नहीं रहता। आगे से आगे वह सम्वन्धों से जुड़ता चला जाता है। वह शरीर से अकेला रहता है, पर सम्वन्धों के कारण फैलता जाता है, अनेक हो जाता है। उसका वहुत विस्तार हो जाता है। मानवीय सम्वन्ध

स्वयं में एक समस्या है और यह समस्या अनेक समस्याओं की जनक भी है।

दूसरी समस्या है—नैतिकता की समस्या। आदमी का पारस्परिक व्यवहार ऋजुतापूर्ण होता है या मायापूर्ण। वह व्यक्ति अच्छा व्यवहार करता है या बुरा। यह व्यवहार की समस्या नैतिकता की समस्या है।

तीसरी समस्या है—सामाजिक विषमता की। समाज में सब लोग समान स्तर पर नहीं जी रहे हैं। कोई ऊंचा है, कोई नीचा है। कोई धनाढ्य है, कोई गरीब। बहुत विषमता है। अनेक विषमताएं हैं।

चौथी समस्या है—अणु-अस्त्रों की। शस्त्रास्त्र स्वयं समस्या बन रहे हैं। आदमी ने शस्त्र का चुनाव किया था समाधान के लिए, पर वह समाधान स्वयं उसके लिए बड़ी समस्या बन गया। जिसने लाठी या पत्थर को शस्त्र बनाया, उसने अपने बचाव का उपाय किया था। पर उसने यह नहीं सोचा कि जैसे तुम पत्थर या लाठी चलाकर अपना बचाव कर सकते हो या दूसरे को चोट पहुंचा सकते हो तो क्या दूसरा अपने बचाव के लिए लाठी नहीं चला सकता? पत्थर नहीं फेंक सकता? एक लाठी चला सकता है तो दूसरा तलवार चला सकता है। शस्त्र का उत्तरोत्तर विकास होता है। अणु-अस्त्र को अन्तिम नहीं माना जा सकता। उसके आगे भी अस्त्र बने हैं। उनके आगे भी अस्त्र बनेंगे। यह आगे से आगे चलता चलेगा। शस्त्र कोई अन्तिम नहीं होगा। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा शस्त्र विकसित होता चला जाता है। आज अणु-शस्त्र एक भयंकर समस्या बन गया है। इसकी विभीषिका इतनी बढ़ गई है कि प्रत्येक व्यक्ति इस भाषा में सोचता है कि अणु-अस्त्रों का प्रयोग न हो तो अच्छा है। जिस दिन इनका प्रयोग होगा, संसार में प्रलय हो जाएगा। प्राणी जगत् समाप्त हो जाएगा।

पांचवीं समस्या है—अशांति और तनाव की। विश्वशांति एक समस्या बनी हुई है। तनाव भी आज की युग की बड़ी समस्या है। आदमी केवल शारीरिक तनाव से ही ग्रस्त नहीं है, वह मानसिक और भावनात्मक तनाव से भी पीड़ित है। यह बहुत भीषण समस्या है। हर व्यक्ति में तनाव का उपादान विद्यमान है। क्रोध, अहंकार, भय, लोभ, घृणा—ये तनाव के उपादान हैं। आदमी में ये सारे पूरी मात्रा में विद्यमान हैं। थोड़ा-सा उद्दीपन चाहिए, ये उभर जाते हैं।

युग की ये पांच मानवीय समस्याएं हैं। इनका समाधान खोजना है। मानवीय संबन्धों की समस्या का समाधान भौतिक स्तर पर नहीं हो सकता। उसका समाधान चैतन्य विकास के द्वारा ही संभव है। यदि चेतना जागृत हो जाए तो मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन आ सकता है।

नैतिकता की समस्या का भी भौतिक स्तर पर समाधान नहीं हो

सकता। भौतिक स्तर पर इसके समाधान का प्रयत्न किया गया, पर वह सफल नहीं हुआ। आर्थिक नियंत्रण किया गया। सामाजिक विषमता को समीकरण की दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया गया। इन सब प्रयत्नों से नैतिकता की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न हुआ, किन्तु इन भौतिकतावादी प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली। ये प्रयत्न अधूरे लग रहे हैं। जब तक चैतन्य का विकास नहीं होता तब इन समस्याओं को सुलझाने का राजमार्ग सामने नहीं आता। आदमी आदमी है। वह इतना अविश्वनीय बना हुआ है कि वह संबंधों को भी बिगाड़ देता है, नैतिकता को भी ताक पर रख देता है और समता की बात पकड़ ही नहीं पाता।

एक किसान बहुत अमीर था, पर था बड़ा आलसी। अमीरी के साथ आलस्य का गठबंधन है। एक दिन उसका मित्र आया, वातावरण देख कर बोला—'मित्र ! तुम धोखे में जी रहे हो। कितने आलसी बने हुए हो ! ध्यान ही नहीं देते। यह लापरवाही तुम्हें दर-दर की ठोकरें खाने को बाध्य करेगी। खाने को रोटी नहीं मिलेगी।' किसान बोला—'इतनी कड़वी और कठोर बात कैसे कहते हो ? देखो, मेरे नौकर-चाकर कितने हैं ? सारा परिवार मेरी आज्ञा में है। तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?' वह बोला—तुम देख लेना मेरी बात सोलह आना सही होगी।

पांच-दस दिन बाद मित्र पुनः आया और किसान से बोला—कुछ बीमार से नजर आ रहे हो ! किसान बोला—हां, स्वास्थ्य नरम चल रहा है। कोई इलाज बताओ। वह बोला—मित्र ! मुझे कोई ऐसा आशीर्वाद मिला है कि मैं स्वास्थ्य और अमीरी—इन दोनों का रहस्य जानता हूं। स्वस्थ रहने और अमीरी बनाए रखने का मंत्र मैं जानता हूं। किसान ने इसका रहस्य बताने का आग्रह किया।

मित्र बोला—देखो, उसका मंत्र यह है कि प्रतिदिन जो राजहंस आता है, उसके दर्शन करो। जो प्रतिदिन उसका दर्शन करेगा वह कभी बीमार नहीं होगा। किसान उत्सुकता से भर गया। वह बोला—मित्र ! मुझे भी उसके दर्शन कराओ। वह कहां रहता है ? कहां मिलेगा ?

आदमी में जब स्वास्थ्य और अमीरी—इन दो की भावना जागती है तब लंदन और मास्को भी दूर नहीं लगते। इनसे भी कहीं सुदूर प्रदेशों में वह जाने के लिए तैयार रहता है।

मित्र बोला—'भैया ! राजहंस के दर्शन प्रातः चार बजे होते हैं। वह कहां मिले यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वह एक स्थान से प्रतिबद्ध नहीं है। तुम चार बजे उठो। अपने खेतों, खलिहानों, गोसाला आदि में घूमते हुए दूर जंगल में चले जाओ। कहीं न कहीं राजहंस अवश्य मिलेगा। जिस दिन तुम उसके दर्शन कर लोगे, उस दिन तुम समझ लेना कि अमीरी

और स्वास्थ्य का रहस्य तुम्हें ज्ञात हो गया है। फिर तुम्हारी अमीरी और स्वास्थ्य तुमसे कोई नहीं छीन सकेगा।'

किसान का मन प्रसन्नता से भर गया। वह बोला—कल से ही मैं राजहंस के दर्शन के प्रयत्न में लग जाऊंगा।

किसान चार बजे उठा। सीधा अपनी गोशाला में गया। देखा। नौकर गायों-भैंसों को दुह रहे हैं और दूध पार कर रहे हैं। उसने अपनी आंखों से देखा। सोचा, यदि यही क्रम रहा तो मैं मारा जाऊंगा। मित्र ने जो कहा, वह सच है। दूसरे दिन खलिहान में गया। एक ओर छिप कर बैठ गया। देखता है, उसके नौकर अनाज के बोरियां भर-भर कर पार कर रहे हैं। उसकी आंखें खुली की खुली रह गईं। जिसकी वह कल्पना भी नहीं करता था, वह अपनी आंखों से देख कर स्तब्ध रह गया। सोचा, क्या सगे-संबंधी इस प्रकार धोखा दे सकते हैं?

तीसरे दिन प्रातः खेत की ओर गया। देखा, सूरज ऊपर आ चुका है पर काम करने वाले सभी जन खर्राटे भर रहे हैं। खेत में गाएं, भैंसें, बकरियां अनाज चर रही हैं। कोई उनको रोकने वाला नहीं है। उसे सारी चीज समझ में आ गई।

सात दिन तक यह क्रम चला। वह सर्वत्र जाता, देखता। दो सप्ताह बीत गए। मित्र पुनः उससे मिलने आया। उसने पूछा—भैया! राजहंस के दर्शन हुए या नहीं? किसान बोला—मित्रवर! राजहंस के दर्शन तो नहीं हुए, पर कौए को अवश्य मैंने देखा है। सर्वत्र कौए ही कौए हैं। राजहंस एक भी नहीं है। सारे बेईमान हैं। मुझे पता ही नहीं था की मेरे यहां इतनी बेईमानी होती है। तुमने मेरी आंखें खोल दीं। मित्र बोला—तुमको भले ही राजहंस न दिखा हो, पर स्वास्थ्य और अमीरी का सूत्र तुम्हारे हाथ लग गया। तुम जिसे कौए का दर्शन मान रहे हो, वह वस्तुतः कौए का दर्शन नहीं, राजहंस का दर्शन ही है। तुम पहचान नहीं सके। तुमने घूमने और रखवाली करने का जो श्रम प्रारंभ किया है, यही श्रम है राजहंस का दर्शन। राजहंस श्वेत होता है। जहां यह श्रम होता है वहां सारा उजाला ही उजाला होता है, श्वेत होता है। अब तुम निश्चित हो गए। अब तुम्हें बीमारी और अमीरी की चिन्ता करना आवश्यक नहीं है।

मानवीय संबंधों में समस्या तब आती है, जब अनैतिकता बरती जाती है। यह मानवता की समस्या है। इन दोनों समस्याओं—संबंधों की समस्या और नैतिकता की समस्या—का समाधान तब तक नहीं खोजा जा सकता जब तक चैतन्य का विकास सम्यग् नहीं हो जाता। सामाजिक विषमता की समस्या को मिटाने का भी यही सूत्र है।

अणु-अस्त्रों की समस्या आज अत्यन्त भीषण रूप से सामने आ रही

है। सभी राष्ट्र इससे आतंकित हैं। राष्ट्र छोटा हो या बड़ा, समृद्ध हो या गरीब, सभी का मन इस विभीषिका से ग्रस्त है। अस्त्र कहां पैदा होते हैं। युद्ध लड़ा जाता है समरांगण में और अस्त्र बनाए जाते हैं कारखानों में। किंतु उससे पहले युद्ध जन्म लेता है मनुष्य के मस्तिष्क में और शस्त्रों का निर्माण भी होता है मनुष्य के मस्तिष्क में।

भगवान् महावीर ने दस प्रकार के शस्त्र बतलाए हैं। उनमें से एक महत्वपूर्ण शस्त्र है—भावशस्त्र। इसका अर्थ है—मनुष्य का मस्तिष्कीय शस्त्र। तलवार, तोप, पिस्तोल, बम, टेन्क आदि बाह्य शस्त्र हैं। ये द्रव्य शस्त्र कहलाते हैं। मस्तिष्क में उत्पन्न होनेवाला शस्त्र भाव शस्त्र कहलाता है। भाव शस्त्र का स्थान पहला है और द्रव्य शस्त्र का दूसरा। भाव शस्त्र प्रधान है, द्रव्य शस्त्र गौण। यदि भाव शस्त्र नहीं है तो द्रव्य शस्त्र का निर्माण नहीं हो सकता। अशांति कहां पैदा होती है? तनाव कहां पैदा होता है? ये सब पहले मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। भाव शस्त्र या भाव का स्थान है मस्तिष्क।

सारी समस्याओं को यदि हम समेटें तो इस बिन्दु पर पहुंच जाते हैं कि बाहरी जगत् में प्रतीत होने वाली समस्याओं का मूल मस्तिष्क में विद्यमान है। सारा उत्पादन और संचालन मस्तिष्क में हो रहा है। मस्तिष्क ही संचालन करता है और मस्तिष्क ही नियमन करता है। इस दृष्टि से समस्याओं का समाधान मानव मस्तिष्क में है। समस्याओं का जन्म और समस्याओं की मृत्यु या समस्याओं का समाधान मानव मस्तिष्क में है।

इस सारी चर्चा का निष्कर्ष यही है कि जब तक मस्तिष्क प्रशिक्षित या परिष्कृत नहीं होता, जब तक चेतना विकसित नहीं होती, तब तक समस्याओं का क्षणिक समाधान भले ही हो जाए, उनका स्थायी समाधान नहीं हो सकता। चैतन्य-विकास का एक क्रम है। उसे पांच भागों में या चौदह भागों में विभक्त किया गया है। जैन आचार्यों ने चैतन्य-विकास के चौदह भागों को गुणस्थान के नाम से अभिहित किया है। यदि हम इन्हें संक्षिप्त करें तो इनके पांच विभाग होते हैं।

पहला विभाग है—सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टिकोण। जब आदमी का दृष्टिकोण बनता सम्यक् है तब समस्या के समाधान की भूमिका बनती है। जब दृष्टिकोण मिथ्या होता है तो शस्त्र का निर्माण और उन्माद अच्छा लगता है। रुमानियां का राजा अत्यन्त क्रूर और निर्दयी था। उसने एक लाख लोगों को मार डाला। वह एक साथ सैकड़ों लोगों को बंद करवाता, मरवाता। उनकी करुण चित्कार सुनकर वह प्रसन्न होता, नाचता, गाता। उसके लिए इससे बड़ा कोई मनोरंजन का साधन नहीं था। ऐसा क्यों होता है? जब दृष्टिकोण मिथ्या होता है तब नर-संहार अच्छा लगता है, अस्त्रों का प्रयोग

अच्छा लगता है। उन्मार्ग अच्छा लगता है, सन्मार्ग अच्छा नहीं लगता। जब सम्यग् दर्शन आता है तब सारी दृष्टि बदल जाती है। चैतन्य की एक भूमिका का विकास हो जाता है। सन्मार्ग अच्छा लगने लगता है, उन्मार्ग अच्छा नहीं लगता।

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति चैतन्य-विकास का पहला सोपान है। इसकी तीन निष्पत्तियां हैं—करुणा, शांति और स्वतंत्रता—बंधनमुक्ति की चेतना। जब व्यक्ति के मन में करुणा जाग जाती है तब उसकी क्रूरता धुल जाती है। तब वह दूसरे का अनिष्ट नहीं कर सकता। उसके सारे मानवीय संबंधों में परिष्कार आ जाता है। करुणा के साथ नैतिक विकास अपने आप होता है। अनैतिकता क्रूरता से जन्मती है। करुणा के जागने पर वह समाप्त हो जाती है। करुणा जागती है तो सामाजिक विषमता की समस्या को भी समाधान मिलता है। करुणा के जागने पर अणु-अस्त्रों पर भंडार खड़ा नहीं किया जा सकता। करुणा के जागने पर शांति अपने आप घटित होती है।

पहला सोपान सम्यग् दर्शन और उसकी तीन मुख्य निष्पत्तियां। इन निष्पत्तियों के होते ही मानवीय संबंधों में परिवर्तन घटित होने लगता है। इस कोण से देखें तो प्रेक्षाध्यान का प्रयोग अपने आप में बहुत मूल्यवान् बन जाता है।

आत्म-तुला की चेतना का विकास

सतही चेतना के स्तर पर बुराई को मिटाया नहीं जा सकता और व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। उसके लिए काफी गहरे में जाना जरूरी होता है। अभ्यास के बिना गहराई में जाया नहीं जा सकता। इसलिए ध्यान का बार-बार अभ्यास करना होता है, अपने भीतर बार-बार देखना होता है, जिससे कि बहुत गहरे में जाया जा सके। हमारी चेतना पर अत्यन्त गहरी और सूक्ष्म परतें हैं, उनको भेदकर उन ग्रन्थियों को खोलकर और आगे बढ़ सकें, चेतन मन से अचेतन मन तक पहुंच सकें। आदत को बदलने के लिए चेतन मन से अचेतन मन की यात्रा आवश्यक है। यह चेतना का दूसरा सोपान है। वहां पहुंचने पर एक नई दुनिया का अनुभव होता है। एक आदमी हिंसा करता है, पर निरन्तर नहीं करता। कोई भी आदमी निरन्तर हिंसा नहीं करता एक आदमी झूठ बोलता है, पर निरन्तर झूठ नहीं बोलता। कोई भी आदमी निरन्तर चोरी नहीं करता। जब भीतर की आदत व अचेतन मन का प्रभाव चेतन मन के स्तर पर आता है और उसे उद्दीपन मिलता है, बाहरी कारण मिलता है तब आदमी हिंसा करता है। क्रोध आदमी को आता है, पर निरन्तर नहीं आता। किसी ने गाली दी, किसी ने कड़वी बात कही, उद्दीपन मिला। क्रोध आया, लेकिन क्रोध का मूल कारण बहुत गहरा है। एक है चेतन मन का स्तर। एक है आदतों का स्तर, जो अचेतन मन का स्तर है, उसके पीछे है हमारी मौलिक मनोवृत्ति। मनोविज्ञान ने अनेक मौलिक मनोवृत्तियां मानी हैं किन्तु जैन दर्शन की दृष्टि से राग और द्वेष—ये दो ही मौलिक मनोवृत्तियां हैं। इनके द्वारा हमारी आदतों का निर्माण होता है। इनके बनने के पीछे जो मूल कारण हैं, वह है राग और द्वेष। ये विभिन्न प्रकार की आदतों का निर्माण करते हैं।

हिंसा और परिग्रह—ये आदतें हैं, मौलिक मनोवृत्तियां नहीं। हिंसा भी एक आदत है। परिग्रह भी एक आदत है। हिंसा पर अभी-अभी बहुत काम हो रहा है। कुछ समय पहले यूनेस्को में विश्व के बीस वैज्ञानिक इकट्ठे हुए। उन्होंने विभिन्न विज्ञान की शाखाओं के आधार पर हिंसा के बारे में एक सामूहिक वक्तव्य दिया। उनका कहना था—'यह माना जाता है कि मनुष्य का एक मस्तिष्क हिंसात्मक होता है, किंतु यह बात सही नहीं है। हमारे शरीर में तांत्रिकीय उपकरण ऐसे हैं जो हिंसा में सहायक बनते हैं। तंत्रिका

प्रणाली में ऐसे उपकरणों की योजना है जो हिंसा में सहायक बनती है। किन्तु मनुष्य का मस्तिष्क हिंसात्मक होता है, इसकी सत्यता संदिग्ध है।

इस उक्ति में कुछ सचाई है। हिंसा हमारी आदत है, मौलिक मनोवृत्ति नहीं। मौलिक मनोवृत्ति है—राग और द्वेष। यौगलिक जीवन समाज का प्राग्-सामाजिक जीवन था। उसमें हिंसा और युद्ध नहीं था, संग्रह भी नहीं था, न संग्रह की मनोवृत्ति थी। इसका कारण है, उन युगलों में क्रोध, मान, माया और लोभ अर्थात् राग और द्वेष बहुत मन्द होते हैं, उपशांत होते हैं, बहुत पतले होते हैं, इसलिए न युद्ध की स्थिति बनती है, न आक्रामक मनोवृत्ति बनती है, न छीन-झपटी होती है, न संग्रह होता है। यदि मौलिक मनोवृत्ति हो तो उनमें भी ये सारी बातें होतीं।

हम इस आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि मूल वृत्ति या प्रकृति है राग और द्वेष। इनके आधार पर नाना प्रकार की आदतों का निर्माण होता है। अठारह प्रकार की आदतों का एक वर्गीकरण है, जिन्हें अठारह पाप कहा जाता है—प्राणातिपात पाप, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य—ये अठारह आदतें हैं। इन सब में मूलभूत है—राग और द्वेष। ये दो जटिल आदतें हैं। शेष सोलह उनकी उपजीवी आदतें या उपवृत्तियां हैं। ये मनुष्य में प्रकट होती हैं और आदमी विभिन्न प्रकार का आचरण और व्यवहार करता है। इन आदतों का संक्षिप्त वर्गीकरण कर इनको आरम्भ और परिग्रह—इन दो में समाविष्ट कर दिया गया। भगवान् महावीर ने कहा—व्यक्ति के जब तक आरम्भ और परिग्रह होता है, वह धर्म को उपलब्ध नहीं होता, उसे धर्म प्राप्त नहीं होता। जब तक आरम्भ और परिग्रह होता है तब तक विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जब तक आरम्भ और परिग्रह होता है आंतरिक अनुभूति नहीं होती। हमारी दो बड़ी बाधायें हैं—आरम्भ और परिग्रह। उनकी पृष्ठभूमि में हैं—राग और द्वेष।

ध्यान का मूल उद्देश्य है—राग और द्वेष को कम करना। ध्यान का संकल्प है—'मैं चित्तशुद्धि के लिए ध्यान का प्रयोग कर रहा हूं।' चित्त-शुद्धि का अर्थ है—कषायों को शांत करना, राग-द्वेप को शांत करना, राग-द्वेप की तीव्रता को कम करना। जब आदमी में राग और द्वेप प्रवल होते हैं तब वह नाना प्रकार के आचरण करता है। अठारह पापों में एक पाप है—अभ्याख्यान। इसका अर्थ है आरोप लगाना, चुगली करना। यह वृत्ति जब उभरती है तब आदमी दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है।

दो मित्र जंगल से गुजर रहे थे। एक के मन में दूसरे को नीचा

दिखाने की बात आई। वह उसको पशुवत् बनाना चाहता था। दूर एक गाय रंभा रही थी। उस मित्र ने कहा—'देखो, गाय रंभा रही है। लगता है, वह तुम्हें कुछ कहना चाहती है।' इसका मतलब है कि तुम भी गाय जैसे पशु हो। वह व्यक्ति गाय के पास दौड़ा-दौड़ा गया। अपने कान गाय के मुंह के पास कर, कुछ क्षणों में लौट आया। आते ही उसने पूछा—मित्र! बताओ, गाय ने तुम्हें क्या कहा? सच-सच बताना। वह बोला—'तुमने ठीक ही कहा। गाय ने मुझे सचमुच बुलाया था। गाय ने मुझसे कहा—अरे, 'भोले आदमी। तुम इस गधे के साथ कैसे फंस गए?' इतना सुनते ही वह अपमानित करने की बात सोचने वाला मित्र स्वयं अपमान का अनुभव करने लगा।

आदमी में दूसरे की अवज्ञा करने, नीचा दिखाने की मनोवृत्ति होती है। यह उसकी आदत बनी हुई है। आरोपण की आदत के कारण वह ऐसा करता है। यह उसकी संस्कारगत आदत है। आदमी लड़ता है, कलह करता है। पर लड़ाई कोई मतलब से नहीं होती। बहुधा लोग यह कहते हैं—देखो, ये बिना मतलब ही लड़ रहे हैं। बात सही है। लड़ने का कोई मतलब ही नहीं होता। मतलब से कोई लड़ता भी नहीं। मतलब से तो आदमी अपना काम करेगा, लड़ेगा नहीं। सारी लड़ाई बिना मतलब के होती है। मतलब होता तो लड़ाई नहीं होती। दुनिया में कभी भी बड़ी बात को लेकर लड़ाई नहीं हुई। लड़ाई मात्र बहानेबाजी से होती है। महायुद्ध भी बहाने के आधार पर होता है। किसी पर आक्रमण करना होता है तो पहले बहाना खोजा जाता है। आक्रमण की पहल करने वाला राष्ट्र कहेगा—अमुक राष्ट्र हम पर आक्रमण करना चाहता है। इसलिए हमको मजबूर होकर आक्रमण करना पड़ रहा है। आक्रान्ता कभी नहीं कहेगा कि मैंने आक्रमण किया है, क्योंकि उसने पहले से ही बहाना खोज निकाला है।

लड़ना एक आदत है, वृत्ति है। इसका परिमार्जन तब तक नहीं होता जब तक अचेतन मन का परिष्कार नहीं किया जाता। अचेतन मन का परिष्कार तब तक नहीं होता जब तक प्रिय और अप्रिय संवेदन से छुटकारा न मिल जाए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के स्तर पर जीवन चलाने वालों में ये सब आदतें बनी की बनी रहेंगी। इनके आधार पर आदमी नाचता रहेगा। इनसे छुटकारा पाने के लिए प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्ति और प्रिय-अप्रिय संवेदनों की मुक्ति के लिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण।

आचार शास्त्र का पहला सिद्धान्त है—इन्द्रिय-विजय। यहां पहुंचना है। पर विघ्न और बाधाएं अनगिन हैं। आदमी संकल्प करता है, पर

समय आने पर वह संकल्प से डिग जाता है। वह संकल्प से प्रभावित होता है, पर प्रभाव ज्यादा टिकता नहीं।

किसी घर पर एक महात्मा आए। प्रवचन हुआ। अनेक स्त्री-पुरुष प्रवचन में थे। घर की बिल्ली भी बैठी थी। महात्मा ने चोरी पर प्रकाश डाला। श्रोता प्रवचन में ओतप्रोत हो गए। बिल्ली का मन भी प्रभावित हुआ। उसने सोचा, चोरी करना पाप है। मैं चोरी-छुपे दूध पीती हूं। यह महापाप है। मैं संकल्प करती हूं कि चोरी नहीं करूंगी। संकल्प हो गया। दिन में कहीं कुछ खाने को नहीं मिला। भूख सताने लगी। सायंकाल ताजा दूध एक बर्तन में पड़ा था। पर संकल्प था कि चोरी से नहीं पीना है। दूसरा देख रहा हो तब पीना है। एक ओर भूख। दूसरी ओर संकल्प। दोनों में द्वन्द्व शुरू हुआ। भूख बढ़ी तब उसने एक रास्ता ढूंढ निकाला। उसने ऊपर मुंह कर कहा—'भगवन्! और कोई नहीं देखता, पर तुम तो देख ही रहे हो। तुम्हारी साक्षी से मैं दूध पी रही हूं। मेरा संकल्प सुरक्षित रहे।' यह कहकर वह दूध पी गई।

जब तक आंतरिक परिवर्तन नहीं होता, राग-द्वेष का उपशमन नहीं होता, तब तक संकल्प भी ज्यादा सहायक नहीं बनता, साथ नहीं देता। फिर संकल्प की पूर्ति के लिए अनेक गलियां निकाली जाती हैं, रास्ते ढूंढे जाते हैं। आदमी मूल बात से दूर चला जाता है।

परिष्कार और परिशोधन करना आवश्यक है। कोरा संकल्प काम नहीं देता। राग-द्वेष का परिष्कार होता है ध्यान की साधना से।

हम प्रेक्षा के विभिन्न प्रयोग करते हैं। नाना प्रकार के संवेदन उभरते हैं। एकाग्र होते हैं तब दर्द का अनुभव होता है। उस समय अप्रिय संवेदन शुरू होते हैं। वास्तव में वही क्षण है ध्यान का। एक ओर अप्रिय संवेदन हो रहा है, दूसरी ओर साधक उसे शांतभाव से देख रहा है, कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रहा है। यह अभ्यास राग-द्वेष को कम करने का प्रयोग है। साधक ध्यान में है। मुंह पर मक्खियां आकर बैठती हैं, हलन-चलन करती हैं। सताती हैं। उस समय बड़ी विचित्र अनुभूति होती है। साधक स्थिर बैठा है। मक्खियां अपना काम कर रही हैं और साधक अपना काम कर रहा है। यह प्रिय-अप्रिय संवेदनों से बचने का प्रयोग है। ध्यान करने बैठा है। शरीर से पसीना चू रहा है। साधक गर्मी को सह रहा है। शांत है। सर्वतोभावेन शांत है। अप्रिय संवेदन के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं है। यह है राग-द्वेष को कम करने का प्रयोग।

ध्यान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को तोड़ता है, खोलता है। जब वह गांठ खुलती है, आदतें बदलनी शुरू हो जाती हैं। इस अवस्था में आत्म-तुला की चेतना जागती है। आत्म-तुला का अर्थ है—समूचे प्राणी जगत् को

अपने समान समझना।

एक उपासक या साधु अहिंसा का संकल्प स्वीकार करता है। अहिंसा का अर्थ है—आत्म-तुला। सब जीवों को अपने समान समझना। यह चेतना केवल संकल्प से नहीं जागती। कोरा संकल्प ले लिया तो बिल्ली वाली बात होती है। फिर भगवान् को साक्षी बनाना होता है। कोरे संकल्प से काम नहीं होता। जब तक संवेदनों को सहने की चेतना नहीं जाग जाती तब तक सब जीवों को आत्मतुल्य मानने वाली बात जीवन में चरितार्थ नहीं हो सकती। प्रिय को भी सहन करें, अप्रिय को भी सहन करें—दोनों को सहन करने पर ही इस आत्म-तुला की चेतना का विकास हो सकता है।

ध्यान का अर्थ है उस चेतना का विकास जिसके द्वारा प्रिय और अप्रिय, अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों को समानभाव से झेल सकें। इस भूमिका का नाम है ध्यान और भूमिका का विकास करना है प्रयोग। शरीर या श्वास को देखना ही ध्यान नहीं है। श्वास को देखना एक आलम्बन है, जिससे मन एकाग्र कर सकें। मन को एकाग्र कर उस गांठ को खोलना है जो बार-बार प्रियता और अप्रियता पैदा करती है। उस गांठ को खोलने के लिए अनेक प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, अनुकूल-प्रतिकूल सबको सहना पड़ता है।

मुनि को निर्देश है कि वह परीषहों को सहन करे। वह भूख को सहे, प्यास को सहे, सर्दी और गर्मी को सहे। यह देखकर लोग कह देते हैं कि जैन मुनि शरीर को कष्ट देने में धर्म मानते हैं। वे स्थूल दृष्टि वाले हैं। वे स्थूल दृष्टि से घटना को देखते हैं। घटना के पीछे जो उद्देश्य है, उसे नहीं देखते। शरीर को सताना उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है राग-द्वेष को शांत करना, प्रिय-अप्रिय संवेदनों से छुटकारा पाना। यह एक अभ्यास है उस गांठ को खोलने का।

अभ्याख्यान की भावना हिंसा है। जब तक यह भावना है तब तक आत्म-तुला का विकास नहीं हो सकता। अपने समान मान लेने पर या दूसरे शब्दों में आत्म-तुला की चेतना को प्राप्त कर लेने पर दूसरे के साथ व्यवहार कैसा होगा? जो व्यवहार अपने प्रति होता है, वही व्यवहार दूसरों के प्रति होगा। वही व्यवहार सबके प्रति होगा। यह समानता की बात तब प्राप्त होती है जब मनुष्य आत्म-तुला की परिक्रमा करता है। उस स्थिति में एक-दूसरे को समझने का मौका मिलता है। आत्म-तुला की भूमिका के बिना एक-दूसरे को समझने का अवसर ही नहीं मिलता। एक आदमी दूसरे को अपने जैसा समझता भी नहीं, क्योंकि बीच में इतने आवरण और पर्दे हैं कि वह यथार्थ तक नहीं पहुंच पाता। इन परदों और आवरणों के आधार पर आदमी को देखते हैं। आवरण गहरा है। सामने वाला दिखाई नहीं देता। हमारे

वीच में इतनी दीवारें हैं कि हम उनके पार देख ही नहीं सकते। दो आदमी सटकर वैठे हैं। वे पास में वैठे हैं, यह मान सकते हैं, पर दोनों एक हैं, यह नहीं मान सकते। कभी-कभी दो अत्यन्त विरोधी आदमी भी पास-पास में वैठ जाते हैं। पास में वैठने से दो एक नहीं वन जाते। वे एक-दूसरे को समझ नहीं पाते। इसके विपरीत भी होता है। दो आदमी हजारों मील की दूरी पर हैं, किन्तु दोनों एक वने हुए हैं। एकता कव होती है ? एक आदमी दूसरे को समझ सके, दोनों का अन्तराल समाप्त हो सके—यह चेतना तव जागती है, जव राग-द्वेष का उफान शांत हो जाता है।

इस भूमिका का एक महत्वपूर्ण कार्य है—आकर्षण की दिशा का वदलाव। जव तक व्यक्ति इस दूसरे सोपान पर पैर नहीं धरता तव तक आकर्षण दूसरा होता है। यहां पहुंचने पर आकर्षण वदल जाता है, दूसरा हो जाता है। जिस व्यक्ति को अभ्याख्यान करने में रस आता था, निन्दा करने में आनन्द आता था, वह इस भूमिका पर पहुंचने के पश्चात् न अभ्याख्यान करता है और न निंदा करता है। उसका रस समाप्त हो जाता है। उसे प्रतीत होता है कि यह तो बुरा कार्य है, जघन्य कार्य है। वह उसे कर नहीं सकता। पहले उसमें पदार्थ के प्रति आकर्षण था। अव सारा आकर्षण वदल गया। खाने में लालसा थी। वह आज नहीं रही। यह वदलाव क्यों आता है ? यह एक ही जीवन में आता है, दो जीवनों में नहीं। यदि यह वदलाव दो जीवनों में आये तो उसकी व्याख्या करना कठिन हो जाता है। एक ही जीवन में डाकू सन्त वन जाता है, चोर साहूकार वन जाता है। ऐसा क्यों होता है ? कैसे होता है ? कव होता है ? इसकी व्याख्या करना जटिल है। कल तक डाकू को डाका डालने के प्रति बहुत आकर्षण था, आज सारा आकर्षण वदल गया। यह परिवर्तन क्यों हुआ ? इसका उत्तर है कि चेतना में परिवर्तन घटित किया जा सकता है और चेतना के वदलने पर यह परिवर्तन होता है। जव राग-द्वेष की ग्रन्थि का मोचन होता है तव वदलाव की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

राग और द्वेष आकर्षण पैदा करते हैं। आदमी वुराई करना नहीं चाहता, पर भीतर में वैठा राग-द्वेष उसे वुराई करने को प्रेरित करते हैं। जैसे ही वे मिटते हैं, वुराई के कीटाणु समाप्त हो जाते हैं। खुजली होती है। खुजलाना अच्छा लगता है। इसीलिए माताएं कभी-कभी वच्चों के हाथ वांध देती हैं। वच्चे जानते नहीं, खुजलाते हैं और लहुलुहान हो जाते हैं। वड़े आदमी भी खुजलाने में रस लेते हैं और उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि खुजलाने में जो आनन्द है, वह अन्यत्र नहीं है। ज्योंही खुजलाने के कीटाणु समाप्त होते हैं तव लगता है कि खुजलाना मूर्खता थी। जो एक अवस्था या स्तर तक मीठा लगता था, वही एक भूमिका में खराव और मूर्खतापूर्ण काम लगने

लगता है।

शराब पीना अच्छा मानते हैं। पर एक भूमिका में आदमी को अनुभव होता है कि अरे! शराब पीकर मैंने अपना कितना अनिष्ट कर डाला! शारीरिक हानि, मानसिक और बौद्धिक हानि, आर्थिक हानि—ये सभी हानियां मुझे शराब के कारण भोगनी पड़ीं।

ये दो प्रकार के जीवन हैं। एक भूमिका पर कुछेक बातें बहुत प्रिय होती हैं और भूमिका के बदल जाने पर वे ही बातें अप्रिय लगने लग जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? यह सारा आकर्षण का खेल है। पहले एक प्रकार का आकर्षण होता है और फिर वह आकर्षण बदल जाता है।

दो चेतनाएं काम करती हैं। एक है व्रत की चेतना और दूसरी है अव्रत की चेतना। जब व्रत की चेतना जागती है, संयम की चेतना उद्भूत होती है तब बहुत सारे आकर्षण बदल जाते हैं। बहुत लोग सोचते हैं, कठोर भूमि पर सोना कठिन काम है। कोमल मखमली गद्दों को छोड़कर जमीन पर क्यों सोया जाए? उनका आकर्षण बना हुआ है कोमल गद्दों के प्रति। किन्तु जब उन्हें यह सत्य ज्ञात हो जाता है या अनुभूत हो जाता है कि कोमल शय्या पर सोना स्वास्थ्यप्रद नहीं होता, रीढ़ की हड्डी विकृत हो जाती है तब उनका आकर्षण बदल जाता है। तब वे मानने लगते हैं कि कोमल शय्या खतरनाक है स्वास्थ्य के लिए और काष्ठ पट्ट या नीचे भूमि पर कम्बल या चादर बिछाकर सोना स्वास्थ्यप्रद है। उनका आकर्षण बदल जाता है।

यह चेतना का रूपान्तरण या आकर्षण का परिवर्तन एक भूमिका पर होता है। वह भूमिका है—प्रिय-अप्रिय को सहन करने की मनोवृत्ति का विकास। यह साधु जीवन की भूमिका है। यही आत्म-तुला है। जब तक यह भूमिका प्राप्त नहीं होती तब तक आत्म-तुला का सिद्धान्त कोरा वाचिक रहता है, व्यवहार में नहीं उतरता। वह व्यावहारिक तभी बनता है जब प्रिय-अप्रिय संवेदनों को सहन करने की भूमिका पर व्यक्ति चला जाता है।

प्रश्न छोटा-सा था पानी का। पानी थोड़ा मिला। साधु अनेक थे। व्यवस्था कर दी गई कि पानी को नाप-नाप कर पीना है। एक मुनि बिना नापे पानी पीने लगा। दूसरे मुनि ने उसे टोकते हुए कहा—'व्यवस्था है कि पानी नाप कर पीओ। बिना नापे कैसे पी रहे हो?' उसने कहा—पानी की क्या व्यवस्था हो सकती है? यह पीने के लिए ही तो है। उसने पानी पी लिया। व्यवस्था पर ध्यान नहीं दिया। बात मुखिया मुनि तक पहुंची। उन्होंने उस साधु को बुलाकर कहा—'तुमने व्यवस्था का अतिक्रमण क्यों किया? उसने कहा—'पानी की कैसी व्यवस्था? प्यास लगी थी। पानी पी गया। न नापा तो क्या हो गया?' मुखिया मुनि को यह उत्तर मान्य नहीं हुआ। व्यवस्था के अतिक्रमण को ध्यान में रखकर उन्होंने उस मुनि को संघ

से अलग कर दिया।

बात छोटी-सी लगती है, पर है बहुत बड़ी। प्यास को सहन करना अप्रिय संवेदन है, प्रिय नहीं है। प्रिय तो था पानी पीना। किन्तु जब अप्रिय संवेदन को सहन करने की क्षमता मुनि में नहीं है तो उसका मुनित्व टिकेगा कैसे ? आत्म-तुला की बात कैसे चरितार्थ होगी ? आत्म-तुला का सिद्धान्त कहता है—तुम्हें पानी पीना है तो दूसरे को भी पानी पीना है। तुम्हें प्यास सता रही है तो दूसरे को भी प्यास सता रही है। तुम उतना ही पानी पीओ, जितना पीने से तुम दूसरों के पानी पीने में बाधक न बनो। यदि यह चेतना जाग जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। यदि आदमी यह मान ले कि मुझे वैसा आचरण नहीं करना है, जिससे दूसरों के हितों में बाधा आए, दूसरों का हित खंडित हो, दूसरे कठिनाई में पड़े, दूसरों का अधिकार अपहृत हो, तो आत्म-तुला की चेतना व्यावहारिक बन सकती है।

स्थान कम है। बैठने वाले अधिक हैं। व्यक्ति सोचता है, मैं आगे जाकर स्थान रोक लूं और वह पूरा कंबल बिछाकर बैठ जाता है, दूसरे चाहें बैठ सकें या नहीं। इस स्थिति में आत्म-तुला का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं बनता। वह व्यावहारिक तब बनता है जब व्यक्ति यह सोचता है कि रोज मैं पूरा कंबल बिछाकर बैठता था, आज स्थान कम है, इसलिए आधे आसन पर बैठूंगा, आधा आसन दूसरे के लिए छोड़ दूंगा। यह आत्म-तुला की दिशा में पादन्यास है। यह सिद्धान्त व्यक्ति के प्रत्येक आचरण में आत्मगत हो जाता है तो खान-पान, रहन-सहन आदि में कभी टकराहट नहीं होती।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है आत्म-तुला का सिद्धांत। दूसरों को अपने समान समझना बड़ी साधना है। जब हम प्रिय-अप्रिय संवेदनों पर नियंत्रण करने की क्षमता को विकसित कर लेते हैं तब आत्म-तुला का सिद्धान्त कृतार्थ हो जाता है। व्रत या महाव्रत की भूमिका पर पहुंचने के लिए संवेदनों को सहने का अभ्यास जरूरी है और उस अभ्यास के लिए ध्यान जरूरी है।

ध्यान क्यों करना चाहिए, यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। ध्यान केवल मानसिक तनाव मिटाने के लिए नहीं, केवल स्वस्थ रहने के लिए नहीं, किन्तु प्रिय-अप्रिय संवेदनों को नियंत्रित करने के लिए है। ध्यान के अभ्यास से हम उन्हें पकड़ सकें, देख सकें और नियंत्रित कर सकें, यह अपेक्षित है। इस चेतना को जगाने का नाम है व्रत। इस चेतना को जगाने का नाम है महाव्रत। यदि यह चेतना सोयी रह जाती है तो आदमी अंधेरे में भटकता रहता है। उसका अज्ञान नहीं मिटता। जब तक अज्ञान रहता है तब तक वह विरोधाभासी जीवन जीता है। संकल्प भी चलता है और उससे उल्टा

व्यवहार भी चलता है। यह विरोधाभासी स्थिति छुटती नहीं।

मालिक ने नौकर से कहा—देखो तुम रोज मुझे चार बजे उठा दिया करो। बस, तुम्हारा यही काम है। नौकर भोला था। वह बोला—मालिक! मैं रोज ऐसा करता रहूंगा, पर मेरी एक बड़ी कठिनाई है कि मैं घड़ी देखना नहीं जानता। इसलिए आप मुझे चार बजते ही सावचेत कर दें, मैं आपको ठीक चार बजे उठा दूंगा।' यह है विनोधाभासी जीवन का एक उदाहरण।

चैतन्य-विकास का दूसरा सोपान है आत्म-तुला की चेतना का विकास। जब तक अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय—इन द्वन्द्वों को झेलने की क्षमता नहीं जागेगी तब तक आत्मौपम्य या आत्म-तुला का सिद्धान्त केवल वाचिक स्तर पर ही सीमित रह जाएगा, व्यवहार में घटित नहीं होगा।

२५

ज्ञाता-द्रष्टा चेतना का विकास

चैतन्य विकास के दूसरे सोपान में आदतें बदलती हैं, आकर्षण बदलता है। तीसरे सोपान की चेतना जागती है तब जागरूकता बढ़ती है। प्रमाद कम होता है। सतत जागरूकता और सतत अप्रमत्तता बनी रहती है। आदतों के न बदलने में एक बड़ी बाधा है—प्रमाद। प्रमाद बहुत विघ्न पैदा करता है। कहा गया है, कल्याणकारी कार्य बहुत विघ्न वाले होते हैं। ऐसा कोई भी अच्छा काम नहीं होता जो सर्वथा निर्विघ्न हो। केवल कल्याणकारी ही नहीं, प्रत्येक कार्य में विघ्न और बाधा है।

दुनिया में हर आदमी अनुभव करता है कि बाधाएं आती हैं, विघ्न आते हैं और इस अनुभूति के साथ बहुत सारे स्तोत्र रचे गए, मंत्र निर्मित किए गए, जिनके द्वारा बाधाओं का निराकरण किया जा सके, विघ्नों को टाला जा सके। ये बाधाएं क्यों आती हैं? ये विघ्न क्यों होते हैं? कारण भी खोजना चाहिए। विघ्नों के दो स्रोत हैं—एक भीतरी, दूसरा बाहरी। कुछ विघ्न अपने आन्तरिक कारणों से पैदा होते हैं और कुछ विघ्न बाहरी कारणों से आते हैं। मनुष्य प्रभावित होता है। प्रभावित होना एक विघ्न है। परिस्थिति से प्रभावित होता है। आसपास के वातावरण से प्रभावित होता है। दूसरे की वाणी से और दूसरे के चिंतन से प्रभावित होता है। प्रभावित होना एक बहुत बड़ी बाधा है।

अभी अभी रूस के एक वैज्ञानिक हुस्नाली ने अनुसंधान किया। उन्होंने बताया कि भूभौतिक वनस्पतियों से मनुष्य बहुत प्रभावित होता है। उस प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। कभी वायु में तेज दबाव होने के कारण परिवर्तन हो जाता है। कभी सौर-मंडल के कारण परिवर्तन होता है। ये जो कारण हैं परिवर्तन के, इन कारणों से आदमी प्रभावित होता है। इस आधार पर उन्होंने बताया कि महीने के सारे दिन समान नहीं होते। कुछ दिन अच्छे होते हैं और कुछ दिन खराब होते हैं। कुछ दिन शुभ होते हैं और कुछ दिन अशुभ होते हैं। गुरुत्वाकर्षण की विसंगतियों से भी मनुष्य प्रभावित होता है। यह प्राचीन सिद्धांत था ज्योतिष का कि सारे दिन समान नहीं होते। दिनों में परिवर्तन आता रहता है। कुछ दिन बहुत अच्छे होते हैं और कुछ दिन खराब माने जाते हैं। दिन नहीं एक दिन का पूरा काल-चक्र भी समान नहीं होता। परिवर्तन आता रहता है। इसीलिए शायद यह

दुघडियों वाली बात चली। कौन-सा दुघडिया अच्छा है और कौन-सा खराब है। मुहूर्त्त वाली बात चली। एक समय ऐसा होता है कि दुर्घटनाएं बहुत ज्यादा होती हैं। आदमी सौर-मंडल से प्रभावित होता है। उस समय मानसिकता और चिंतन बदल जाता है, प्रवृत्तियां बदल जाती हैं। प्रभावित होने के अनेक कारण हैं। आंतरिक कारण हैं अपने भीतर के रसायन, कर्मों के विपाक। ये भी बदलते रहते हैं।

एक ईश्वरवादी ने परिकल्पना की कि ईश्वर किसी को दण्ड देता है तो उसका गला पकड़ कर दण्ड नहीं देता, उसे जेल में नहीं डालता। प्रश्न हुआ कि वह दण्ड कैसे देता है? उसने कल्पना की कि जब ईश्वर को को दण्ड देना होता है, तब वह उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है और ज्यों ही उसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई वह अपने आप दण्ड पा लेता है। किसी कर्मवादी ने कल्पना की कि कर्म का जब विपाक होता है तो अपने आप वह दण्ड पा लेता है। एक कहावत चल पड़ी कि 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' आदमी का जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। बुद्धि का नाश होता है तो आदमी नष्ट हो जाता है। इन सारे चिंतनों का निष्कर्ष यह है कि आदमी प्रभावित होता है अपने आंतरिक कारणों से भी और बाहरी कारणों से भी। यह प्रभावित दशा विघ्न पैदा करती है।

सामने कोई क्रोध कर रहा है। क्रोध को देखा और देखने वाला व्यक्ति प्रभावित हो जाएगा। उसमें प्रमाद की चेतना जागृत हो जाएगी।

एक आदमी पीड़ा से रो रहा है। दूसरे व्यक्ति के कोई पीड़ा नहीं है। पर वह उसे देखकर रोने लग जाएगा।

एक भाई मेरे पास आकर बोला, मेरी एक समस्या है, मैं संवेदनशील हूं। मेरे सामने कोई रोता है तो मुझे भी रुलाई आ जाती है। लोग कहते हैं कि वह रो रहा है, उसके तो कारण हैं, पर तू क्यों रो रहा है? मैं कहता हूं कि पता नहीं, वह रो रहा था अतः, मैं भी रोने लग गया। कोई हंसता है तो हंसने लग जाएगा। इस प्रभावित परिस्थिति और घटना के साथ-साथ आदमी जैसे बदलता है वैसे चेतना बदल जाती है।

इस अवस्था में ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना तो नीचे दब जाती है और कर्त्ता की चेतना ऊपर आ जाती है। आदमी में 'मैं करने वाला हूं' यह कर्तृत्व का अहंकार जाग जाता है। यह कर्तृत्व की चेतना कभी हर्ष पैदा करती है और कभी शोक पैदा करती है। कभी भय पैदा करती है, कभी प्रियता पैदा करती है और कभी अप्रियता पैदा करती है। आदमी इतने सांग बदलता है कि बहुरूपिये तो कम सांग बदलते हैं, पर आदमी एक दिन में सौ सांग बदल लेता है। कभी तो इतना खुश की पूछो मत और आधा घंटा बाद नाराज कि भृकुटि तनी हुई है कि देखने वाला पास ही नहीं आ सकता।

कभी क्रोध, कभी शांत और कभी वीतराग की मुद्रा, कभी राक्षसी मुद्रा। इतने सांग वदलता है और इतने जल्दी-जल्दी बदलता है कि उसकी अनेक-रूपता की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। यह सारा परिवर्तन इसलिए होता है कि मनुष्य में प्रमाद की चेतना है। प्रमाद पीछे-पीछे चल रहा है। जैसे ही अप्रमाद की चेतना जागती है यानि अप्रभावित होने का अभ्यास करता है तब उसका वहुरुपियापन छूट जाता है। यह अभ्यास कि घटना से प्रभावित नहीं होता, घटना को जानना और देखना व अनुभव करना, पर उससे प्रभावित न होना, यह विल्कुल नया प्रयोग है। घटना तो पीछा करती है, पीछा नहीं छोड़ती।

एक आदमी जा रहा था वगीचे में। इतने में पीछे से एक सिपाही आकर बोला, तुम्हें पता नहीं है कि इस वगीचे में गधा लाना वर्जित है। वह बोला, मुझे क्यों आरोपित कर रहे हो? मैं तो कोई गधा नहीं लाया। सिपाही बोला—तुम्हारे पीछे-पीछे गधा आ रहा है। उसने कहा कि मेरा गधा नहीं है। सिपाही ने कहा, तो फिर वह तुम्हारे पीछे क्यों अ रहा है? उसने कहा, मेरे पीछे तो तुम भी आ रहे हो और गधा भी आ रहा है।

आदमी के पीछे गधा भी चलता है और सिपाही भी चलता है। पर जब अपनाता नहीं है तो न गधे से मतलब और न आदमी से मतलव। हमारे पीछे प्रमाद वहुत काम करता है। किन्तु हम उसे अपनाएं नहीं, अपना न वनाएं तो प्रमाद हमारे लिए कोई कठिनाई नहीं वनता। किन्तु आदमी घटना से प्रभावित होता है और घटना को अपना लेता है। वहां समस्याएं और विघ्न पैदा होते हैं, वाधाएं पैदा होती हैं। अभ्यास दूसरे सोपान में शुरू तो हो जाता है, किन्तु परिपक्व नहीं होता। विघ्न वहुत आते रहते हैं, प्रमाद आता रहता है। एक सूक्ष्म विश्लेषण अध्यात्म का है कि एक मुनि वन गया। मुनि वना, व्रत की चेतना विकसित हो गई, फिर भी एक दिन में अनेक वार वह अव्रत की चेतना में चला जाता है। एक जीवन में हजारों वार अव्रत की चेतना में चला जाता है। व्रत की चेतना में जीने वाला अव्रत की चेतना में चला जाता है। वहुत सीधी भाषा में आप समझें कि एक साधु अनेक वार असाधुत्व में चला जाता है। इसका कारण है कि प्रमाद विघ्न डालता है। प्रमाद जव-जव तीव्र वनता है तो व्रत की चेतना को अव्रत में वदल डालता है। साधना में वहुत विघ्न हैं। जव तक अध्यात्म परिपक्व नहीं होता तव तक विघ्नों का निवारण नहीं हो सकता। विघ्न सताते रहते हैं। इन्हें वदलने के लिए एक तीव्र अभ्यास की जरूरत है। विना तीव्र अभ्यास के चेतना की परिपक्वता के विना ये विघ्न मिटते नहीं हैं।

यह ध्यान का अभ्यास उस अप्रमाद की चेतना या जागरूकता को

विकसित करने का अभ्यास है। हमारा अप्रमाद बढ़े, जागरूकता बढ़े। हम जागरूक बन जाएं। आदमी जितना अपने प्रति जागरूक, उतना घटनाओं से अप्रभावित। आदमी जितना अपने प्रति मूर्च्छित या सुषुप्त उतना ही घटनाओं से प्रभावित। घटनाओं से प्रभावित होने का कारण है अपने प्रति सुषुप्ति। घटनाओं से प्रभावित होने का कारण है अपने प्रति जागरूक रहना। ध्यान का मतलब है अपने प्रति जागरूक होना। जो घटनाओं के प्रति जागरूक होता है वह ध्यान नहीं कर सकता। अभी कोई हल्ला आया, तत्काल ध्यान उधर चला गया। अभी कोई बोला, तत्काल ध्यान उधर चला गया। अभी कोई चीज सामने आई, तत्काल ध्यान उधर चला गया। अभी कोई गंध आई, ध्यान उधर चला गया। मक्खी आकर बैठी, ध्यान उधर चला गया। जितना ध्यान बाहर की घटनाओं की ओर जाएगा, ध्यान भंग होता चला जाएगा। और जितना अपने प्रति जागरूक होगा उसका ध्यान भंग नहीं होगा। बाहर जो हो रहा है, उससे कोई मतलब नहीं है। और यह हमारे व्यावहारिक सफलता का भी बहुत बड़ा सूत्र है। आदमी इतनी घटनाओं के बीच जीता है, हजारों-हजारों घटनाएं घटती रहती हैं। न जाने कितनी घटनाएं एक दिन में घटती रहती हैं। उन सबसे यदि प्रभावित होता रहे तो दिमाग की बहुत सारी शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है। किन्तु अप्रभावित वही रह सकता है जिसने अपने प्रति जागरूक होने का पाठ पढ़ा है। व्यावहारिक क्षेत्र का भी यह बड़ा सूत्र है।

सिकन्दर महान् योद्धा था। विश्व विजेता था। एक बार वह विजय प्राप्त कर आया। वह बहुत प्रसन्न था और सारा नगर उसके विजयोत्सव को मनाने में तल्लीन था। कुछेक मंत्री इस अवसर का लाभ उठाना चाहते थे। वे सिकन्दर के सामने जाकर बोले—'यदि आप क्षमादान का आश्वासन दें तो हम एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। सिकन्दर प्रसन्न मूड में था। उसने कहा—जो कहना हो वह स्पष्ट कहो। मैं क्षमादान देता हूं।' एक मंत्री ने कहा—सम्राट्! अब यूनान का पतन सन्निकट है। सिकन्दर ने पूछा—क्यों?' वह बोला—सम्राट्! आजकल आपकी मां हमारे कार्यों में बहुत हस्तक्षेप करती हैं। कोई भी काम ठीक व्यवस्था से चलने नहीं देती। हम सब हैरान हो गए हैं। हम मानते हैं कि इतनी विजय होने के बाद भी समस्याएं पैदा होंगी और हमारा विशाल साम्राज्य नष्ट हो जाएगा।' सम्राट् ने सुना। मन क्रोध से भर गया, पर क्षमादान दे चुका था, इसलिए मौन रहा। वह मां का भक्त था। मां के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वह मानता था कि विजय का सारा श्रेय मां के आशीर्वाद को है। वह मां के प्रति ऐसी बात सुनने के लिए तैयार नहीं था। पर क्षमादान का पलड़ा भारी था। उधर क्षमादान और उधर क्रोध। द्वन्द्व चलता

रहा। फिर सम्राट् ने कहा—तुम कुछ भी कहो, सोचो, मेरी विजय का मूल कारण है मेरी मां। यदि मां का सही परामर्श नहीं मिलता तो मैं कभी सफल नहीं हो पाता। मैं तुम्हारी बातों से सहमत नहीं हूं।'

यदि सिकन्दर अपने प्रति जागरूक नहीं होता तो इतना प्रभावित हो जाता मंत्री की बात से कि अपनी मां के प्रति अन्याय कर देता। ऐसे अन्याय बहुत होते हैं। किसी की सुनी सुनाई बात पर न जाने कितने बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। और इसलिए होते हैं कि आदमी अपने प्रति जागरूक नहीं होता। व्यावहारिक स्तर पर भी जो अपने प्रति जागरूक नहीं होता, दूसरे से प्रभावित होता है तो बड़ी कठिनाइयां पैदा करता है। आन्तरिक स्तर पर जो अपनी आत्मा के प्रति जागरूक नहीं होता तो निश्चित ही समस्या पैदा करता है। हमें अप्रभावित रहने का अभ्यास करना है। बाहरी स्थिति से हम कैसे अप्रभावित बनें ? कोई तूफान आएगा उसका प्रभाव सब पर पड़ेगा। सौर-मंडल के विकिरण का प्रभाव सब पर पड़ेगा। जो नगर के वातावरण में प्रदूषण है उसका प्रभाव सब पर पड़ेगा। इतना धुंआ, इसका प्रभाव सब पर पड़ेगा। कोलाहल और शोर का प्रभाव सब पर पड़ेगा। कैसे बचा जाए, बड़ा कठिन है। कहां से शुरू करें अप्रभावित होना ? हमें आन्तरिक प्रभाव से बचना है। हमारे भीतर में जो हमें प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं उनसे अप्रभावित होने का अभ्यास करना है। अपने कर्म-विपाक से अप्रभावित रहने का अभ्यास, अपने आन्तरिक रसायनों से अप्रभावित रहने का अभ्यास करना है। जब हम भीतरी प्रभावों से बचने का अभ्यास करेंगे तो शायद बाहरी प्रभाव भी हम पर कम पड़ेंगे। उनका असर कम होगा। कोलाहल का प्रभाव बहुत ज्यादा होता है। ध्वनि का प्रदूषण भी बहुत खतरनाक होता है। वह कान के परदे पर ही प्रभाव नहीं डालता, किन्तु दिमाग पर भी प्रभाव डालता है। जिस व्यक्ति में एकाग्रता का अभ्यास हो गया है, वह उससे भी बच जाता है। चंचलता में जितना कोलाहल बाधा डालता है एकाग्रता में कठिनाई पैदा नहीं करेगा। और विकास तो यहां तक हो सकता है कि घनीभूत एकाग्रता हो जाए तो बाहर का भयंकर कोलाहल उसके लिए नगण्य बन जाएगा। चेतना की यह स्थिति भी पैदा की जा सकती है। हम आन्तरिक परिवर्तन की बात करें कि भीतर में कैसे अप्रभावित रहें। हम उस चेतना का विकास करें कि भीतर में होने वाले परिवर्तन हमें प्रभावित न कर सकें।

उस अप्रभावित अवस्था में एक चेतना विकसित होती है। उस चेतना का नाम है—ज्ञाता-द्रष्टा चेतना। जो जानती है और देखती है पर प्रभावित नहीं होती। जानना और देखना पर घटना से प्रभावित नहीं होना। एक संकड़ी पगडंडी है केवल जानना और देखना, किन्तु उससे प्रभावित न होना

बहुत संकड़ी पगडंडी है। यह बड़ा कठिन कार्य है, पर अभ्यास के द्वारा यह स्थिति बनती है, बन सकती है। इस चेतना का विकास होने पर पहली बात तो यह होती है कि जिस चेतना में ज्ञाता-चेतना और द्रष्टा-चेतना विकसित हो गई वह अकरणीय कार्य नहीं कर सकता। कोई भी अकरणीय कार्य नहीं करेगा। वही काम करेगा जो करणीय है। अकर्त्तव्य उसके द्वारा कभी संभव नहीं हो सकता। बिलकुल पवित्र चेतना उसकी बन जाएगी।

दूसरी बात है कि कर्त्तव्य करेगा पर उसका अहंकार कभी नहीं करेगा। यह बड़ी मुश्किल बात है। आदमी बहुत सारे काम करते हैं। उनके साथ अहंकार जुड़ जाते हैं।

एक सेठ ने सोचा कि मैं मेरी मां की ऐसी पूजा करूं जो सबको याद रहे। मेरा नाम सारी दुनिया में फैल जाये। यह सोचकर उसने एक सोने की चौकी बनाई। बहुत बड़ी चौकी। एक दिन पूजा का समय रखा। पंडितजी को बुला लिया। सारा कार्यक्रम चला और जब कार्य संपन्न होने को आया तो सेठ उठा और बोला कि आज मैंने अपनी मां की अर्चना की है। अब अर्चना संपन्न हो रही है और मैं एक घोषणा करने जा रहा हूं कि जिस चौकी पर मेरी मां बैठी है, वह चौकी मैं पंडितजी को देता हूं।' यहां तक तो ठीक है कि चौकी पंडितजी को दे दी, पर आगे बोला (आदमी का अहं बोलता है) 'पंडितजी ! इतना बड़ा दानी कोई मिला आपको दुनिया में आज तक ! सारी बात बदल गई। सारे लोग देखते रह गए सेठ की ओर। पंडित भी बड़ा स्वाभिमानी था, त्यागी था। अगर लोभी होता तो सह लेता। वह खड़ा हुआ। अपनी जेब से एक रुपया निकाला और चौकी पर रखकर बोला—'सेठ साहब ! इस चौकी पर एक रुपया अधिक रखकर आपको लौटा रहा हूं। मैं आपसे पूछना चाहता हूं, क्या इससे बड़ा त्यागी आपको कोई मिला ?'

आदमी को करणीय का अहंकार भी बड़ा सताता है। जब ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना जाग जाती है तो दोनों स्थितियां निष्पन्न होती हैं। वह अकरणीय काम तो करता ही नहीं और करणीय का अहंकार भी नहीं करता। यह दो प्रकार की चेतना निष्पत्ति में आती है।

तीन बातें हो गईं—अप्रभावित होना, अकरणीय न करना और करणीय का अहंकार न करना। इसका अर्थ है, ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना। जब तक शरीर है तब तक यह नहीं हो सकता कि आदमी कोरा ज्ञाता-द्रष्टा रहे। एक सशरीर अवस्था और एक अशरीर अवस्था, शरीर मुक्त अवस्था। शरीर मुक्त अवस्था में कोई भी आत्मा केवल ज्ञाता और केवल द्रष्टा रह सकती है। कुछ भी करना नहीं होता। किन्तु जब तक शरीरधारी आत्मा है, शरीर का कवच है, आवरण है तब तक केवल ज्ञाता और केवल द्रष्टा

की स्थिति नहीं बनती। तब तक हमारा रूप रहेगा ज्ञाता, द्रष्टा और कर्ता का। तीन बात रहेंगी। शरीर के छूटने के साथ-साथ कर्ता छूट जाएगा और ज्ञाता और द्रष्टा रह जाएगा। पहले तीन अवस्थाएं रहीं। तो फिर हम कैसे कह सकते हैं कि ध्यान के समय केवल जानो और केवल देखो। ज्ञाता और द्रष्टा रहो। यह एक सापेक्ष बात है। कर्तृत्व उसके पीछे छिपा हुआ है। कर्ता को उससे अलग नहीं किया जा सकता। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि हम कर्ता नहीं हैं, उनकी बात वास्तव में सही नहीं है। जब तक शरीर है और जब तक मन और वाणी है तब तक हमारा कर्तृत्व मिट नहीं सकता। हमारी क्रिया के तीन साधन हैं—शरीर, वाणी और मन। ये तीन हैं तो हम कर्ता बने रहेंगे। किन्तु कर्तृत्व का परिमार्जन, परिष्कार और शोधन हो जाता है तो फिर ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना ऊपर आ जाती है और कर्ता की चेतना नीचे रह जाती है। जब तक इनका परिमार्जन नहीं होता, ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना नीचे आ जाती है और कर्ता की चेतना ऊपर आ जाती है। सोने की चौकी का दान तो नीचे चला जाता है और 'इतना बड़ा दान किया मैंने', यह बात ऊपर आ जाती है। बस, इतना अन्तर होता है नीचे की मंजिल का और ऊपर की मंजिल का। पहली मंजिल में क्या हो और दूसरी मंजिल में क्या हो, इतना ही अन्तर आता है। व्रत की चेतना के बाद चैतन्य के दूसरे सोपान का विकास हो जाता है, तीसरे का विकास करना शेष रहता है। उसकी साधना के लिए लम्बा समय चाहिए। यह ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना का विकास कोई एक दिन में नहीं हो जाता और एक बार में नहीं हो जाता। क्योंकि प्रमाद इतना सघन और यह मूर्च्छा इतनी ज्यादा सघन होती है कि बार-बार सताती है। आलस्य बार-बार सताता है। अकर्मण्यता सताती है। ये सब प्रमाद के ही प्रकार हैं। आलस्य प्रमाद का एक प्रकार है। काम करना है, जरूरी है पर आलस्य बीच में आ जाता है। कुछ लोग बहुत ज्यादा आलसी होते हैं। वे कुछ काम करना नहीं चाहते। आत्म-साधना और ध्यान की बात तो बहुत दूर है घर का काम करना भी नहीं चाहते। ऐसी वृत्ति बहुत लोगों में होती है। वे आराम करना और बैठे रहना चाहते हैं।

एक नई बहू आई घर में। वह आलसी थी। कोई भी काम करना नहीं चाहती थी। सासु भली थी। उसने सोचा, नई नई आई है, धीरे-धीरे ठीक हो जाएगी। सासु जल्दी उठती और मकान में झाड़ू देती। दो-तीन बार बेटे ने देखा। उसे यह अच्छा नहीं लगा। वह मां का भक्त था। उसने सोचा, एक उपाय करना चाहिए, जिससे कि मां का झाड़ू छूट जाए और पत्नी काम करने लगे। दूसरे दिन जब मां झाड़ू लगा रही थी, तब वह गया और मां से कहा—मां! झाड़ू मुझे दो। तुमको यह शोभा नहीं देता।'

मां बोली—बेटा ! तुम झाड़ू लगाओगे ? यह तो हम स्त्रियों का काम है। तुम जाओ, मैं झाड़ू लगा दूंगी। दोनों में आग्रह होने लगा। बहूरानी दोनों के आग्रह को देखकर हंस रही थी, पर झाड़ू मैं लगा दूंगी—ऐसा कहना वह नहीं चाहती थी आलस्य के कारण। वह मां के पास आई, बोली—आपस में क्यों आग्रह कर रहे हैं। एक उपाय बताती हूं, एक दिन झाड आप लगा लें और एक दिन झाड़ू ये लगा लेंगे। आग्रह खत्म हो जाएगा।

जो आलस्य में जीते हैं उनकी चेतना ज्ञाता-द्रष्टा की नहीं होती। कुछ कहते हैं, हम काम नहीं करते, केवल देखते रहते हैं। यह ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना नहीं है। यह है अकर्मण्यता की चेतना। यह जीवन का बड़ा विघ्न है। यह कर्तृत्व का दोष है। हम कर्त्ता की स्थिति को अस्वीकार न करें। यह मानकर चलें कि जब तक शरीर है तब तक कर्त्ता की चेतना भी साथ में रहेगी। उसे छोड़ा नहीं जा सकता। वह कर्त्ता की चेतना ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना से प्रभावित रहेगी तो उसमें दोष कम आएंगे या नहीं आएंगे। यदि वह कर्त्ता की चेतना ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना से प्रभावित नहीं होगी तो उसमें बहुत दोष आ जाएंगे। कर्त्तापन सिरदर्द बन जाएगा। अनेक व्यक्ति इस अहंकार का भार ढोते हैं कि मैं हूं तब तक परिवार का काम चलता है। मैं न रहा तो न जाने क्या हो जाएगा ? यह अहं अनेक व्यक्तियों में होता है और इसीलिए वे मरते दम तक काम में लगे रहते हैं। काम को छोड़ना नहीं चाहते। यह भूलभरा चिन्तन है। होना तो यह चाहिए कि अमुक अवस्था के बाद कामकाज, व्यापार से निवृत्त होकर व्यक्ति दूसरी दिशा में प्रस्थान करे। उसे सोचना चाहिए, इतने वर्षों तक मैंने काम किया, अब दूसरों पर भरोसा करूं, उन्हें काम सौंप दूं। वह यह न सोचे कि मेरे आधार पर ही गाड़ी चल रही है। जब यह मिथ्याधारणा या अज्ञान पैदा होता है तब व्यक्ति डूब जाता है। यह अज्ञान बहुत खतरनाक है। यह अनेक समस्याएं पैदा करता है।

यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि कोरी प्रमाद की चेतना कर्त्ता के अहंकार को पैदा करती है। यह कर्तृत्व का अहंकार समूचे जीवन में उलझनें उत्पन्न करता है। ये उलझनें संघर्ष और कलह को जन्म देती हैं। हम सुनते हैं, मैं था तब यह हो गया, अन्यथा कठिनाई होती। यदि मैं नहीं होता तो तुम्हें पता चलता। इस प्रकार की अहंकारपूर्ण भाषा समूचे समाज में व्याप्त है। न जाने कितने लोग इस प्रकार की बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं। यह टकराव का एक कारण बनता है।

इसलिए अप्रमाद की चेतना का विकास बहुत आवश्यक है। अप्रमाद की चेतना का अर्थ है—अपने प्रति जागरूक होना। व्यक्ति जितना अपने प्रति जागरूक होता है उतना ही ज्ञाता और द्रष्टा की चेतना का विकास होता है

और कर्ता की चेतना में आने वाले रोष और बाधाएं कम हो जाती हैं। धीरे-धीरे एक दिन वे सब समाप्त हो जाती हैं।

चैतन्य-विकास की यह तीसरी मंजिल है। इसका विकास जरूरी है। ध्यान के अभ्यास-काल में हम यह प्रयोग करें कि घटनाओं से अप्रभावित रहकर, जितना जो कुछ शरीर में हो रहा है, उसे जानते-देखते रहें। शरीर में दर्द है। एकाग्रता में उसकी तीव्र अनुभूति होगी। पर दर्द को जान लिया, उससे प्रभावित नहीं हुये। प्रिय-अप्रिय संवेदन से भी प्रभावित नहीं हुये। यदि यह क्रम चला तो धीरे-धीरे चलते-चलते हम उस बिन्दु पर पहुंच सकते हैं, जहां ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना पूर्ण विकसित हो जाए और अप्रमाद की स्थिति प्राप्त हो जाए। दुनिया में घटित होने वाली अनेक घटनाओं के प्रभाव से हम अप्रभावित रह सकें। यह अप्रभावित चेतना एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा आदमी हजारों समस्याओं और हजारों दुःखों के बीच रह-कर भी अपने सुख और आनन्द को अबाधित और अव्याबाध रख सकते हैं।

२६

समता की चेतना का विकास

जागरूकता का अन्तिम विन्दु है समता। यह आज का प्रिय शब्द है। विषमता के विषय में जितना चिन्तन वर्तमान युग में हुआ है, उतना अतीत में नहीं हुआ होगा। आज सामाजिक और आर्थिक विषमता मान्य नहीं है। इनके विषय में अनेक क्रांतियां घटित हुई हैं और अनेक भविष्य के गर्भ में हैं। समाज के स्तर पर समता चाहिए। आर्थिक समानता भी अपेक्षित है। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि आज का सबसे अधिक अप्रिय शब्द है विषमता और सबसे अधिक प्रिय शब्द है समता।

आज के विचारकों ने सामाजिक और आर्थिक विषमता के विषय में बहुत चिन्तन किया है, किन्तु चैतसिक विषमता और समता के विषय में कम चिन्तन किया है। हम सोचें, आर्थिक और सामाजिक विषमता का कारण क्या है? मनुष्य के चित्त की स्थिति समतामय नहीं है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ता है और अर्थ-व्यवस्था पर भी पड़ता है। पर हमने मूल कारण को परदे के पीछे रखा है और जो मूल कारण नहीं है उसको बहुत आगे ला दिया है। उसे ही सिंहासन पर बिठा दिया है। यही कारण है कि समस्या सुलझने के बदले उलझती जा रही है।

संसारी जीवन और अध्यात्मिक जीवन की सरलतम परिभाषा यह की जा सकती है कि द्वन्द्वों का जीवन संसार का जीवन है और द्वन्द्वमुक्त जीवन अध्यात्म का जीवन है। चेतना के स्तर पर अनेक द्वन्द्व हैं और ये द्वन्द्व संसार का निर्माण करते हैं।

संसार क्या है? यह एक अनुभूति है द्वन्द्व की। जोड़ा होना, युगल का होना, यह है संसार। इसमें सब दो होते हैं, एक कोई नहीं होता। एक होना अध्यात्म है, दो होना संसार है। लाभ और अलाभ—यह एक द्वन्द्व है। पदार्थ और व्यक्ति दो हैं। इष्ट पदार्थ का योग होना लाभ है। इष्ट पदार्थ का अयोग होना, या जो चाहा उसकी प्राप्ति न होना अलाभ है। यह एक द्वन्द्व—जोड़ा बन गया। आदमी की चैतसिक शक्ति का बहुत बड़ा भाग इस द्वन्द्व में बीतता है। इसने एक विचित्र मानसिक स्थिति का निर्माण किया है। इसके द्वारा एक आदत निर्मित हुई है। वह है सुख-दुःख की आदत। जब जो चाहा उसकी प्राप्ति में आदमी प्रसन्न हो जाता है, सुख का संवेदन करता है और जो चाहा वह नहीं मिला तो वह अप्रसन्न या

दुःखी हो जाता है। उस द्वन्द्व के साथ सुख-दुःख का अनुबंध हो गया। लाभ में सुख, अलाभ में दुःख।

अनेक व्यक्ति या प्रायः सभी व्यक्ति अलाभ की स्थिति में भयंकर वेदना का अनुभव करते हैं। अलाभ में मानसिक स्थिति अधोगामी हो जाती है। व्यापार में घाटा लगा, व्यापारी आत्महत्या कर डालता है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुआ, विद्यार्थी आत्महत्या करने या घर से पलायन करने की बात सोच लेता है। पदावनति हुई और बड़ा अफसर भी व्याकुल होकर प्राण-त्याग के लिए तत्पर हो जाता है। आत्महत्या है जानबूझकर मरना। आदमी यह मृत्यु इसलिए करता है कि उसने अपने मन को लाभ और अलाभ से जोड़ रखा है। कभी-कभी लाभ में भी वह मर जाता है। अति लाभ होने पर व्यक्ति उस खुशी को सहन नहीं कर पाता, और मर जाता है। हमारे मन की स्थिति इस द्वन्द्व के साथ ऐसी जुड़ी हुई है कि उसने चित्त की विषमता का निर्माण कर दिया है। चित्त की विषमता मूल व्याधि है। यह जितनी सताती है उतनी न आर्थिक विषमता सताती है और न सामाजिक विषमता सताती है। विषमता आदमी में उथल-पुथल ला देती है। यह सबसे अधिक खतरनाक है।

हमने एक ऐसी मानसिक स्थिति का निर्माण कर रखा है कि सुख की स्थिति आने पर हम फूल जाते हैं और दुःख की स्थिति में मुरझा जाते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि व्यक्ति की चेतना का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख के साथ अहं की ग्रन्थि और दुःख के साथ हीनता की ग्रन्थि जुड़ जाती है। दुःखी आदमी हीनभावना से ग्रस्त होता है और इतना ग्रस्त कि वह निराशा का जीवन जीने लगता है। वह सोचता है, यह संसार मेरे जीने योग्य नहीं है। जीवन में मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है। सारा जीवन बेकार है।

सुख के साथ अहं की ग्रंथि घुलती है और तब आदमी स्वयं को सम्राट् मानकर जीता है। यह अहं भावना उसमें अनेक कुंठाएं पैदा करती है और तब वह जीवन में टूट जाता है।

एक द्वन्द्व है, जोड़ा है, जीवन और मरण का। आदमी जीवन को बहुत मूल्य देता है और मरने को बहुत खतरनाक मानता है। वह मरने से डरता है और जीने के प्रति लगाव रखता है। उसने अपने मन को इस द्वन्द्व के साथ जोड़ रखा है, इसलिए ऐसी स्थिति का अनुभव करता है। मरना-जीना एक नियति है, घटना है। अनुभवी साधकों ने लिखा कि शरीर को बदलना कोई विशेष घटना नहीं है। जन्म जैसे महोत्सव है, वैसे ही मृत्यु भी एक महोत्सव है। 'मृत्यु महोत्सव' नामक ग्रंथ भी उपलब्ध है। गीता कहती है—जैसे आदमी पुराने या जीर्ण कपड़े को उतार कर नया कपड़ा पहनता है वैसे ही है यह मरण। इससे डरने की क्या बात है! बड़े-बड़े

आचार्यों ने इस बात को समझाया है। अनेक ग्रन्थ इस बात को सप्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आदमी ने यह अनेक बार सुना है, पढ़ा है, फिर भी वह जीवन से मोह करता है और मरने से घबराता है। चित्त की विषमता की यह निष्पत्ति है। जब तक चित्त की विषमता रहेगी, तब तक व्यक्ति में यही होता रहेगा।

निंदा होती है, आदमी घबरा जाता है, दुःखी बन जाता है। प्रशंसा में दो शब्द सुनता है, फूल जाता है, बेभान हो जाता है। तब उसे बोलने का पूरा विवेक नहीं रहता। वह अहंकार में आ जाता है।

चुनाव का दौर था। उम्मीदवार गांव-गांव में जाकर जनता को अपनी बात समझा रहा था। एक गांव में चुनाव सभा हुई। भाषण हुआ। जनता ने कहा—हम आपको जितना चाहते हैं, पर एक शर्त है कि गांव में अच्छा श्मशानघाट नहीं है। आप मंत्री बनेंगे, तब आपके लिए कुछ भी करना कठिन नहीं होगा।' उम्मीदवार प्रशंसा सुनकर फूल गया। वह बेभान होकर बोला—यह तो छोटी-सी समस्या है। गांव में ही नहीं, मैं घर-घर में श्मशानघाट कर दूंगा।'

एक द्वंद्व है—मान और अपमान। सम्मान मिलता है तब आदमी अनेक शर्तें स्वीकार कर लेता है। अपमान होता है तब प्रतिशोध की भावना से भर जाता है, दुःखी हो जाता है। जब तक वह अपमान का बदला नहीं ले लेता, तब तक उसे चैन नहीं मिलता। जीवन भर वह जलता रहता है।

इस प्रकार अनेक द्वन्द्व हैं, जिनकी परिक्रमा कर रहा है आदमी। ये सारे द्वन्द्व चित्त की स्थिति को विषम बनाए हुए हैं। चित्त की इस विषमता का नाम ही है संसार। यह द्वन्द्वों की दुनिया है। हम उस दूसरे संसार की बात करते हैं जो अद्वंद्वों का संसार है, अध्यात्म का संसार है। एक है व्यवहार का संसार और एक है निश्चय का संसार। एक है आभास का संसार और एक है सत्य का संसार। आभास के संसार में आभास तो होता है सत्य का, पर वह पूरी सचाई नहीं होती। सत्य के संसार में सत्य का पूरा साक्षात्कार होता है। दोनों के बीच में भेदरेखा यह है कि जहां चित्त की विषमता है वह व्यवहार का संसार और जहां चित्त की विषमता नहीं है, समता है वह अध्यात्म का संसार, वास्तविक संसार। यही है चेतना का जगत्, समता का जगत्।

हम चाहते क्या हैं—विषमता या समता? हमें प्रिय क्या है—समता या विषमता? हम चाहते हैं समता, पर व्यवहार में लाते हैं विषमता। सिद्धांततः हमें प्रिय है समता, पर व्यवहार में है विषमता। जहां महत्त्व देने का प्रश्न आता है वहां हम समता को महत्त्व देते हैं। दो व्यक्ति लड़ रहे हैं। एक गाली-गलौज दे रहा है। दूसरा शांत है। लोग उस शांत व्यक्ति को

पसंद करेंगे, उसे अच्छा बतायेंगे। झगड़ा या कलह करने वाले को कोई भी अच्छा नहीं कहेगा। इसका निष्कर्ष है कि हमारी अन्तस् चेतना का झुकाव सदा समता की ओर रहता है। किन्तु व्यवहार का गुरुत्वाकर्षण इतना तीव्र है कि वह खींचता है विषमता की ओर। एक ओर से समता की प्रेरणा प्राप्त होती है और दूसरी ओर से विषमता की प्रेरणा। बड़ी समस्या है।

पूरे इतिहास को देखें, जो व्यक्ति समता के साथ जीये हैं, उनको महान् आदर्श माना गया है। जिन लोगों ने विषमता का जीवन जीया है, उनका इतिहास तो है, पर उन्हें आदर्श व्यक्ति नहीं माना गया। उनके जीवन का अनुसरण करना किसी ने नहीं स्वीकारा। इतिहास में और हमारी धर्म परम्परा में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं, अनेक इतिवृत्ति हैं, जिन्हें आदर्श और पूज्य माना गया है, क्योंकि उन व्यक्तियों ने इन सभी द्वन्द्वों—युगलों के परे का जीवन जीया है। जो इन द्वन्द्वों से अतीत होकर जीता है, वह आदर्श रूप बन जाता है। द्वन्द्व का जीवन है गाली के बदले गाली, ईंट का जवाब पत्थर से और एक की हत्या के बदले पांच की हत्या। प्रतिशोध का जीवन द्वन्द्व का जीवन है, संसार का जीवन है। यह चित्त की विषमता का जीवन है। गाली को सहना, ईंट के प्रहार को सहना, समभाव से सहना, यह है द्वन्द्वातीत जीवन।

बादशाह और बीरबल जा रहे थे। साथ में शाहजादा भी था। कुछ दूर गये। गर्मी लगी। बादशाह ने अपना लिबास उतारा और बीरबल के कन्धों पर रख दिया। शाहजादे ने भी ऐसा ही किया। बीरबल शांत था। कपड़ों का भार लादे वह साथ-साथ चल रहा था। बादशाह ने व्यंग्य के स्वरों में कहा—'अरे बीरबल ! आज तो तुम एक गधे का बोझ उठाए हुए हो।' बीरबल ने सुना। कोई दूसरा होता तो आग-बबूला हो जाता। बीरबल ने हंसते हुए कहा—'जहांपनाह ! एक गधे का नहीं दो गधों का भार ढो रहा हूं।'

ऐसी बात वही कह सकता है, जिसने विषमता को कम किया है। निष्कर्ष की भाषा में सोचें तो सामाजिक सन्दर्भ में भी हमने उस व्यक्ति के चिन्तन को या व्यवहार को मूल्य दिया है जिसने समतापूर्ण व्यवहार किया है, विषमता को कम करने का प्रयास किया है।

समता का जागरण एक साथ नहीं होता। हर आदमी का सामान्य संस्कार है विषमता। यह रक्तगत है। इससे एक साथ छुटकारा पाना संभव नहीं है। किन्तु यदि हम सत्य के और अधिक निकट जाएं तो नया प्रकाश मिलेगा। हमारे व्यक्तित्व के दो मुख्य अंग हैं—शरीर और आत्मा। हम जीते हैं शरीर के स्तर पर और जीने के पीछे प्रकाश है। आत्मा का। वह अमिट प्रकाश है, अमिट लौ है जो कभी बुझती नहीं। शरीर एक आवरण है। वह

उस प्रकाश को ढांकने का प्रयास करता है, लौ को बुझा देना चाहता है। किन्तु आत्मा की ज्योति अखंड है, अमिट है, बुझ नहीं सकती। बस, यही हमारे लिए विश्वास और आश्वास का स्थल है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'पारिणामिक भाव' कहा है। यह भाव है इसीलिए आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, अन्यथा इतना दबाव है परिस्थितियों का, कर्म-परमाणुओं का और शरीर का कि उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। किन्तु यह शाश्वत भाव है पारिणामिक, जो अपने अस्तित्व को सदा बनाए रख रहा है। उसके आधार पर हमारे शरीर की संरचना भी ऐसी हुई है कि हमारे शरीर में सब दो-दो हैं। क्रोध करने का केन्द्र मस्तिष्क में है तो उसके उपशमन का केन्द्र भी मस्तिष्क में है। जितनी वृत्तियां हैं, आवेश-आवेग हैं, उन सबके केन्द्र मस्तिष्क में हैं तो साथ-ही-साथ उन सबके नियन्त्रण-केन्द्र भी मस्तिष्क में हैं। यदि केवल वृत्तियों को जन्म देने वाले या उभारने वाले ही केन्द्र हों और नियामक-केन्द्र न हों तो आदमी जी नहीं सकता। दोनों साथ-साथ हैं। शरीर में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं हैं। संवेगों को उद्दीप्त करने की व्यवस्था है तो संवेगों पर नियन्त्रण करने की भी व्यवस्था है। कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि हमारे शरीर में औदयिक भाव की व्यवस्था है तो क्षायोपशमिक भाव की भी व्यवस्था है। औदयिक भाव विषमता पैदा करता है और क्षायोपशमिक भाव विषमता को कम करता है, समता लाता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जहां चित्त की विषमता मिलेगी वहां कुछ न कुछ समता भी मिलेगी। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है इस संसार में जिसमें केवल विषमता हो या केवल समता हो। जब तक व्यक्ति चेतना के विकास के अन्तिम बिन्दु तक नहीं पहुंच जाता तब तक वह पूर्ण समभाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिए साधना करने वाला साधु भी कभी क्रोध में आता है, कभी दूसरे-दूसरे संवेगों का स्पर्श करता है और साधना न करने वाला भी क्षमा करता है, संवेगों का स्पर्श नहीं करता। ये दोनों स्थितियां मिलती हैं।

समता की चेतना का पूर्ण विकास, यह आदर्श की बात है, बहुत आगे की बात है। समता या वीतरागता हमारा-आदर्श है। हमें उस बिन्दु तक पहुंचना है। वहां पहुंचने पर मूल बीज—राग और द्वेष नष्ट हो जाते हैं।

चार अवस्थाएं हैं। एक अवस्था है— उपशमन की, दूसरी है—क्षयीकरण की, तीसरी है—विफलीकरण की और चौथी है—सफलीकरण की। क्रोध के प्रति क्रोध, यह क्रोध के सफलीकरण की प्रक्रिया है। क्रोध के प्रति क्षमा या मौन, यह क्रोध के विफलीकरण की प्रक्रिया है। एक है उपशमन की प्रक्रिया। एक व्यक्ति साधना इतनी कर लेता है, क्रोध को बाहर नहीं आने देता। भीतर ही उसका उपशमन कर देता है, दबा देता है। आग तो जल

रही है, पर उसको राख से ढक देता है, पता नहीं चलता की आग जल रही है। एक है क्षयीकरण की प्रक्रिया। इसमें सारे दोप क्षय हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

हम पहले ही चरण में क्षयीकरण की वात नहीं सोच सकते। क्रमिक साधना करनी होगी। विकास धीरे-धीरे होगा। अनेक महीनों तक ध्यान करने वाला भी क्रोध में आ सकता है, अन्यान्य वृत्तियों के चक्र में फंस सकता है। उसे देखकर लोग कह देते हैं, देखो, यह कैसा ध्यानी ! एक ओर ध्यान की साधना करता है और दूसरी ओर ऐसा व्यवहार करता है। यह विरोधाभास अवश्य है। पर वे इस वात को भूल जाते हैं कि अभी यह मंजिल तक नहीं पहुंचा है, चल रहा है, वृत्तियों के विफलीकरण की वात सीख रहा है। धीरे-धीरे इन वृत्तियों से छूट जाएगा। यदि हमने यह मान लिया कि ध्यान करने वाले को गुस्सा आना ही नहीं चाहिए तो हमने भी ठीक वैसा ही विरोधाभास पाल लिया, जैसा दूसरे लोगों ने पाल रखा है।

वच्चे ने पिता से कहा—पिताजी ! आज सूर्यास्त देखने चलना है। पिता बोला, मैं तो आज अभी वहुत व्यस्त हूं। कल सवेरे सूर्यास्त देखने चलेंगे।

सूर्यास्त देखना है और उसे सवेरे देखना है, कितना वड़ा विरोधाभास ! आदमी भी अनेक प्रकार के विरोधाभासों का जीवन जीता है और उनको पालता ही चला जाता है। ध्यान करने वाला अभी सिद्ध नहीं है, साधक है। उसका लक्ष्य है समता की चेतना का विकास, वीतराग चेतना का विकास। यह विकास साधना और काल-सापेक्ष है। हजारों-हजारों जन्मों के संस्कार एक ही प्रहार से टूट जाएं, यह कभी संभव नहीं है। इसके लिए तीव्र प्रयत्न, लंवा काल और दृढ़ धैर्य अपेक्षित होता है। हमारा लक्ष्य निश्चित है। हम लक्ष्य के अभिमुख होते हैं तो वहां पहुंच भी सकते हैं। तेज चलने वाला पहुंच जाता है और धीरे चलने वाला विलम्ब से पहुंच पाता है। पहुंचेंगे दोनों, चाहे शीघ्रता से या विलम्ब से।

चलत् पिपीलिका याति, योजनानि शतान्यपि।
अगच्छन् वैनतेयोपि, पदमेकं न गच्छति॥

गरुड़ यदि शांत, स्थिर, एक ही स्थान वैठा रहता है तो वह एक कदम भी मार्ग तय नहीं कर पाता और एक क्षुद्र चींटी चलती-चलती सैकड़ों योजन की दूरी पार कर लेती है।

मुख्य वात है चलना, प्रयत्न करना, अभ्यास करना। प्रश्न है क्या हम समता की चेतना को जगाने की दिशा में चलना चाहते हैं या नहीं ? यदि चलना नहीं चाहते तो साधना समाप्त है। यदि चलना चाहते हैं तो चलें। मंजिल निकट आती-सी प्रतीत होगी।

२७

अनावृत चेतना का विकास

चैतन्य विकास की पांचवीं भूमिका है अनावृत चेतना। यह अन्तिम सोपान है। चैतन्य विकास का यह अन्तिम बिंदु है। हमारा चैतन्य मस्तिष्क-परतंत्र है। मस्तिष्क में इतने खंड-प्रखंड हैं कि कई खंड जागते हैं तो ज्ञान होता है और कई खंड सोए रहते हैं तो ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है। यह खंड-चेतना मस्तिष्क से बंधी हुई खंड-चेतना है। इसीलिए आत्मा और चैतन्य की समानता होते हुए भी आदमी करोड़ों-करोड़ों रूपों में बंटा हुआ है। किसी में भी ज्ञान समान नहीं है। किसी में भी ज्ञानगत विशेषता समान नहीं है। एक व्यक्ति कुशल व्यापारी है, पर जहां विद्या का प्रश्न है वहां उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर होता है। एक व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिमान और विद्वान् है, साहित्य का मर्मज्ञ है, पर व्यावसायिक बुद्धि से शून्य है। यदि उसे दूकान पर बिठा दिया जाए तो दूसरे ही दिन दिवाला निकल जाए। इस प्रकार ज्ञानगत इतने विभाजन हो गए कि कहीं कोई सामंजस्य ही नहीं है। अलग-अलग विशेषताएं हैं। कोई शिल्पकार है। कोई टेक्नीशियन है। कोई लेखक है। कोई वक्ता है। हजारों-हजारों प्रकार ज्ञानधारा के बन गए। यह इसलिए सारा विभाजन है कि चेतना आवृत है, बन्धी हुई है। जिसका जो आवरण हटा, वह व्यक्ति उसी में निपुण हो गया। वह खंड जागृत हो गया और शेष सारे बंधे के बंधे रह गए, मुक्त नहीं हुए। मस्तिष्क के ये दो खंड हैं। एक है सुप्त और दूसरा है जागृत। न्यूरोलाजी के अनुसार मस्तिष्क के बहुत थोड़े भाग सक्रिय या जागृत रहते हैं। प्रतिशत के आधार पर, दस प्रतिशत भाग जागृत रहता है और नव्वे प्रतिशत भाग सोया रहता है। आदमी इसीलिए खंड-चेतना का जीवन जीता है, इसीलिए उसका व्यक्तित्व अखंड नहीं बनता। अखंड व्यक्तित्व की बात बार बार दोहरायी जाती है, पर खंड-चेतना के साथ जीने वाले व्यक्ति का अखंड व्यक्तित्व कैसे होगा? असंभव है। किसी में चरित्र का खंड विकसित हो गया तो वह बहुत चरित्रवान् बन गया, किन्तु ज्ञान का खंड विकसित नहीं है तो वह ज्ञान की दृष्टि से जीरो है। जिसके ज्ञान का खंड विकसित हो गया, किन्तु चरित्र का खंड सुप्त है तो वह चरित्र की दृष्टि से कुछ भी नहीं है। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार बन सकती है—

१. कुछ लोग ज्ञानवान् हैं, पर चरित्रवान् नहीं हैं।

२. कुछ लोग चरित्रवान् हैं, पर ज्ञानवान् नहीं हैं।

३. कुछ लोग ज्ञानवान् भी हैं और चरित्रवान् भी हैं।

४. कुछ लोग न ज्ञानवान् हैं और न चरित्रवान् हैं।

और भी अनेक भेद-प्रभेद होते हैं व्यक्तित्व के। इस विभाजन का आधार है—खंड-चेतना। चेतना इतनी खंडित है कि कोई कोना कहीं और कोई कोना कहीं।

एक घुड़सवार सघन रेगिस्तान से गुजर रहा था। आंधी आई। घोड़ा चमका। घुड़सवार नीचे गिर गया घोड़ा भाग गया। रेतीली आंधी से घुड़सवार ढक गया। आंधी थमी। उधर से दूसरा घुड़सवार आ रहा था। उसने देखा, रेत में कुछ दबा-सा पड़ा है। नीचे उतरा घोड़े से। कुछ रेत हटाई। पहले कुछ काली-काली सी चीज दिखी। फिर कुछ रेत और हटाई। सफेद चीज नजर आई। वह रेत हटाता रहा। अन्त में उसे मनुष्याकृति दिखाई दी। वह अभी जीवित था। सांस आ रही थी।

हमारी घुड़सवार चेतना भी सहारा के रेगिस्तान में दबी पड़ी है। थोड़ी रेत हटाने से नहीं दीखेगी। धीरे-धीरे खंड-खंड दिखाई देगा। समग्रता से उसको देखने के लिए पूरा श्रम अपेक्षित है। एक बात है, जो चेतना शरीर से प्रतिबद्ध है, वह अखंड हो ही नहीं सकती क्योंकि हमारा माध्यम है मस्तिष्क। जानने का माध्यम है मस्तिष्क या पृष्ठरज्जु। जब तक इन माध्यमों से जानते रहेंगे तब तक हमारा व्यक्तित्व खंडित रहेगा। माध्यम के बिना जानने की चेतना अखंड बन जाएगी। अखंड व्यक्तित्व हो सकता है वीतराग। जब तक राग और द्वेष के कीटाणु अपना काम करते रहेंगे तब तक कोई भी व्यक्ति अखंड व्यक्तित्व का धनी नहीं हो सकता। हम केवल अखंड व्यक्तित्व का स्वप्न लेते हैं, बातें करते हैं, किंतु राग और द्वेष अखंड व्यक्तित्व को बनने ही नहीं देते। राग और द्वेष मूर्च्छा पैदा करते हैं। जहां मूर्च्छा है वहां व्यक्तित्व अखंड नहीं रह सकता, खंडित हो जाता है। खंडित व्यक्तित्व का एक व्यंग्य है—पत्नी ने पति से कहा, आपने कैसा नौकर रख छोड़ा है? यह तो चोर है। पति बोला, क्या हुआ? पत्नी ने कहा— कल हम जिस होटल से चांदी का एक चम्मच उठाकर लाए थे, वह इसने चुरा लिया है।

यह कैसी मूर्च्छा! स्वयं उठाकर लाए, वह चोरी नहीं है। नौकर उठाकर ले गया, वह चोरी हो गई।

बस में बैठा-बैठा एक आदमी जोर से चिल्लाया, अरे! मेरी अटेची कोई चुरा कर ले गया। सब यात्री हैरान थे। सहानुभूति के स्वरों से पूछा— कैसी थी अटेची? क्या-क्या था उसमें? कितने रुपये थे? वह बोला—मुझे कुछ भी पता नहीं। मैं तो उसे रेल के डिब्बे में से उठाकर लाया था और बस में कोई चुराकर ले गया। कितना खराब जमाना है!

यह है खंडित व्यक्तित्व की विडम्बना। यह होती है मूर्च्छा के कारण उसे यह भान नहीं रहता कि मैं किसी की अटेची उठाकर लाया हूं, पर मैं चोर नहीं हूं। और उसे दूसरा उठाकर ले गया तो वह चोर बन गया। चम्मच स्वयं उठाकर लाया तो चोर नहीं बना और नौकर उठाकर ले गया तो चोर बन गया। कैसी विडंबना !

खंडित व्यक्तित्व की इतनी अबूझ पहेलियां हैं कि उनका समाधान न कोई समाज कर सका और न कोई मनोवैज्ञानिक कर सका। धर्मगुरु भी इसका समाधान नहीं कर सके। कह देना चाहिए कि जटिल समस्या का समाधान कोई भी नहीं कर सका। कारण है—खंडित चेतना। यह चेतना खंडित व्यक्तित्व का ही निर्माण करती है। खंड चेतना होने का कारण है—किंचनता। किंचनता का अर्थ है—मेरे पास कुछ है, मेरे पास कुछ है। यह भाव चेतना को खंडित कर देता है। जब तक किंचनता का भाव है तब तक खंड-चेतना समाप्त नहीं हो सकती। किंचनता की चेतना आवरण है। यह चेतना को ढकती है। पर एक प्रश्न है कि शरीर के साथ जीने वाला शरीरधारी प्राणी किंचनता की चेतना से रहित कैसे हो सकता है ? क्योंकि शरीर स्वयं एक किंचन है, कुछ है। जब शरीर है तो उसके संचालन के लिए भी कुछ चाहिए। यहीं से किंचनता की बात प्रारम्भ हो जाती है। किंचनता की स्थिति में खंडित व्यक्तित्व की बात अवश्य बनी रहती है।

इस परिप्रेक्ष्य में अध्यात्म के सामने एक प्रश्न उभरा कि क्या अखंड व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है ? इस पर खोज चली। खोज का परिणाम यह निकला कि व्यावहारिक जगत् में या बाह्य जगत् में अखंड व्यक्तित्व का निर्माण असंभव है, कठिन है। अखंड व्यक्तित्व का निर्माण आंतरिक वास्तविकताओं में हो सकता है। दूसरे शब्दों में, आंतरिक चेतना के धरातल पर अखंड व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। गहरी वास्तविकताओं के आधार पर यह संभव है। इनर रीएलिटी में चेतना की खंडता समाप्त हो जाती है।

सबसे पहले समाप्त होता है मिथ्यादृष्टिकोण। दृष्टि को बदला और अखंड दिशा की ओर प्रस्थान हो गया।

आकर्षण या रुचि के बदलते ही अखंड व्यक्तित्व की दिशा में दूसरा चरण आगे बढ़ जाता है।

मूर्च्छा टूटती है। जागृति का सातत्य प्राप्त होता है। साधक अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है तब अखंड व्यक्तित्व की दिशा में तीसरा चरण आगे बढ़ता है।

जब वीतरागभाव विकसित होता है, समता की चेतना जागती है तब राग-द्वेष का चक्र टूट जाता है तब अखंड व्यक्तित्व की दिशा में चौथा

चरण आगे बढ़ता है।

जैसे ही राग-द्वेष का चक्र टूटा, मूर्च्छा का तमस् मिटा, चेतना को आवृत करने वाले जितने व्यूह थे वे सब निष्क्रिय बन जाते हैं। किसी में वह शक्ति शेष नहीं रहती कि वह किसी को ढक सके, रोक सके।

मिथ्या दृष्टिकोण, आकर्षण, मूर्च्छा और राग-द्वेष—इन चारों के समाप्त होने पर पांचवीं भूमिका में चेतना सर्वथा अनावृत हो जाती है। तब प्रकाश ही प्रकाश ! न कोई अवरोधक और न कोई आवरण। जो खंड-खंड थे, उनकी विभक्तता समाप्त हो जाती है। इस भूमिका में मस्तिष्कीय चेतना और नाड़ी-तंत्र की चेतना कृतकार्य हो जाती है, पूरा शरीर चैतन्यमय बन जाता है, ज्ञानमय बन जाता है। सारे माध्यम समाप्त हो जाते हैं और इनर रीएलिटी अभिव्यक्त हो जाती है।

राजसभा में दो चित्रकार आए। राजा ने उनको चित्रशाला में चित्र बनाने का काम सौंपा। दोनों को चित्रशाला की आमने-सामने की भींत पर चित्र बनाने को कहा। पुरस्कार की घोषणा भी हुई। छह मास की अवधि पूरी हुई। राजा देखने आया। एक ओर भित्तिचित्रों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। सभी ने चित्रों को सराहा। चित्रकार आनन्दित हुआ। राजा दूसरे चित्रकार के कक्ष में गया। चित्र रहित भींत को देखकर राजा झुंझला उठा। राजा कुछ कहे, उससे पहले ही बीच का परदा उठा और सारी भींत चित्रों से जगमगा उठी। राजा हैरान हो गया। यह क्या ? चित्रकार बोला—'राजन् ! मैंने एक भी चित्र नहीं बनाया। चित्र सारे मेरे साथी ने बनाए हैं। मैं दोहरा श्रम क्यों करता ? मैंने तो मात्र भित्ति की घुटाई की है और इतनी घुटाई की कि सारी चित्रशाला इसमें प्रतिबिम्बित हो गई। सारी चित्रशाला एक हो गई, खंड-खंड नहीं रही।

जब चेतना की भी इतनी घुटाई हो जाती है तब सारी चेतना एक साथ जगमगा उठती है। सारा एकाकार हो जाता है। खंड समाप्त हो जाते हैं।

चेतना जब वीतराग बनती है तब वह अनावृत होकर अखण्ड बन जाती है। न राग-द्वेष और न मूर्च्छा। सारे दोष समाप्त हो जाते हैं। अखंड चेतना का अर्थ है—अनावृत चेतना, वीतराग चेतना। वीतराग चेतना अनावृत चेतना बनती है और अनावृत चेतना अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

धर्म की उपासना या आराधना करने वाले व्यक्ति इस भ्रम में न रहें कि इस उपासना से वे अखंड व्यक्तित्व के धनी हो गए हैं। धार्मिक का व्यक्तित्व अखंड ही होता है, यह भ्रम है। मनोविज्ञान ने अखंड व्यक्तित्व की बहुत चर्चा की है और इसके अनेक पेरामीटर—कसौटियां बतलाई हैं। ये

सारी व्यावहारिक कसौटियां हैं। वास्तव में अखंड व्यक्तित्व वही होता है जिसकी चेतना अनावृत या वीतराग बन जाती है। वीतरागता के बिना अखंडता आ नहीं पाती, चेतना टूटती रहती है। एक व्यक्ति आज अच्छा है, कल शायद वैसा न रह सके। एक व्यक्ति आज विद्वान् है, कल पक्षाघात से ग्रस्त होकर, वह किसी काम का नहीं रहा। उसका ज्ञान समाप्त हो गया। पढ़ा-लिखा है, पर स्मृति-भ्रंश के रोग से पीड़ित है। वह अपना नाम भी याद नहीं रख पाता। सारी स्मृति लुप्त हो जाती है, ज्ञान चला जाता है। ऐसा इसीलिए होता है कि खंड-चेतना है। खंड-चेतना के परिप्रेक्ष्य में हम अखण्ड चेतना की बात कैसे करें? चरित्रवान् चरित्र-भ्रष्ट हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है और साहूकार चोर हो जाता है। ये सारे परिवर्तन खंड-चेतना के साक्षी हैं। यही है खण्डित व्यक्तित्व। अतः हम कोई भी ऐसी भेदरेखा नहीं खींच सकते जहां अखंड व्यक्तित्व का निर्णायक सूत्र हमें मिल जाए।

चेतना का जितना-जितना आवरण हटता है, उतना-उतना व्यक्तित्व अखंडता की दिशा में बढ़ता चला जाता है। हम उसे अखंड व्यक्तित्व नहीं कह सकते। ज्ञान भी आगे बढ़ता चला जाता है और समझ भी आगे बढ़ती चली जाती है। ज्ञान और समझ में बहुत तारतम्य प्राप्त होता है। एक करोड़ व्यक्तियों का सर्वे किया जाए तो तारतम्य का अंक भी एक करोड़ आएगा। करोड़ प्रकार का ज्ञान और करोड़ प्रकार की समझ। संख्या जितनी अधिक होगी, तारतम्य की संख्या बढ़ती जाएगी।

तर्कशास्त्र में एक प्रश्न उठाया गया कि हम कैसे मानें कि अखंड चेतना या अनावृत चेतना है? हम कैसे मानें कि सर्वज्ञता है? प्रमाण क्या है? तर्कशास्त्रियों ने यही तर्क प्रस्तुत किया कि ज्ञान का तारतम्य बता रहा है कि एक बिन्दु ऐसा भी है जहां ज्ञान पूर्ण होता है, दूसरे सारे ज्ञान या तारतम्य समाप्त हो जाते हैं। वह अन्तिम बिन्दु है केवलज्ञान, संपूर्णज्ञान। वही अखंड ज्ञान है, अनावृत ज्ञान है। वहां कोई तारतम्य नहीं है। ज्ञान का आदि बिन्दु है स्थावर जीवनिकाय का एक इन्द्रिय का ज्ञान। यह पहला बिंदु है। वह आगे क्रमशः विकसित होता हुआ चला जाता है। उसका चरम बिंदु है केवल ज्ञान। मनुष्य विकसित प्राणी है। पर कुछेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनमें ज्ञान का न्यूनतम विकास, एकेन्द्रिय प्राणी जैसा विकास, और न्यूनतम समझ होती है। उनमें तारतम्य बहुत है। ज्ञान का आदि-बिन्दु भी वहां मिलता है तो चरम-बिन्दु का धनी भी मनुष्य ही हो सकता है। बहुत सारे मनुष्य तो न्यूनतम ज्ञानधारा की परिधि में घूमते रहते हैं।

मालिक ने नौकर से कहा—दही का कटोरा पड़ा है। ध्यान रखना, कौआ खा न जाए। मालिक चला गया। घंटा भर बाद आकर देखा तो कटोरा खाली मिला। नौकर से पूछा। नौकर बोला— कौए से मैंने बचाया

चरण आगे बढ़ता है।

जैसे ही राग-द्वेष का चक्र टूटा, मूर्च्छा का तमस् मिटा, चेतना को आवृत करने वाले जितने व्यूह थे वे सब निष्क्रिय बन जाते हैं। किसी में वह शक्ति शेष नहीं रहती कि वह किसी को ढक सके, रोक सके।

मिथ्या दृष्टिकोण, आकर्षण, मूर्च्छा और राग-द्वेष—इन चारों के समाप्त होने पर पांचवीं भूमिका में चेतना सर्वथा अनावृत हो जाती है। तब प्रकाश ही प्रकाश ! न कोई अवरोधक और न कोई आवरण। जो खंड-खंड थे, उनकी विभक्तता समाप्त हो जाती है। इस भूमिका में मस्तिष्कीय चेतना और नाड़ी-तंत्र की चेतना कृतकार्य हो जाती है, पूरा शरीर चैतन्यमय बन जाता है, ज्ञानमय बन जाता है। सारे माध्यम समाप्त हो जाते हैं और इनर रीएलिटी अभिव्यक्त हो जाती है।

राजसभा में दो चित्रकार आए। राजा ने उनको चित्रशाला में चित्र बनाने का काम सौंपा। दोनों को चित्रशाला की आमने-सामने की भींत पर चित्र बनाने को कहा। पुरस्कार की घोषणा भी हुई। छह मास की अवधि पूरी हुई। राजा देखने आया। एक ओर भित्तिचित्रों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। सभी ने चित्रों को सराहा। चित्रकार आनन्दित हुआ। राजा दूसरे चित्रकार के कक्ष में गया। चित्र रहित भींत को देखकर राजा झुंझला उठा। राजा कुछ कहे, उससे पहले ही बीच का परदा उठा और सारी भींत चित्रों से जगमगा उठी। राजा हैरान हो गया। यह क्या ? चित्रकार बोला—'राजन् ! मैंने एक भी चित्र नहीं बनाया। चित्र सारे मेरे साथी ने बनाए हैं। मैं दोहरा श्रम क्यों करता ? मैंने तो मात्र भित्ति की घुटाई की है और इतनी घुटाई की कि सारी चित्रशाला इसमें प्रतिबिम्बित हो गई। सारी चित्रशाला एक हो गई, खंड-खंड नहीं रही।

जब चेतना की भी इतनी घुटाई हो जाती है तब सारी चेतना एक साथ जगमगा उठती है। सारा एकाकार हो जाता है। खंड समाप्त हो जाते हैं।

चेतना जब वीतराग बनती है तब वह अनावृत होकर अखण्ड बन जाती है। न राग-द्वेष और न मूर्च्छा। सारे दोष समाप्त हो जाते हैं। अखंड चेतना का अर्थ है—अनावृत चेतना, वीतराग चेतना। वीतराग चेतना अनावृत चेतना बनती है और अनावृत चेतना अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

धर्म की उपासना या आराधना करने वाले व्यक्ति इस भ्रम में न रहें कि इस उपासना से वे अखंड व्यक्तित्व के धनी हो गए हैं। धार्मिक का व्यक्तित्व अखंड ही होता है, यह भ्रम है। मनोविज्ञान ने अखंड व्यक्तित्व की बहुत चर्चा की है और इसके अनेक पेरामीटर—कसौटियां बतलाई हैं। ये

सारी व्यावहारिक कसौटियां हैं। वास्तव में अखंड व्यक्तित्व वही होता है जिसकी चेतना अनावृत या वीतराग बन जाती है। वीतरागता के बिना अखंडता आ नहीं पाती, चेतना टूटती रहती है। एक व्यक्ति आज अच्छा है, कल शायद वैसा न रह सके। एक व्यक्ति आज विद्वान् है, कल पक्षाघात से ग्रस्त होकर, वह किसी काम का नहीं रहा। उसका ज्ञान समाप्त हो गया। पढ़ा-लिखा है, पर स्मृति-भ्रंश के रोग से पीड़ित है। वह अपना नाम भी याद नहीं रख पाता। सारी स्मृति लुप्त हो जाती है, ज्ञान चला जाता है। ऐसा इसीलिए होता है कि खंड-चेतना है। खंड-चेतना के परिप्रेक्ष्य में हम अखण्ड चेतना की बात कैसे करें? चरित्रवान् चरित्र-भ्रष्ट हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है और साहूकार चोर हो जाता है। ये सारे परिवर्तन खंड-चेतना के साक्षी हैं। यही है खण्डित व्यक्तित्व। अतः हम कोई भी ऐसी भेदरेखा नहीं खींच सकते जहां अखंड व्यक्तित्व का निर्णायक सूत्र हमें मिल जाए।

चेतना का जितना-जितना आवरण हटता है, उतना-उतना व्यक्तित्व अखंडता की दिशा में बढ़ता चला जाता है। हम उसे अखंड व्यक्तित्व नहीं कह सकते। ज्ञान भी आगे बढ़ता चला जाता है और समझ भी आगे बढ़ती चली जाती है। ज्ञान और समझ में बहुत तारतम्य प्राप्त होता है। एक करोड़ व्यक्तियों का सर्वे किया जाए तो तारतम्य का अंक भी एक करोड़ आएगा। करोड़ प्रकार का ज्ञान और करोड़ प्रकार की समझ। संख्या जितनी अधिक होगी, तारतम्य की संख्या बढ़ती जाएगी।

तर्कशास्त्र में एक प्रश्न उठाया गया कि हम कैसे मानें कि अखंड चेतना या अनावृत चेतना है? हम कैसे मानें कि सर्वज्ञता है? प्रमाण क्या है? तर्कशास्त्रियों ने यही तर्क प्रस्तुत किया कि ज्ञान का तारतम्य बता रहा है कि एक बिन्दु ऐसा भी है जहां ज्ञान पूर्ण होता है, दूसरे सारे ज्ञान या तारतम्य समाप्त हो जाते हैं। वह अन्तिम बिन्दु है केवलज्ञान, संपूर्णज्ञान। वही अखंड ज्ञान है, अनावृत ज्ञान है। वहां कोई तारतम्य नहीं है। ज्ञान का आदि बिन्दु है स्थावर जीवनिकाय का एक इन्द्रिय का ज्ञान। यह पहला बिंदु है। वह आगे क्रमशः विकसित होता हुआ चला जाता है। उसका चरम बिंदु है केवल ज्ञान। मनुष्य विकसित प्राणी है। पर कुछेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनमें ज्ञान का न्यूनतम विकास, एकेन्द्रिय प्राणी जैसा विकास, और न्यूनतम समझ होती है। उनमें तारतम्य बहुत है। ज्ञान का आदि-बिन्दु भी वहां मिलता है तो चरम-बिन्दु का धनी भी मनुष्य ही हो सकता है। बहुत सारे मनुष्य तो न्यूनतम ज्ञानधारा की परिधि में घूमते रहते हैं।

मालिक ने नौकर से कहा—दही का कटोरा पड़ा है। ध्यान रखना, कौआ खा न जाए। मालिक चला गया। घंटा भर बाद आकर देखा तो कटोरा खाली मिला। नौकर से पूछा। नौकर बोला—कौए से मैंने बचाया

था, पर एक कुत्ता आया और खा गया। आपने कुत्ते से बचाने के लिए नहीं कहा था।

मालिक ने नौकर से कहा—घी के पीपे में जो चूहा गिरा था, निकाल लिया ? नौकर बोला—मालिक ! निकाला तो नहीं, पर मैंने एक उपाय कर डाला। मैंने पीपे में एक बिल्ली डाल दी, जो कि चूहे को खा जाएगी।

बुद्धि और समझ में बहुत तारतम्य रहता है। करोड़ों-अरबों भेद-प्रभेद हो सकते हैं। आदि-बिन्दु और चरम-बिन्दु के बीच के तारतम्य अनगिन हैं, असंख्य हैं, अनन्त हैं। यह तारतम्य इसी बात का सूचक है कि प्रथम बिन्दु है तो अन्तिम बिन्दु भी होगा, जहां सारा तारतम्य समाप्त हो जाता है। यह है अनावृत चेतना।

जब अनावृत चेतना का विकास होता है तब सबसे पहले भेद समाप्त हो जाता है, प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद मिट जाता है। आवृत चेतना में दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। हमारे प्रत्यक्ष कम है, परोक्ष अधिक है। और जो प्रत्यक्ष है वह भी इन्द्रियों का प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां विभ्रम पैदा करती हैं। होता कुछ और है और ज्ञात कुछ और ही होता है। चेतना के अनावृत होते ही परोक्ष समाप्त हो जाता है और सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां सत्य का पूर्ण साक्षात्कार या आत्मा का साक्षात्कार होता है। सब कुछ प्रत्यक्ष। परोक्षता समाप्त हो जाती है। दूरी और निकट का भेद समाप्त हो जाता है। व्यवधान या अव्यवधान, कुछ नहीं। वहां भेद का कोई अर्थ नहीं होता। वहां सर्व-व्यापिता प्राप्त हो जाती है। सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान। ज्ञानमय। स्थूल और सूक्ष्म, व्यवहित और अव्यवहित—ये सारे आवृत चेतना की परिधि में होने वाले भेद हैं। अनावृत चेतना के राज्य में भेद नाम की वस्तु ही नहीं है। सब कुछ एकमय, सर्वमय, एकाकार, अद्वैत।

ध्यान प्रारम्भ करने वाला साधक अखंड चेतना की दिशा में प्रस्थान प्रारम्भ करता है। यह पहला कदम है। यही अखंड व्यक्तित्व की दिशा में उठने वाला पहला चरण है। ध्यान के द्वारा ज्ञान और चारित्र दोनों का विकास होता है। ध्यान के द्वारा जागरूकता बढ़ती है, फलतः चारित्र का विकास होता है। चारित्र का विकास होता है, मोह कम होता जाता है। दूसरे शब्दों में, चेतना पर आवरण डालने वाले तत्त्व कम होते हैं। मूर्च्छा मूल है। जब यह टूटती है तब आवरण अपने आप हटते जाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो ध्यान बहुत मूल्यवान् है। ध्यान की अन्यान्य प्रक्रियाओं में प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया अधिक मूल्यवान् है, इसलिए नहीं कि हम इसे अपनाए हुए हैं, परन्तु इसलिए कि प्रेक्षा की बात, देखने की बात अनावृत चेतना की बात है। देखता वही है जिसकी चेतना अनावृत है। आवृत चेतना वाला देख नहीं

सकता। आंखों पर पट्टी बंधी हो तो देखना मुश्किल हो जाता है। आवृत चेतना पट्टी है। जब चेतना पर पट्टी होती है, आवरण होता है, तब देखना नहीं होता। उस पट्टी को खोलना या आवरण को हटाने का एक प्रयत्न है ध्यान। देखना सीखना भी एक कठिन कार्य है। देखना एक कला है। कैसे देखें ? किसे देखें ? हमें उसे देखना है जो दृश्य नहीं है। जब तक दृश्य ही देखते रहेंगे, सत्य हाथ नहीं आएगा। केवल छिलके को देखना देखना नहीं है। देखने का अर्थ है—पार दर्शन। केवल आर को नहीं, पार को देखना है।

गुप्तचर आदमी को नहीं देखता। वह स्थूल में नहीं उलझता। वह आकार को नहीं, आकार में छिपी सूक्ष्म रेखाओं को देखता है और अपराधी या अनपराधी का निर्णय कर लेता है। 'मुखाकृति विज्ञान' का विद्यार्थी चेहरे की बनावट को देखकर अनेक बातें जान लेता है। देखने के अनेक स्तर हैं। देखने की सूक्ष्मता जागनी चाहिए। श्वास को देखते हैं तो श्वास के रंग को देखना, श्वास की सूक्ष्मता को देखना है। उसका रंग श्वेत, लाल, पीला, नीला, मटमैला होता है। कभी वह काला रंग का भी होता है। जब व्यक्ति बौद्धिक व्यायाम करता है तब श्वास का रंग पीला, बुरा चिन्तन करता है तो काला हो जाता है। जब वह विधायक चिंतन में लगा रहता है तब श्वास का रंग श्वेत हो जाता है। रंग बदलते रहते हैं। श्वास का रस भी होता है। कभी खट्टा होता है तो कभी मीठा। अन्यान्य रस भी होते हैं, श्वास में गंध होता है। कभी सुगंध और कभी दुर्गन्ध। इस प्रकार श्वास में गंध है, रस है, वर्ण है और स्पर्श है। इन सबको पकड़ना है, देखना है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और अन्त में सूक्ष्मतम। यह देखने का विकास करना है। जैसे-जैसे देखने की शक्ति विकसित होती है, दृश्य बदलते चले जाते हैं। वे एकरूप नहीं रहते। जब हम स्थूल दृष्टि से देखते हैं तो दृश्य एक प्रकार का होता है और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह दूसरे प्रकार का हो जाता है। यह विकास अनावृत चेतना की दिशा में आगे बढ़ने का एक उपाय है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, दृश्य बदलते जाएंगे और तब मूर्च्छा का चक्र भी टूटता चला जाएगा। स्थूल और केवल स्थूल को देखने से मूर्च्छा बढ़ती है। सूक्ष्म और सूक्ष्मतर को देखने से वह टूटती है, क्योंकि देखने का कोण ही बदल जाता है।

खंड-चेतना को समाप्त करने और अखंड चेतना या अखंड व्यक्तित्व को प्राप्त करने की दिशा में देखने की शक्ति का विकास एक कारगर उपाय है।

सूक्ष्म शरीर और पुनर्जन्म

हम सब स्थूल शरीर में जीते हैं, इसलिए इसके नियम स्पष्ट हैं। हम इन्हें जानते हैं। एक दिन बच्चा जन्मता है, बढ़ता है और अनेक अवस्थाओं को पार करता जाता है। शरीर बूढ़ा होता है, जीर्ण-शीर्ण होता है और एक दिन निष्प्राण बन जाता है, प्राण समाप्त होता हैं और वह चला जाता है। ये सारे परिवर्तन हमारे प्रत्यक्ष हैं। हम इन्हें जानते हैं। पर इस स्थूल शरीर के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिये दूसरी खोज शुरू हुई। इस स्थूल शरीर के भीतर कुछ और भी है। यह शरीर हमारी सारी गतिविधियों और कार्यों की व्याख्या के लिये पर्याप्त नहीं है। मनुष्य ऐसे कार्य भी करता है जो स्थूल शरीर के परे की बात है। कुछ न कुछ और भी होना चाहिये। जब खोज शुरू हुई और अन्तर्दृष्टि के द्वारा भीतर पहुंचा गया तो ज्ञात हुआ कि इस शरीर के भीतर एक शरीर और है। वह है—तैजस शरीर, विद्युत् शरीर। इसी से स्थूल शरीर की सारी प्रवृत्तियां संचालित होती हैं।

प्राणशक्ति हमारी हर गतिविधि को प्रभावित करती है, पर उससे भी हमारे व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं होती। प्रश्न बना ही रहा कि आदमी के आचरण को कौन प्रभावित करता है? उसे कौन चला रहा है? आदमी के चिन्तन और भावों को कौन प्रभावित कर रहा है? जन्म और मृत्यु को कौन प्रभावित कर रहा है? सुख-दुःख के संवेदन को, ज्ञान और दर्शन की शक्ति को कौन प्रभावित कर रहा है? ये अनेक प्रश्न हैं। ये अज्ञात ही रहे। खोज फिर आगे बढ़ी। यह ज्ञात हुआ कि इन प्रश्नों की व्याख्या न स्थूल शरीर से हो सकती है, न तैजस या विद्युत् शरीर से हो सकती है। खोज और आगे बढ़ी। तब ज्ञात हुआ कि भीतर एक शरीर और है जो इन सारी प्रवृत्तियों को प्रभावित कर रहा है, संचालन और नियमन कर रहा है। वह सूक्ष्मतर शरीर है। उसे जैन पारिभाषिक शब्दावलि में 'कार्मण शरीर' कहा जाता है। उसकी रश्मियां स्थूल शरीर को और तैजस शरीर को प्रभावित करती हैं।

तीन हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मतर शरीर। स्थूल शरीर प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष नहीं है, पर कुछ स्थितियों में उसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। विशेष प्रयोगों और साधनों द्वारा उसे

देखा जा सकता है। जब अन्तर्दृष्टि जागती है तब उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। तीसरा है सूक्ष्मतर शरीर। यह कर्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। इन्द्रिय-शक्ति से इसे नहीं देखा जा सकता। अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। आज के आनुवंशिक विज्ञान में जो 'जीन' की चर्चा है, वह कर्म-शरीर या सूक्ष्मतर शरीर के निकट पहुंचा देती है। आज यह निर्णयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्रारम्भिक कल्पना के रूप में कहा जा सकता है कि 'जिनेटिक इन्जीनियरिंग' की सारी चर्चा कर्म-शरीर के आसपास पहुंचाने वाली चर्चा है। 'जीन' को कर्म का एकरूप माना जा सकता है, जहां सारे संस्कार और सारी वृत्तियां सचित हैं और ये जीवन-यात्रा का नियमन करती हैं।

हम तीन स्तरों पर जीते हैं—स्थूल शरीर के स्तर पर, सूक्ष्म शरीर के स्तर पर और सूक्ष्मतर शरीर के स्तर पर। यदि हम एक ही स्तर पर जीने की बात सोचते हैं तो कठिनाई पैदा होती है। तीनों स्तरों को समझने के लिये गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन अपेक्षित है।

आदमी मूर्च्छा में जीता है। जब तक वह इन स्तरों के प्रति जागरूक नहीं बनता तब तक उसे सत्य का भान नहीं होता, उसे समाधान नही मिलता।

दो शराबी मिले। एक ने कहा—शराब की आदत इतनी गहरी हो गई कि मुझे सोने के बाद तीन घंटे तक नींद ही नहीं आती। दूसरा बोला—मेरे साथ यह कठिनाई नहीं है। मुझे तो सोते ही नींद आ जाती है, पर मुसीबत यह है कि सोते समय बिछौना ढूंढ़ने में मुझे तीन घण्टा लग जाता है।

तीनों समान हैं। जब तक जागरूक नहीं होता, तब तक नींद नहीं आती, विश्राम नहीं मिलता, समाधान नहीं मिलता। शराब की मादकता किसी को तीन घंटा बिछौना ढूंढ़ने में लगा देती है और किसी को तीन घंटा नींद आने में लगा देती है। विश्राम, आराम, समाधान वहां मिलता है जहां पूरी जागरूकता आ जाती है।

आदमी स्थूल शरीर के प्रति बहुत जागरूक है। वह इसको तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहता। प्रातः उठने से लेकर सोने तक वह इसका पोषण करता जाता है। बहुत सार-संभाल करता है। वैज्ञानिकों ने आंकड़े निकाल कर बताया है कि आदमी प्रतिदिन पांच-सात घंटा शरीर के परिकर्म में लगाता है। स्थूल शरीर के प्रति आदमी बहुत जागरूक है। सूक्ष्म शरीर के प्रति भी वह कुछ जागरूक है। वह देखता है, शरीर की लालिमा कैसी है? कितना सुन्दर है? आदि-आदि। पर वह सूक्ष्मतर शरीर के प्रति कम जागरूक है। आदमी प्रतिभावान्, बौद्धिक, भला या अच्छा बनता है, पर इस

शरीर से नहीं बनता। यह सारा स्थूल शरीर का परिणाम नहीं है। हम दैनंदिन के जीवन में यह अनुभव करते हैं कि अनेक स्त्री-पुरुष सुन्दर आकृति वाले होते हुए भी अच्छे नहीं लगते। उनके साथ रहने से मन बेचैन हो जाता है। आकृति सुन्दर है, पर प्रकृति असुन्दर है। जब तक प्रकृति सुन्दर नहीं होती तब तक वह स्त्री या पुरुष आपातभद्र हो सकता है, पर लम्बे समय तक भद्र नहीं रह सकता। वह प्रारम्भ में अच्छा लगता है, पर तीन दिन बाद ही उसकी खोड़ीली प्रकृति से उसके प्रति घृणा उभर आती है। आदमी प्रारम्भ में आकृति को पसन्द करता है और दीर्घकाल में प्रकृति को पसन्द करता है। यदि प्रकृति अच्छी नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

घर में नई बहू आई। उसकी आकृति को देखकर घर के छोटे-बड़े सदस्यों के मन घृणा से भर गए। वह सबके द्वारा तिरस्कृत और प्रताड़ित होने लगी। पति घबराया। बहू ने धैर्य रखा। एक महीना बीता। उसके विनम्र व्यवहार, मीठी वाणी और कार्य दक्षता ने सबके मन को आकृष्ट कर डाला। घरवाले सारे वशवर्ती हो गए। सास बोली—घर में लड़की क्या आई है, देवी आ गई है। सभी प्रशंसा करने लगे। आकृति पर प्रकृति ने विजय पा ली। आकृति प्रकृति में विलीन हो गई।

प्रारंभ में आकृति अच्छी लगती है और दीर्घकाल में प्रकृति अच्छी लगती है। लड़की कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, यदि दिनभर आग जलती ही रहती है, कलह मिटता ही नहीं, तो वह किसी को नहीं भाती। सब सोचते हैं, किस कर्कशा से पाला पड़ा! आपातभद्र होती है आकृति और परिणामभद्र होती है प्रकृति। सोर्ट टर्न में आकृति और लोंग टर्न में प्रकृति प्रभावित करती है।

आकृति भी भीतरी कारणों से आती है और प्रकृति भी भीतरी कारणों से आती है। जिसका कर्म-शरीर—सूक्ष्मतर शरीर सुन्दर होता है, उसकी प्रकृति सुन्दर होती है, भद्र होती है। कर्म-शरीर के सुन्दर होने का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष की तरंगों का कम होना। जब ये तरंगें कम होती हैं तब कर्म-शरीर सुंदर बनता है और जब ये तरंगें अधिक उछलती हैं तब वह भद्दा बन जाता है। कर्म-शरीर भद्दा है तो भद्दी तरंगें निकल कर स्थूल शरीर को प्रभावित करेंगी। उससे आकृति भी प्रभावित होगी। प्रकृति आकृति को प्रभावित करती है। एक गुस्सेल व्यक्ति का सुन्दर चेहरा भी भद्दा दीखने लग जाएगा। उसका आभामंडल ऐसा बन जाएगा कि पास जाने वाले का मन क्लान्त होगा, ग्लानि से भर जाएगा। वहां सुख, संतोष या आनन्द कभी नहीं मिल सकेगा। केवल क्लान्ति, विरसता मिलेगी।

इस चर्चा के संदर्भ में यह बहुत स्पष्ट हो गया है कि हमें सुन्दर किसको बनाना है? अधिक सम्हाल किसकी करनी है? हमें जागरूक रहना

है सूक्ष्म शरीर के प्रति, न कि स्थूल शरीर के प्रति। भगवान् महावीर की साधना का सूत्र है—'वोसट्ठचत्तदेहे'—शरीर का उत्सर्जन, विसर्जन। शरीर के उत्सर्जन का यह अर्थ है—शरीर के परिकर्म या साज-सज्जा के प्रति उदासीन होना। उसमें रस न लेना। अधिक समय न लगाना। यदि सारा ध्यान स्थूल के प्रति लगा रहा तो सूक्ष्मतर शरीर भद्दा हो जाएगा। यदि स्थूल के प्रति अति ममत्व नहीं रहा तो सूक्ष्म अच्छा होता चला जाएगा। सूक्ष्म शरीर सबका नियंता है।

अनेक व्यक्ति कहते हैं कि ध्यान पद्धति या साधना पद्धति बेचारे शरीर को सताने की पद्धति है। जब कोई व्यक्ति स्थूल शरीर की भूमिका पर खड़ा होकर सोचता है, बोलता है तो वह यही बात कहेगा, सोचेगा। यदि कोई सूक्ष्म शरीर की भूमिका से देखेगा तो ऐसा लगेगा कि स्थूल शरीर को प्रकंपित किए बिना सूक्ष्म शरीर प्रकंपित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, यदि संस्कारों का उन्मूलन करना है, उनकी निर्जरा करनी है तो स्थूल शरीर को धुनना होगा। स्थूल शरीर का प्रकंपन सूक्ष्म शरीर को प्रकंपित करता है। आचारांग सूत्र का वाक्य है—'धुणे कम्मसरीरगं'—साधक ! तू कर्म-शरीर को धुन, प्रकंपित कर। उस पर जो बुरे संस्कार या कर्म-परमाणु हैं उनको धुन कर नष्ट कर दे। उनकी जितनी-जितनी निर्जरा होगी, स्थूल शरीर भी उतना ही अच्छा बनता चला जाएगा।

व्यक्ति की आकृति आकृष्ट नहीं करती। आकृष्ट करता है आभामंडल। जिसका आभामंडल जितना निर्मल, स्वच्छ और पवित्र होगा, उतना ही वह आकर्षण का केन्द्र बनेगा। तपस्वी व्यक्ति शरीर से हाड-मांस का ढांचा मात्र रह जाता है। उसकी नसें उभरी हुई बाहर दीखने लगती हैं। तपस्या के कारण उसका शारीरिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, पर उसका आभामंडल इतना तेज होता है कि बड़े से बड़ा आदमी भी अपने आपको उसके समक्ष छोटा महसूस करता है। जब-जब मैं महात्मा गांधी का फोटो देखता हूं तो मेरे मन में प्रश्न होता है कि क्या यही व्यक्ति था जिसके पीछे सारा भारत लगा हुआ था ? गांधी की आकृति इतनी सुन्दर या मनमोहक या आकर्षक नहीं थी, किन्तु आभामंडल इतना तेजस्वी और शक्तिशाली था कि पंडित नेहरू जैसे पदार्थवादी सभ्यता के अग्रणी व्यक्ति भी उनके व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पित थे। नेहरू सुविधावादी और सौन्दर्यवादी थे, पर वे भी गांधी के इंगित पर चलने को अपना गौरव मानते थे। इसका कारण क्या था ? इसका कारण गांधी के स्थूल शरीर में नहीं खोजा जा सकता। इसका कारण उनके सूक्ष्म शरीर में खोजा जा सकता है। गांधी का सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर और सूक्ष्मतर शरीर—कर्म-शरीर—दोनों आकर्षक और शक्ति-संपन्न थे। उन दोनों शरीरों का ही यह आकर्षण था कि करोड़ों लोग उनके भक्त

और प्रशंसक बन सके। वह चुंबक था, जो सबको अपनी ओर खींच रहा था। तैजस शरीर को चुंबक शरीर कहा जा सकता है।

हम फिर इस बात पर ध्यान दें कि व्यक्तित्व और कर्तृत्व की व्याख्या के लिए सूक्ष्म शरीर की व्याख्या बहुत आवश्यक है। जब हम सूक्ष्म शरीर की भूमिका पर जाते हैं तब अनायास ही अनेक समाधान प्राप्त हो जाते हैं। आज शरीर-विज्ञान के आधार पर अनेक बातों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि आदमी लंबा क्यों? ठिगना क्यों? शरीर की अमुक-अमुक बनावट क्यों? अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के आधार पर इनका समाधान खोजा गया है। किन्तु अनेक प्रश्न ऐसे हैं, जो आज भी असमाहित हैं। मानस-शास्त्रियों ने मानसिक संरचना के आधार पर अनेक प्रश्नों के समाधन प्रस्तुत किए हैं, फिर भी अनेक प्रश्न ज्यों के त्यों बने हुए हैं। इन सबका कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर की भूमिका पर पहुंचे बिना इनका समाधान नहीं दिया जा सकता। स्राव को पकड़ा गया, पर अमुक प्रकार का स्राव क्यों होता है, यह नहीं खोजा गया। आंख से दिखना, कान से सुनना बंद हो गया। सीधा-सा उत्तर होगा कि उन-उन अवयवों में विकृति आ गई, इसलिए ऐसा हुआ। पर प्रश्न है, विकृति क्यों आई? आज के डाक्टर इन विकृतियों का कारण जीवाणु या कीटाणु मानते हैं। यह पूर्ण सत्य नहीं है। अध्यात्म के आचार्यों ने कहा कि रोग या विकृति के अनेक कारणों में एक कारण है कर्म-शरीर। अनेक रोग कर्मज होते हैं। ये रोग या व्याधियां कर्म-शरीर से आती हैं। इनका इलाज न डाक्टर कर सकता है और न वैद्य। अपने कर्म-संस्कारों को क्षीण करने पर ही उनका समाधान मिल सकता है। कर्म की बीमारी कर्म के विपाक के साथ आती है। वह अन्यान्य साधनों से पकड़ में नहीं आ पाती। हमें मूल कारण पर प्रहार करना होगा। जगत् की सारी समस्याएं वातावरण, परिस्थिति आदि की समस्याएं नहीं हैं, केवल स्थूल जगत् की समस्याएं नहीं हैं। उनमें से बहुत सारी समस्याएं सूक्ष्म जगत् यानी कर्म-शरीर से संपादित समस्याएं हैं। हम इनको जानें, समझें और इससे निबटने का मार्ग अपनाएं।

२१

प्राण और पर्याप्ति

सूक्ष्म शरीर के विषय में जितनी जानकारी अध्यात्म शास्त्र में है, उतनी विज्ञान में नहीं है। स्थूल शरीर के विषय में जितनी जानकारी आज के शरीर-शास्त्र में है, उतनी जानकारी पुराने ग्रन्थों में नहीं है। आज के शरीर-शास्त्र में कोशिका से लेकर पूरे शरीर में जो कुछ है उसका विशद वर्णन प्राप्त है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यासी इसीलिए ध्यान के साथ-साथ शरीर-शास्त्र को भी पढ़ता है और उसमें अपनी शक्ति का नियोजन भी करता है। क्योंकि शरीर को जाने बिना ध्यान की साधना में कठिनाइयां आती हैं। प्राचीन ग्रन्थों में शरीर के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं, पर विस्तार उपलब्ध नहीं है। उनमें महत्त्वपूर्ण है प्राण के तथ्यों की जानकारी, प्राण के प्रवाहों की जानकारी। यह अभी शरीर-विज्ञान का विषय नहीं बन पाया है।

सूक्ष्म शरीर निरवयव होता है। उसमें अवयव नहीं होता। तैजस और कर्म-शरीर—ये दोनों सूक्ष्म शरीर अवयव-शून्य हैं। स्थूल शरीर में अवयव होते हैं। हाथ, पैर, सिर, पेट, आंख आदि अवयव हैं। इन अवयवों की जानकारी शरीर-शास्त्र में विस्तार से प्राप्त है।

प्राण अवयव नहीं है। वह अवयवों का संचालक है। वह अवयव नहीं है इसलिए यंत्रों का विषय नहीं बना। उसे पकड़ा नहीं गया। हठयोग में चक्रों की बात आती है। आज के डाक्टरों ने चक्रों की खोज की, पर वे सफल नहीं हो सके, क्योंकि उन्होंने चक्रों को भी अवयव समझा। अवयवों को पकड़ा जा सकता है और जब कोई भी अवयव पकड़ में नहीं आया तब शरीरशास्त्रियों ने कह डाला कि चक्रों का प्रतिपादन काल्पनिक उड़ान है। वास्तविकता दूसरी है। चक्रशरीर के अवयव नहीं हैं। ये तैजस क्षेत्र हैं, विद्युत्-चुंबकीय-क्षेत्र हैं। इन्हें हम एलेक्ट्रो-मेगनेटिक-फील्डस् कह सकते हैं। यहीं से ऊर्जा का प्रवाह प्रवाहित होता है। शक्तियों का संचालक यही है।

प्रेक्षाध्यान पद्धति में तेहर चैतन्य-केन्द्रों का प्रयोग कराया जाता है। उनमें जीभ का केन्द्र, आंख और कान का केन्द्र तथा नाक का केन्द्र—ये तो अवयव हैं ही। ये अवयव शक्तिशाली केन्द्र हैं। नाक प्राणकेन्द्र है, चक्षु ब्रह्म-केन्द्र है, जीभ अप्रमाद केन्द्र है। किन्तु कुछ चैतन्य-केन्द्र ऐसे हैं, उनमें अवयव का संकेत है, पर वे अवयव नहीं हैं। आनन्द्र-केन्द्र को थाइमस ग्लेन्ड के द्वारा सूचित किया जा सकता है, पर थाइमस ग्लेन्ड आनन्द-केन्द्र नहीं है। विशुद्धि-

केन्द्र को थाइराइड ग्लेन्ड के द्वारा सूचित किया जा सकता है, पर थाइराइड ग्लेन्ड विशुद्धि-केन्द्र नहीं है। वहां जो विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बनता है, वह चैतन्य केन्द्र है। वहां ऊर्जा का प्रवाह बनता है।

स्थूल शरीर की जानकारी के लिए आज का शरीर-शास्त्र बहुत उपयोगी है। किन्तु साधना करने वाला व्यक्ति केवल स्थूल शरीर को ही नहीं जानता, उसे स्थूल शरीर में जो शक्ति-केन्द्र हैं, जहां शक्ति और ऊर्जा का प्रवाह है, उन्हें भी जानना जरूरी है। वह है हमारा तैजस शरीर, प्राण-धारा। इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है।

आयुर्वेद में शरीर के साथ-साथ प्राण की चर्चा है। प्राण पांच बतलाए गए हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। वहां पांच उप-प्राण भी बतलाए हैं। योग के ग्रन्थों में प्राण की विशद चर्चा प्राप्त है। जैन आगम साहित्य में दस प्रकार के प्राण की चर्चा है। चीन में जैन साधना पद्धति में प्राण की प्रमुखता रही और वहां प्रचलित एक्यूपंक्चर और एक्यू-प्रेशर चिकित्सा पद्धति का आधार प्राण रहा। यह प्राण पर आधारित चिकित्सा पद्धति है। प्राण के आधार पर बिन्दुओं को चुना जाता है और रोग की चिकित्सा हो जाती है। कहां-कहां प्राण के स्रोत हैं, सेंटर हैं, किस सेंटर को दबाने से या प्रेशर देने से प्राण के प्रवाह को संतुलित किया जा सकता है, यह सारी जानकारी उसमें है। आयुर्वेद की परिभाषा थी कि वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषों का साम्य है स्वास्थ्य और वैषम्य है रोग। प्राण-चिकित्सकों की परिभाषा थी कि प्राण का संतुलन है स्वास्थ्य और असंतुलन है रोग।

पूरे शरीर में प्राण का प्रवाह है। योग के ग्रन्थों में लिखा गया कि जो साधक प्राण-नाड़ियों को नहीं जानता, वह साधना में सफल नहीं हो सकता। यहां नाड़ी का अर्थ है प्रणाली। प्राण की प्रणालियां हैं, जिनमें से प्राण तत्त्व प्रवाहित होता है। साधक को जानना आवश्यक है कि किस मार्ग से प्राण ऊपर जाता है और किस मार्ग से प्राण नीचे आता है। इसके यात्रापथ का ज्ञान बहुत जरूरी है। इसे जानकर ही श्वास पर नियंत्रण किया जा सकता है। श्वास का क्षेत्र बहुत सीमित है। आदमी श्वसन क्रिया करता है। श्वास नाक से श्वास-नलिका में जाता है और फुप्फुस में जाकर समाप्त हो जाता है। बस, इससे आगे उसका क्षेत्र नहीं है। किन्तु प्राण पूरे शरीर में जाता है। उसका क्षेत्र है पूरा शरीर। शरीर का हर भाग प्राण द्वारा संचालित है। प्राण हमारी जीवनी शक्ति है। सारी क्रियाएं और प्रवृत्तियां प्राण द्वारा संचालित हैं। हम इन्द्रियों से काम लेते हैं। इन्द्रियां हैं और उनके पीछे एक शक्ति है इन्द्रिय प्राण। नाक से श्वास लेते हैं, श्वास के पीछे एक शक्ति है श्वासप्राण। वाणी का स्वर-यंत्र काम देता है। उसके

पीछे एक शक्ति है भाषाप्राण। हम सोचते हैं, चिन्तन करते हैं, उसके पीछे एक शक्ति है मन प्राण। हम जीते हैं, उसके पीछे एक शक्ति है आयुष्य प्राण। इस प्रकार हमारी सारी शक्तियां प्राण के द्वारा अनुप्राणित हैं। इसलिए प्राण का ज्ञान और प्राण की खोज बहुत आवश्यक है।

आज विज्ञान के क्षेत्र में 'बायो प्लाज्मा' यह नया शब्द प्रचलित हुआ है। यह चौथा आयाम है। यह तैजस शरीर का संवादी-सूत्र जैसा लगता है। प्रश्न होता है कि प्राण का मुख्य केन्द्र कहां है? प्राचीन योग ग्रन्थों में माना है कि प्राण का मुख्य केन्द्र है नासाग्र। पर हृदय, नाभि और पैर के अंगुठे तक प्राण रहता है। 'बायो प्लाज्मा' के विषय में वैज्ञानिक मान्यता यह है कि यह सघन रूप में मस्तिष्क में रहता है और यह हमारी स्नायविक कोशिकाओं तथा नाड़ीतंत्र में सक्रिय रहता है। प्राण को जानने का हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि इसके बिना आध्यात्मिक विकास कभी भी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति प्राणशक्ति को जितना बचा पाता है, उतना ही वह विकास कर लेता है। दो बातें हैं, प्राण को जानना और प्राण को बचाना, उसको कम खर्च करना। दोनों बातें जरूरी हैं। पहले जानना जरूरी है, बचाने की बात जाने बिना नहीं आती।

एक लकड़हारा लकड़ियों का गट्ठर लाता, बेचता और अपना भरण-पोषण करता। रोज का यह क्रम था। एक दिन वह गट्ठर लेकर आया। उसने देखा कि सत्संग हो रहा है, लोगों की भीड़ है। उसने सोचा, इतने लोग सुनते हैं तो मैं भी सुनूं। वह आया। गट्ठर को बाहर, एक ओर रखकर प्रवचन सुनने लगा। सत्संग का पूरा स्थल सुवास से महक उठा। लोगों को आश्चर्य हुआ। भीनी-भीनी सुगंध से वे ओत-प्रोत हो गये। सुगन्ध कहां से आ रही है, यह किसी को ज्ञात नहीं हुआ। सत्संग संपन्न हुआ। लोग प्रवचन कक्ष के बाहर आए। उन्होंने जान लिया कि सुवास गट्ठर में से आ रही है। उन्हें चन्दन की पहचान नहीं थी। एक आदमी ने उस गट्ठर में से एक लकड़ी निकाली और पूछा—क्या यह लकडी बेचोगे? लकड़हारे ने कहा—कितने पैसे दोगे? उसने कहा—एक लकड़ी का एक रुपया। गट्ठर में पचास-साठ लकड़ियां थीं। उसने साठ रुपयों में सभी लकड़ियां खरीद लीं। लकड़हारे को आश्चर्य हुआ। उसने सोचा, रोज तो मैं गट्ठर को पांच-सात आने में ही बेच डालता हूं और आज पचास-साठ रुपये मिले, यह क्या? वह एक समझदार व्यक्ति के पास गया। उसको सारी बात बताई। उस व्यक्ति ने लकड़ी को देखकर कहा—तुम मूर्ख हो। यह तो चन्दन है। एक-एक लकड़ी का एक-एक रुपया तो क्या सौ-सौ रुपया भी मिल सकता है। यह बढ़िया चंदन है।' लकड़हारे की आंखें खुल गईं।

अज्ञान के कारण आदमी मूल्यवान वस्तु का भी दुरुपयोग कर लेता

है ।

प्राणशक्ति बहुत मूल्यवान है, किन्तु उसके विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। हम स्थूल शरीर को जानते हैं. पर उसकी संचालिका शक्ति प्राण को नहीं जानते। मेडिकल साइंस इस विषय में आगे बढ़ रहा है। उसने शरीर-विद्युत् की खोज निकाला। उसका मानना है कि शरीर में विद्युत् है। हर कोशिका के पास अपना-अपना बिजलीघर है, पॉवर हाउस है। यह बिजली शरीर का संचालन करती है। प्रश्न है कि बिजलीघर में बिजली कहां से आती है ? उसका मूल केन्द्र कहां है ? यह खोज भी आगे बढ़ रही है। पश्चिमी योग साहित्य में एक शब्द प्रचलित है—एनर्जी, वाइटल फोर्स। यह प्राणिक शक्ति है। यह हर व्यक्ति के पास होती है। यही संचालिका शक्ति है।

प्राण को जानना आवश्यक है और उसको बचाना भी आवश्यक है। हम उसको बचाकर न रखें। उसका उपयोग अतीन्द्रिय शक्तियों के विकास में करें। इस प्राणशक्ति के द्वारा चेतना की अविरल क्षमताओं को जगाएं और विशेष सचाइयों का अनुभव करें, आत्म-साक्षात्कार करें।

प्राणशक्ति के चुक जाने पर शरीर का कोई भी अवयव ठीक काम नहीं करता। सारे अवयव शिथिल और निर्वीर्य हो जाते हैं। इन्द्रियां ठीक काम नहीं करतीं। प्राणशक्ति का भंडार जब भरापूरा होता है तब सब कुछ संतुलित रहता है। आदमी जो चाहे सो करने में सक्षम होता है।

तीन बातें हैं—प्राणशक्ति को समझना, उसको सुरक्षित रखना और उसका समुचित नियोजन करना। नियोजन की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो अध्यात्म की साधना करने वाले हैं वे अपनी प्राणशक्ति का नियोजन सत्य की खोज में करें। बहुत बड़ा क्षेत्र है। प्रेक्षाध्यान का सूत्र है—पुरुष ! सत्य की खोज तू स्वयं कर। दूसरे की खोज तेरी खोज नहीं होगी। यह कोई पदार्थ नहीं है कि बिलौना किसी ने किया और मक्खन किसी को मिला। यह वह पदार्थ नहीं है जिसका विनिमय हो सके। सत्य दिया नहीं जा सकता। सत्य का अनुभव किया जा सकता है। सत्य का मार्ग बताया जा सकता है। सत्य दिया नहीं जा सकता। मार्ग या सत्य स्वयं को खोजना होता है, स्वयं को अनुभव करना होता है। दूसरे केवल प्रेरणा दे सकते हैं। शक्ति का जागरण स्वयं को करना होता है, सत्य को पाना होता है।

रामायण का प्रसंग है। हनुमान अपने को कुछ भी नहीं समझते थे। अपने आपको केवल बंदर अनुभव करते थे। उस समय जामवंत ने हनुमान की शक्ति को जगाया और कहा, हनुमान ! तुम मात्र बंदर नहीं हो। तुम्हारे भीतर बहुत बड़ी शक्ति है। हनुमान को शक्ति का भान कराया और हनुमान ने वह काम कर दिखाया जो असंभव-सा प्रतीत होता था। पर्वत को उठाने

की शक्ति कहां से आई ? लंका के समुद्र को पार करने की शक्ति कहां से आई ? जामवंत ने हनुमान को शक्ति नहीं दी। शक्ति हनुमान में विद्यमान थी, किन्तु शक्ति का अवबोध नहीं था। जामवंत ने शक्ति का बोध कराया और हनुमान की आंखें खुल गई। शक्ति का विस्फोट हुआ और असंभव कार्य संभव बन गया।

शक्ति सब में है। विस्फोट हो, यह प्रतीक्षा है। हर व्यक्ति में आत्म साक्षात्कार की शक्ति है। गुरु का काम इतना ही है कि व्यक्ति को शक्ति का बोध करा दे। यह काम हो सकता है, पर सत्य की खोज स्वयं को ही करनी होती है। जब तक सत्य खोजने की बात नहीं आएगी, तब तक सत्य प्राप्त नहीं हो सकेगा। प्राण की शक्ति का नियोजन सत्य की खोज में हो, यह अपेक्षित है।

प्राण का अपव्यय अधिक होता है। सौ वर्ष की जीवनी शक्ति दस-बीस वर्षों में ही समाप्त कर दी जाती है। कुछ एक शरीरशास्त्रियों ने इस विषय का पर्यवेक्षण किया। अपनी रिपोर्ट में उन्होंने चौंकाने वाली बातें कहीं। उन्होंने लिखा—"हमारा हृदय जिन तत्त्वों से बना है उनमें तीन सौ वर्ष काम करने की क्षमता है। हमारी हड्डियां जिस मेटीरियल से बनी हैं, उनमें चार हजार वर्ष तक काम करने का सामर्थ्य है। हमारे फेफड़े में पन्द्रह सौ वर्ष काम करने की शक्ति है। गुर्दा तीन सौ वर्षों तक काम कर सकता है। इन आंकड़ों के आधार पर हम प्राचीन कल्पना को सत्यापित कर सकते हैं कि आदमी हजार वर्ष तक जीता था। रासायनिक विश्लेषण के आधार पर ये आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। पर आज न कोई हजार वर्ष जी पाता है या चार सौ, तीन सौ वर्ष ही जी पाता है। बहुत सारे पचास-साठ या सत्तर-अस्सी के बीच चल बसते हैं। आखिर यह क्यों ? अकाल मृत्यु क्यों होती है ? पूरा जीवन संभवतः दो चार प्रतिशत लोग ही जी पाते हैं। शेष अकाल मौत से ही मरते हैं। अकाल मौत का अर्थ कोई दुर्घना या एक्सीडेंट से होने वाली मौत नहीं है। अकाल मौत का अर्थ है कि असमय में ही प्राण-शक्ति को चुका देना, समाप्त कर देना। लंबे समय तक काम करने वाले हमारे आरगन्स, जल्दी घिस जाते हैं अर्थात् उनकी विद्युत् या ऊर्जा कमजोर हो जाती है। अतः वे असमय में ही कार्य करना बन्द कर देते हैं। यह है असमय की मौत, अकाल मौत।

ध्यान प्राणशक्ति को बचाने का प्रयोग है। तीन गुप्तियों का प्रयोग प्राणशक्ति के संरक्षण का प्रयोग है। कायोत्सर्ग का प्रयोग कायगुप्ति का प्रयोग है। इससे नए जीवन का अनुभव होता है, क्योंकि इससे प्राणशक्ति संचित होती है। उसका अनावश्यक व्यय बच जाता है। वाग्गुप्ति से स्वर-यंत्र निष्क्रिय होता है। उससे विकल्प शांत होते हैं। मन भाषा पर निर्भर

है। भाषा शांत, वाणी शांत तो मन भी शांत हो जाता है। मन को रा मेटीरियल भाषा से ही मिलता है। जब भाषा शांत है, तो रा मेटीरियल की सप्लाई बंद हो जाती है और तब बेचारा मन विश्रान्त होकर शांत हो जाता है। जब वाणी शांत है तो न स्मृति हो सकती है, न कल्पना और न चिन्तन। स्मृति, कल्पना और चिन्तन का आधार है शब्द, भाषा। शब्द के बिना तीनों निष्क्रिय हैं। यदि साधक एक घंटा कायगुप्ति, एक घंटा वाग्गुप्ति और एक घंटा मनोगुप्ति की साधना करता है तो वह प्राणशक्ति के भंडार को भरता है। प्राणशक्ति अनायास ही संचित हो जाती है।

प्राणशक्ति का सहायक केन्द्र है—पर्याप्ति। यह प्राण के आकर्षण और संग्रह का केन्द्र है। शरीर में ऐसे केन्द्र बने हुए हैं जहाँ प्राण का आकर्षण होता है। प्राण सारे लोक में व्याप्त है। पर्याप्ति प्राण का आकर्षण करती है। पर्याप्तियां छह हैं, प्राण भी छह या दस हैं। पर्याप्तियां प्राण का संग्रहण करती हैं और हम प्राण का प्रयोग करते हैं।

ध्यान करने वाले या अध्यात्म का जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए पर्याप्ति और प्राण को जानना, प्राण का संचयन करना और प्राण का सम्यक् उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्यक् नियोजन करना—इस त्रिवेणी या त्रिपदी का बहुत महत्त्वपूर्ण उपयोग है। इसका उचित उपयोग कर व्यक्ति शांतिपूर्ण लंबा जीवन और आनन्दमय जीवन जी सकता है।

विवेक

३०

क्या धार्मिक होना जरूरी है ?

एक युवक ने पूछा—क्या धार्मिक होना जरूरी है ? इस प्रश्न का मैं उत्तर दूं, इतने में ही एक दूसरा व्यक्ति आ गया। वह बोला---आज का युग बहुत जटिल है। हिंसा और अपराध बढ़ रहे हैं। आदमी को मारना सहज हो गया है। क्रूरता बहुत बढ़ी है। क्या इसका कोई समाधान है ? क्या क्रूरता मिटाई जा सकती है ?

मैंने पूछा, क्रूरता को मिटाने, हिंसा और अपराध को रोकने की जरूरत क्या है ? हिंसा और अपराध को कम करना क्यों चाहते हो ? उस भाई ने उत्तर में कहा— समाज स्वस्थ तभी रह सकता है जब उसमें अपराध और हिंसा कम होते हैं। जब ये दोनों अधिक होते हैं तब समाज रुग्ण बन जाता है और वह शिष्ट व्यक्तियों का समाज नहीं होता। इसलिए हिंसा और अपराध को कम करना आवश्यक है। अन्यथा शांति का जीवन नहीं जीया जा सकता। हिंसा आदि की स्थिति में जीवन नारकीय बन जाता है। कोई भी सामाजिक व्यक्ति नारकीय जीवन जीना नहीं चाहता। सब स्वर्गीय जीवन जीना चाहते हैं।

जहां छीना-झपटी है, आपाधापी है, एक दूसरे पर प्रहार है, ठगाई है यह है नारकीय जीवन। जहां ऐसा नहीं है, वह है स्वर्गीय जीवन।

जीवन नारकीय न हो, स्वर्गीय हो, पर यह हो कैसे सकता है ? क्या आर्थिक विकास के द्वारा हिंसा और अपराध कम किए जा सकते हैं ? क्या चोरियां और डकैतियां कम की जा सकती हैं ? यदि आर्थिक विकास के द्वारा, पदार्थों की बाढ़ के द्वारा ऐसा हो सकता है तो जीवन स्वर्गीय बन सकता है। उस भाई ने कहा, यह संभव नहीं है। मैंने पूछा, क्यों ? वह बोला, आर्थिक विकास से सुविधाएं बढ़ती हैं, पदार्थ बढ़ते हैं, पर साथ-साथ अपराध भी बढ़ते हैं।

इस चर्चा से यह बहुत स्पष्ट हो गया कि आर्थिक विकास कर लेने पर हिंसा और अपराध घटते हैं, ऐसा नहीं है। आर्थिक विकास के साथ-साथ पागलपन और उन्माद बढ़ता है। भोग के साथ उन्माद बढ़ेगा ही। भोग का यह निश्चित परिणाम है। तब मैंने कहा—पदार्थ-विकास से उस नारकीय जीवन के प्रतीकों और प्रतिमानों को नहीं रोका जा सकता। जब तक समाज में हिंसा की चेतना का विकास नहीं हो जाता तब तक नारकीय

जीवन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

पर प्रश्न है, अहिंसा की चेतना के जागरण का उपाय क्या है ? सब व्यक्ति शांति चाहते हैं। मन की शांति, परिवार में शांति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर शान्ति। सर्वत्र शान्ति की चर्चा है। यह चाहना एक बात है और शान्ति के अनुकूल साधनों को जुटाना, दूसरी बात है। कभी-कभी विपर्यय होता है। आदमी चाहता कुछ है और करता कुछ है। वह चाहता है शान्ति, पर त्याग की चेतना को विकसित करना नहीं चाहता। यह ध्रुव सत्य है कि त्याग की चेतना को विकसित किए बिना कभी शान्ति की बात नहीं सोची जा सकती। त्याग के बिना अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। त्याग है संयम। त्याग के बिना संयम नहीं हो सकता और संयम के बिना अहिंसा नहीं आ सकती। अहिंसा के बिना शान्ति नहीं हो सकती।

त्याग की चेतना को जगाना बहुत कठिन है। इन्द्रियां भोग पसन्द करती हैं। मन इन्द्रियों द्वारा संचालित है, इसलिए उसे भी भोग प्रिय है। आदमी इन्द्रिय-चेतना के स्तर पर जीता है, इसलिए वह भी भोगों में उपलिप्त रहता है। इसलिए त्याग कठिन हो रहा है। त्याग के बिना अहिंसा और शान्ति की बात आकाश-कुसुम की भाँति काल्पनिक बन कर रह जाती है। इन्द्रियां और मन—दोनों त्याग की चेतना को जागृत होने नहीं देते। जब-जब मन में आता है कि त्याग करूं, तब-तब मन की चंचलता आड़े आ है। त्याग नहीं करने देती। कहती है, अभी नहीं, और कभी कर लेना। जब तक इच्छा और चंचलता है तब तक त्याग की भावना को जागने का मौका ही नहीं मिलता।

इच्छा का साम्राज्य बहुत विशाल है। जब-जब मन में इच्छा पैदा होती है तब-तब चंचलता की एक तरंग उभरती है और आदमी चंचल हो जाता है और जो नहीं करना चाहता था, उसे कर डालता है। फिर वह सोचता है, मैं ऐसा करना चाहता था, नहीं कर सका और जो नहीं करना चाहता था, वह कर दिया। ऐसा क्यों हुआ ? चंचलता ऐसा करा डालती है। वह करणीय को नहीं करने देती और अकरणीय को करा डालती है। बहुत बड़ा विघ्न है इच्छा और बहुत बड़ा विघ्न है इच्छा द्वारा प्रेरित चंचलता।

व्यक्ति ने कहा, मैं बीमार हूं। जानता हूं अपनी बीमारी को। दुःख भी भोग रहा हूं। डॉक्टर ने चीनी और नमक न खाने के लिए कहा है। पर क्या करूं ? खाए बिना रह नहीं सकता। मिठाई सामने आती है। हाथ उठता है और तत्काल मुंह में कौर चला जाता है। विवश हूं। यह है चंचलता का चमत्कार या प्रभाव।

जब संस्कार जागते हैं, वृत्तियां उत्तेजित होती हैं तब आदमी परवश हो जाता है। आदमी ने जितने मनोरंजन और सुख-सुविधा के साधन खोजे हैं

उनकी खोज के पीछे आदमी का असंयम बोल रहा है। इन्द्रिय-स्तर पर जीने वाले समाज में इनको रोका नहीं जा सकता। पर इनके सीमातीत विकास को रोकना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त विकास से जो विकृतियां पैदा हुई हैं, हो रही हैं, वे मानवजाति के लिए प्राणघातक सिद्ध होंगी। सबसे बड़ी हानि यह हो रही है कि सहज आनन्द और सहज सुख का जो स्रोत था वह सूख रहा है। मानव की यह सबसे बड़ी निधि लुट रही है।

सुख-दुःख का स्रोत हमारे भीतर है। यह केवल अध्यात्म की ही वाणी नहीं है, आज के वैज्ञानिकों ने भी इसकी पुष्टि की है। रूस के एक वैज्ञानिक ने अपने अनुसंधान का एक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए बताया कि मनुष्य के मस्तिष्क में सुख और दुःख—दोनों के स्राव होते हैं। मस्तिष्क का जो सूक्ष्म संस्थान है—'रेटिकूलर फारमेशन' वहां से सुख-दुःख के रसों का स्राव होता है। अच्छे विचार, अच्छे भाव से सुख के रस का स्राव होता है और बुरे विचार, बुरे भाव से दुःख के रस का स्राव होता है। पदार्थ में सुख-दुःख नहीं है। किसी भी पदार्थ से सुख-दुःख का संबन्ध नहीं है। वे मात्र निमित्त और उद्दीपक बन सकते हैं। किन्तु वे स्राव हमारे भीतर हैं।

अध्यात्म के अनुसार प्रत्येक प्राणी दो प्रकार के कर्म परमाणुओं से आश्लिष्ट है। एक है सातवेदनीय कर्म और दूसरा है असातवेदनीय कर्म। जब सातवेदनीय कर्म के परमाणु जागृत होते हैं विपाक में आते हैं तब प्राणी सुख का अनुभव करता है। उसका मन सुख से भर जाता है और जब-जब असातवेदनीय कर्म जागृत होता है, विपाक में आता है, तब-तब प्राणी का मन दुःख से भर जाता है। यह कर्मशास्त्रीय चर्चा है। इससे और गहरे में जाएं तो जब-जब शुद्ध चेतना जागती है, राग-द्वेष मुक्त चेतना जागती है, आदमी सहज सुख से भर जाता है। हमारे भीतर सहज सुख है, सहज आनन्द है। सहज का अर्थ है—पदार्थ निरपेक्ष। भीतर सहज सुख और आनन्द का अजस्र स्रोत बह रहा है। प्राणी ने उस पर न जाने कितने आवरण डाल रखे हैं। उस ज्योति को राख से ढंक दिया कि उसका कोई अनुभव ही नहीं होता। वह सहज स्रोत बन्द-सा हो गया है। इसलिए प्राणी दूसरे ढंग से सुख और आनन्द की बात सोचता है। यह निश्चित है कि आदमी आनन्द और सुख के बिना जी नहीं सकता। हर आदमी इनकी आकांक्षा लिए जीता है। जब सहज आनन्द या सुख का स्रोत बन्द कर दिया गया, तब कृत्रिम स्रोतों से कृत्रिम आनन्द की बात प्राप्त हुई। इसीलिए सुख और आनन्द के साधन के रूप में किसी ने तम्बाकू को ढूंढा, किसी ने भांग और चरस को, किसी ने अन्यान्य मादक द्रव्यों को, किसी ने और दूसरे साधनों को खोजा। तनाव-मुक्त होने के लिए आदमी में तड़फ जागी और उसने ये सारे पदार्थ खोज डाले। यह सब एक भूल का परिणाम है और इसीलिए आज सब सहज सुख

के स्रोत से अपरिचित हो गए और कृत्रिम स्रोतों से अति परिचित हो गए। इन कृत्रिम सुख के स्रोतों ने आदमी को भटका दिया और उसमें इतनी आकांक्षा जगा दी कि उसका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई देता।

यदि हम सहज सुख और आनन्द के स्रोतों को पुनः खोल सकें, उन पर आए हुए आवरणों को हटा सकें तो फिर आनन्द और सुख की प्राप्ति के लिए कोई अन्य साधन आवश्यक नहीं होगा। साधन-निरपेक्ष सुख मिलने पर साधन-सापेक्ष सुख अकिंचित्कर हो जाता है।

नमि राजर्षि दीक्षित हो रहे हैं। इन्द्र ब्राह्मण के रूप में सामने आकर बोला—'राजर्षे! आपको प्रचुर भोग और साधन प्राप्त है। आप इन प्राप्त भोगों को ठुकराकर अगले जीवन में और अधिक भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा से दीक्षित हो रहे हैं, क्या यह मूर्खता नहीं है? जो भोग असत् हैं, काल्पनिक हैं, प्राप्त नहीं हैं, उनकी तो कामना कर रहे हैं और जो भोग प्राप्त हैं, सामने हैं, उन्हें छोड़ रहे हैं। यह तो बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है।' राजर्षि बोले—भूदेव! यह किसने कहा कि मैं भोग-प्राप्ति के लिए प्रव्रजित हो रहा हूं? यह भ्रम है। मुझे आनन्द और सुख का स्रोत प्राप्त हो गया है जो सदा बहार है। उस स्रोत की प्राप्ति हो जाने पर ये कामभोग आनन्द नहीं देते। ये कामभोग शल्य हैं, विषतुल्य हैं और अतृप्ति को बढ़ाने वाले हैं। तुमने मुझे गलत समझा है। मैं काम-प्राप्ति के लिए प्रव्रजित नहीं हो रहा हूं। मैं मानता हूं कि जो कामना करता है और काम के लिए कुछ करता है, वह अकाम होकर विगति में जाता है। मुझे काम की जरूरत नहीं है। काम-मुक्ति का स्रोत मुझे प्राप्त हो गया है। सहजमुक्ति का स्रोत मिल गया है।

जब सहज सुख का स्रोत मिल जाता है तब त्याग की चेतना जागती है। हमारी चेतना कृत्रिम सुख-सुविधाओं की चेतना के साथ जुड़ी हुई है, उलझी हुई है। इसलिए यह मत करो—यह निषेध की भाषा समझ में नहीं आती। निषेध की भाषा के विषय में मनोविज्ञान का अभिमत भी है कि भाषा विधायक होनी चाहिए। नकार की भाषा अच्छी नहीं होती। किन्तु मैं मानता हूं कि हमारी भाषा-प्रणाली में 'नकार' शब्द बहुत कारगर शब्द है। 'सकार' शब्द उतना काम का नहीं है। हम इसे इस संदर्भ में समझें।

अध्यात्म की दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि पाना कुछ भी नहीं है। जो आवृत है उसे अनावृत करना है। जो अभिव्यक्त नहीं है, उसे अभिव्यक्त करना है। आदमी जीवन की सफलता के लिए ज्ञान पाना चाहता है, किन्तु अध्यात्म की गहराई में जाने पर ज्ञान पाने की जरूरत नहीं है। ज्ञान तो भीतर भरा पड़ा है। जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने ज्ञान बाहर से नहीं लिया। भीतर से ज्ञान जागा है। उसी को आज सब मानते हैं। हमारी ज्ञान चेतना, आनन्द चेतना, शक्ति चेतना—ये सब भीतर हैं। बाहर

से इन्हें लेने की जरूरत नहीं हैं। जब ये तीनों चेतनाएं जाग जाती हैं तब बाहर के साधन आकर्षण के केन्द्र नहीं रहते और तभी त्याग की चेतना जागती है। तभी हमें निषेध की भाषा का मर्म समझ में आ सकता है। त्याग है निषेध, छोड़ना। इसका तात्पर्य है, पाना कुछ भी नहीं, केवल हटाना है। जब विजातीय हट जाएगा तब यथार्थ बचेगा, शेष रहेगा। कपड़े की सफाई कभी भाषा, धुलाई की भाषा निषेध की भाषा है। परिमार्जन, परिष्कार और शोधन निषेध की भाषा है। स्नान निषेध की भाषा है। सब में कुछ हटाना होता है, त्यागना होता है। हटाना या त्यागना निषेध है। यह निषेध का मर्म हमारे हृदयंगम हो, यह अपेक्षित है। विजातीय को हटाना है। सजातीय को लाना नहीं है। वह तो है ही। विजातीय हटेगा, वह चमक उठेगा।

हमारे पास स्वास्थ्य है, शक्ति है, आनन्द है, ज्ञान है और सुख है। ये सब हमारे पास हैं। किन्तु निषेध की भाषा समझ में न आने के कारण हम इनके लिए बाहर भटकते हैं। इन गुणों का अनुभव नहीं होता। जब निषेध की भाषा समझ में आ जाएगी तब त्याग के माध्यम से इनका अनुभव होने लगेगा।

समाज विकास के तीन घटक हैं—अहिंसा का विकास, संयम का विकास और सहिष्णुता का विकास। जब तक कष्ट-सहिष्णुता का विकास नहीं होता तब तक संयम का विकास नहीं हो सकता और संयम के बिना अहिंसा फलित नहीं होती। सहने के अभाव में आदमी पग-पग पर विचलित होता रहता है। बाहर से जो आ रहा है, उसे भी सहना है और भीतर से जो आ रहा है, उसे भी सहना है। कष्ट सहे बिना संयम नहीं टिकता।

गजसुकुमाल वासुदेव कृष्ण के छोटे भाई थे। वे भगवान् अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण कर मुनि बन गए। वे उसी दिन एकरात्रिकी प्रतिमा स्वीकार कर श्मशान में चले गए। ध्यानस्थ होकर अचल खड़े हुए। इतने में ही उनका श्वसुर सोमिल उधर से गुजरा। उसने मुनि को पहचाना और मन ही मन सोचा, अरे ! यह मेरी लड़की को विवाह से पूर्व ही छोड़कर साधु बन गया। मुझे पता तक नहीं चला। अब रही इसकी बात। वह क्रोधाविष्ट हो अनर्थ चिन्तन में लग गया। भयंकर क्रोध। विवेक चेतना लुप्त। उसने इधर-उधर देखा। गीली मिट्टी लाकर मुनि के सिर पर बांधी और एक सद्यस्क जल रहे मुर्दे के अंगारे लाकर उस पाल के बीच सिर पर रख दिए। ताप से खोपड़ी जलने लगी। जैसे खदबद-खदबद खीचड़ी सीझती है, वैसे ही राजकुमार का कोमल सिर सीझने लगा। अपार वेदना, पर धैर्य अविचल। मुनि ने सोचा, निर्ममत्व और भेद-विज्ञान का प्रयोग किया। 'यह शरीर मेरा नहीं है। मैं शरीर नहीं हूं। मैं आत्मा हूं। आत्मा शरीर से

भिन्न है। कष्ट शरीर को होता है, आत्मा को नहीं।' वे आत्मा में इतने लीन हो गए कि अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो गई। इतनी गहरी अन्तर्यात्रा कि सारी चेतना सुषुम्ना में सिमट गई। वे शरीर से हटकर भीतर चले गए, लीन बन गए।

विज्ञान मानता है कि शरीर में 'इन्डोफिन' नाम का रसायन पैदा होता है। वह पीड़ा को कम कर देता है। वह पीड़ा-शामक होता है। पीड़ा की अनुभूति तब होती है जब ज्ञानतंतु मस्तिष्क तक संदेश ले जाते हैं? जब ज्ञानतंतु बीच में रह जाते है तब संदेश मस्तिष्क तक नहीं पहुंचता और तब पीड़ा का अनुभव नहीं होता।

गजसुकुमाल का सिर जल रहा है, पर वे अडिग खड़ें हैं। न संयम टूटा और न अहिंसा। न द्वेष जागा और न घृणा जागी। अध्यवसायों की परम निर्मलता के साथ वे आगे बढ़े, केवली हुए और मुक्त हो गए। निर्जीव शरीर लुढ़क कर भूमि पर गिर पड़ा।

अहिंसा सधती है कष्ट-सहिष्णुता से। जो कष्ट सहना नहीं जानता, वह अहिंसक नहीं हो सकता। वह कायर होता है। कायर कभी अहिंसक नहीं हो सकता। लोग कह देते हैं कि अहिंसावादी बुजदिल और कायर होता है। यह झूठ है। अहिंसक कभी कायर नहीं हो सकता। अहिंसक वह होता जो उत्कृष्ट पराक्रमी हो। सैनिक पराक्रमी नहीं होता। वह मरता जरूर है, पर मरने से घबराता है। यदि वह मरने से नहीं घबराता है तो फिर शस्त्र क्यों रखता है? दूसरों को क्यों मारता है। वह अपने को बचाने के लिए दूसरों को मारता है। यह कायरता का चिह्न है। अहिंसक इतना पराक्रमी होता है कि वह किसी को मारना नहीं चाहता। स्वयं मर जाता है, पर जो कुछ आता है उसे झेलता जाता है। महान् पराक्रम है अहिंसा।

समाज विकास के लिए यह परम आवश्यक है कि समाज के घटकों अहिंसा की चेतना, संयम की चेतना और कष्ट-सहिष्णुता की चेतना जागे।

एक भाई ने कहा—अहिंसा, संयम आदि की बात ठीक है, पर जब तक धर्म की चेतना नहीं जागती, तब तक कुछ नहीं होता। मैंने कहा—अहिंसक होने का अर्थ है धार्मिक होना, संयमी होने का अर्थ है धार्मिक होना, तपस्वी होने का अर्थ है धार्मिक होना। इसके अलावा धर्म है क्या? अहिंसा, संयम और तपस्या किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नहीं होती। विश्व में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो आदमी को अहिंसक, संयमी या तपस्वी बना सके। ये सब धर्म हैं। धर्म से निष्पन्न हैं। महावीर ने कहा—'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो'—धर्म सबसे बड़ा मंगल है। वह धर्म, जो निर्विशेषण है। जिसके पीछे कोई विशेषण नहीं लगता वह धर्म है—अहिंसा, संयम और तपस्या। ये तीन हैं धर्म।

जो धार्मिक है वही अहिंसक, वही संयमी और वही तपस्वी होता है। इसका अर्थ है कि धर्म की चेतना भोग, पदार्थ, सुविधा से बिलकुल भिन्न है। यह पदार्थ से नहीं, अन्तश्चेतना से प्राप्त होती है, प्रेक्षा से प्राप्त होती है। प्रेक्षा का प्रयोग इसलिए है कि भीतर में जो सहज स्रोत बह रहे हैं, उन पर जो आवरण आ गए हैं, उन्हें हटाया जा सके। ध्यान का क्षण ऐसा ही क्षण है।

क्या ध्यान जरूरी है ?

मनुष्य के विकास के दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं—ज्ञान और ध्यान। शेष सभी प्राणियों से मनुष्य की अतिरिक्तता इन दो के द्वारा होती है। मनुष्य ने ज्ञान का विकास किया है और बाद में ध्यान का विकास क्या है। उसकी ये दो अतिरिक्त शक्तियां हैं। वास्तव में ज्ञान और ध्यान दो नहीं, एक ही हैं। ज्ञान का नाम ही ध्यान है और जहां ध्यान है वहां ज्ञान है। अगर ध्यान है और ज्ञान नहीं है तो वह शून्यता है, मूर्खता है। वहां ज्ञान जरूरी है। यह तो हो सकता है कि कभी-कभी ज्ञान है पर ध्यान नहीं है। जहां ज्ञान होता है, वहां चंचलता होती है। वह ज्ञान पर अधिकार कर लेती है। वहां केवल ज्ञान रहता है, ध्यान नहीं होता। जहां ज्ञान चंचलता से मुक्त होगा, वहां वह ध्यान बन जाएगा। **सस्पंदनं ज्ञानम्**—चंचलता ज्ञान है। **निस्पंदनं ध्यानं**—अचंचलता ध्यान है। जहां स्पंदन है, वह ज्ञान ज्ञान और जहां निस्पंदनता है, वह ज्ञान ध्यान है।

चंचलता के कारण ज्ञान समस्याएं पैदा करता है। मनुष्य में आसक्ति है, द्वेष है, क्योंकि चंचलता जुड़ी हुई है। एक बिन्दु है चंचलता और उसके आगे का बिन्दु है विक्षेप, पागलपन। दोनों में प्रकृति-भेद अधिक नहीं है। सीमा का थोड़ा अन्तर है। एक सीमा तक हम उसे चंचलता कहते हैं और उस सीमा से आगे पागलपन कहा जाता है। चंचलता खतरनाक होती है।

आदमी कर्मयोगी और अनासक्त बनना चाहता है। वह चाहता है कि उसका जीवन **'जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा'** का निदर्शन हो। कमल पंक में, जल में उत्पन्न होता है, पर पंक से ऊपर रहता है, उससे लिप्त नहीं होता। वैसे ही आदमी समाज या परिवार या गृहस्थी में रहकर भी उनसे लिप्त न रहे। पर ऐसा जीवन जीना इतना सरल नहीं है। जब तक चंचलता पर नियंत्रण करने की बात प्राप्त नहीं होती, तब तक अनासक्त योग नहीं आता।

चंचलता को कम कर एकाग्रता को प्राप्त करना यह है ध्यान का विकास। इसका अर्थ है चिन्तन। ध्यान शब्द 'ध्यैङ् चितायाम्' धातु से बनता है। इसका मूल अर्थ है चिन्तन करना। यह ध्यान का पहला सोपान है। आदमी चिन्तन करना जानता है। चिन्तन करना मानव-विकास का पुष्ट आधार है। जिसमें चिन्तन नहीं होता, वह आदमी बनकर भी पशु की

तुलना में चला जाता है। चिन्तन-शून्य आदमी गधा कहलाता है।

एक व्यंग्य है। एक गधा मकान की दीवार के पास खड़ा था। दूसरे गधे ने पूछा—'अरे! आगे चलो, यहां क्यों खड़े हो?' उसने कहा—'हमारे और भाई भीतर बैठे हैं। उनको साथ लेकर जाऊंगा।' उसने पूछा—मकान के भीतर गधा कैसे? तब कहा, कान लगाकर सुनो। उसने सुना। भीतर में दो भाई परस्पर लड़ रहे थे। एक कह रहा था—'तू गधा है। दूसरा कहता—तू गधे का बच्चा है।' उस गधे ने कहा—गधे को और गधे के बच्चे को छोड़कर आगे कैसे सरकूं?

जब आदमी विचार या चिंतनशून्य होता है, तब वह गधा बन जाता है। गधे का अर्थ केवल गधा प्राणी ही नहीं है। जिसमें समझ कम है, चिंतन कम है, वे सब गधे हैं। गधा प्रतीक बन गया ना-समझी का।

ध्यान का एक अर्थ चिन्तन है। पर केवल चिंतन ही होता तो ध्यान शिविरों में कौन आता? चिंतन की पद्धतियों को वैज्ञानिक ढंग से सिखाने वाले संस्थान हैं—विद्यालय, विश्वविद्यालय। विद्या की एक शाखा है—थिंकिंग। उसका बहुत विकास हुआ है। इस चिन्तन को सीखने कौन आता प्रेक्षाध्यान शिविर में? चिन्तन इस धारा का एक बिन्दु है। उसका अग्रिम चरण है—अचिंतन, चिन्तन न करना। तीन बातें हैं। पहली है चिन्तन करने की क्षमता का होना। दूसरी है चिन्तन की क्षमता का न होना। तीसरी है चिन्तन की क्षमता होने पर भी अचिन्तन की स्थिति में रहना। इसका नाम है ध्यान, ध्यान की अग्रिम अवस्था।

प्रश्न होता है कि जब चिंतन से हमारी जीवन-यात्रा सुगमता से चल जाती है, तब अचिन्तन के प्रपंच में क्यों फंसा जाए? चिन्तन चंचलता को बढ़ाता है। वह चक्र इतना तीव्र हो जाता है कि विचार बन्द ही नहीं होता। परेशानी बढ़ती है, इसलिए विचारों को विराम देना जरूरी होता है। हमारी लिपि में अर्द्ध-विराम, पूर्ण-विराम का विकास हुआ। विराम नहीं होता तो पढ़ने वाला कुछ भी नहीं समझ पाता। सारा एकाकार हो जाता। विराम है, इसलिए इस भाषा को समझ सकते हैं। बोलने में भी विराम होता है। अन्यथा बात कोई समझ में नहीं आ पाती।

पर आश्चर्य है कि हमारे चिंतन में कोई विराम नहीं है। यह चिंतन इसीलिए दुश्चिन्तन बन गया है। विराम का चिन्तन चिन्तन है। अविराम का चिन्तन चिन्तन नहीं होता। मनुष्य में आसक्ति की तीव्रता, मूर्च्छा आदि का कारण है चंचलता। इस चंचलता ने आसक्ति और मूर्च्छा को इतना तीव्र कर डाला कि आदमी का यथार्थ बोध ही नष्ट हो गया। यथार्थ बोध के नष्ट होने पर आदमी अपने चारों ओर समस्याओं का ताना-बाना बुन लेता है, दुःखों का जाल बिछा लेता है। आदमी यथार्थ को यथार्थ नहीं मानता। शरीर

केवल शरीर है। कपड़ा केवल कपड़ा है। भोजन केवल भोजन है। आदमी इन सबको ऐसा कहां मानता है ? यदि वह भोजन को केवल भोजन मानता तो स्वादिष्ट होने पर भी अधिक कभी नहीं खाता। उसमें तब स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट की बात नहीं होती। स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट का तर्क उसी में पैदा होता है जो भोजन को केवल भोजन नहीं मानता, और कुछ मानता है। पदार्थ हमारे लिए केवल पदार्थ नहीं है। यदि पदार्थ पदार्थ होता तो उस नश्वर के प्रति हमारी आसक्ति नहीं जुड़ती। यह सारा काम चंचलता कर रही है। यथार्थता पर आवरण डालती है चंचलता। तब शरीर शरीर मात्र नहीं रहता, जन्म केवल जन्म नहीं है, मृत्यु मृत्यु नहीं है। यदि उसे यथार्थ बोध होता तो वह मृत्यु से नहीं डरता और जीने का मोह नहीं करता। यथार्थ यथार्थ होता है। न उसके साथ राग होता है और न मोह, न द्वेष और न घृणा। यथार्थ बोध होने पर दृष्टि के ये सारे दोष मिट जाते हैं।

ध्यान यथार्थ की चेतना को जगाने का एक माध्यम है। जैसे-जैसे यथार्थ की चेतना जागेगी, वैसे-वैसे आसक्ति और मूर्च्छा टूटती जाएगी। आसक्ति के कारण मनुष्य कितना मिथ्या अभिमान करता है। दूसरों को कितना धोखा देता है।

पिता ने बच्चे से कहा—ये पीपे पड़े हैं। इन पर लिख दो कि किसमें क्या है। बच्चे ने पीपों पर लिखना प्रारम्भ किया—'दाल, पापड़, मिर्च आदि-आदि। जैसे ही चीनी के दो-चार पीपे सामने आये, उसने उन सब पर लिखा 'नमक', 'नमक', 'नमक'! पिता ने कहा—यह क्या ? बच्चा बोला—पिताजी ! चींटियों को धोखा देने के लिए चीनी के पीपे पर नमक लिखा है।

आदमी आसक्ति के कारण धोखा देता है, क्रूर कर्म करता है, क्रूर व्यवहार करता है। आसक्ति और अयथार्थ-बोध का गठबंधन है। आसक्ति होगी तो यथार्थ-बोध होगा और अयथार्थ-बोध होगा तो आसक्ति होगी। अनासक्ति की बात तब तक नहीं सोची जा सकती, जब तक सम्यग्दर्शन न हो जाए। यथार्थ-बोध के लिए ध्यान और यथार्थ तथ्यों की जानकारी जरूरी है सूक्ष्म सत्यों को जानने के लिए। पढ़ने से बुद्धि का विकास हो सकता है, पर प्रज्ञा का विकास नहीं हो सकता। प्रज्ञा के बिना सूक्ष्म सत्य नहीं जाने जा सकते। आदमी स्थूल सत्यों में उलझ जाता है। उसकी स्थूल जानकारी उसे सत्य का दर्शन नहीं होने देती। एक डाक्टर ने कहा—मैं प्रेक्षाध्यान का अभ्यासी हूं। मैं श्वास के ठंडेपन या गरमाहट का अनुभव करता हूं। गहरी एकाग्रता से यह अनुभव होने लगा है। अब जब मैं रोगी को देखता हूं तो मुझे रोग का सूक्ष्मता से ज्ञान हो जाता है। अब यह मेरा अभ्यास-सा बन गया है। यह एक डाक्टर की बात है। हम सब इस विधि से लाभान्वित हो सकते हैं। जब सूक्ष्म सत्यों की ओर एकाग्रता बढ़ेगी तो प्रज्ञा जागेगी। जब मन की

एकाग्रता और चित्त की निर्मलता बढ़ती है तब सूक्ष्म सत्यों का स्पष्ट अनुभव होने लगता है।

वैज्ञानिक को भी बहुत एकाग्र होना पड़ता है तभी वह नये-नये अन्वेषण कर पाता है। उसे ध्यानी बनना पड़ता है। ध्यान में गये बिना वह सूक्ष्म सत्य नहीं खोज सकता। उसने उपकरणों का विकास किया है, पर केवल उपकरणों से ही काम नहीं चलता। जब तक एकाग्रता नहीं जुड़ती, तब तक उपकरण इतने कारगर नहीं होते। वे तो मात्र साधन हैं, माध्यम हैं। वैज्ञानिक की तन्मयता को वे सहारा दे सकते हैं। मुख्य बात है एकाग्रता। उसे भी ज्ञान की भूमिका से हटकर ध्यान की भूमिका में जाना पड़ता है।

विज्ञान ने ऐसे सूक्ष्म सत्यों का पता लगाया है जो ध्यान के लिए भी बहुत उपयोगी हैं। विज्ञान अनेक दिशाओं में काम कर रहा है। यह न मानें कि उसने केवल विध्वंस के साधनों की ही खोज की है। उसने अध्यात्म की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। उसकी मस्तिष्क संबंधी खोजें अपूर्व हैं। वैज्ञानिकों ने माना कि श्वास का और मस्तिष्क का गहरा संबंध है। लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं। वैज्ञानिकों ने इस बात पर मुहर लगा दी कि प्राणी का स्वरचक्र बदलता रहता है और उसके साथ ही साथ व्यक्तित्व भी बदलता है। मूड बदलता है। मूड के बनने-बिगड़ने के पीछे स्वर या श्वास का योग होता है। मस्तिष्क का योग होता है। जिस समय मस्तिष्क संतुलित होता है, स्वर ठीक चलता है तो मूड ठीक होता है। स्वर-विज्ञान भारत की समृद्ध विद्या है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसको आगे बढ़ाया है और आज विज्ञान इसमें नए-नए तथ्य जोड़ रहा है।

बुद्धि की अगली भूमिका है प्रज्ञा। प्रज्ञा जागे। सारा संसार इन्द्रिय-चेतना, मन की चेतना और बुद्धि की चेतना में अटका हुआ है। इसे ही वह अंतिम मानता है। वह प्रज्ञा को जानना चाहता नहीं या जानता नहीं। प्रज्ञा के जागे बिना बुद्धि बहुत काम नहीं देती। निर्णय के लिए अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा आवश्यक होती है। बुद्धि के साथ आसक्ति और मूर्च्छा जुड़ी है। जहां ये दोनों हैं, वहां पक्षपात रहता है। इसको टाला नहीं जा सकता। पक्षपात चाहे परिवार में हो, समाज में हो या राष्ट्रीय स्तर पर हो, उसके पीछे आसक्ति काम करती है। पुत्र की शिकायत है कि पिता बहुत पक्षपात करते हैं। भाई को शिकायत है कि बड़ा या छोटा भाई पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है। बड़े बेटे को शिकायत है कि मां छोटे के साथ पक्षपात करती है। सर्वत्र पक्षपात ही पक्षपात। पक्षपात होना आश्चर्य नहीं है। यह आसक्ति और मोह का निश्चित परिणाम है। मोह और चंचलता युक्त बुद्धि का अनिवार्य परिणाम है पक्षपात। हमें बुरा नहीं मानना है। बुरा मानते हैं तो भ्रान्ति है। जब तक यह भ्रान्ति नहीं टूटेगी, प्रज्ञा का जागरण नहीं होगा। जब तक हमारी चेतना

आसक्ति और मूर्च्छा से विमुक्त नहीं होगी, प्रज्ञा नहीं जागेगी।

सारी एकाग्रता वांछनीय नहीं होती। एकाग्रता अवांछनीय भी होती है। बगुले की एकाग्रता किस काम की? एकाग्रता वोट और नोट गिनने में भी होती है। हमें जानना है कि एकाग्रता कहां हो? आसक्ति और मूर्च्छा-शून्य एकाग्रता प्रशस्य होती है, पवित्र होती है। यदि हमारे सामने चित्तशुद्धि या चेतना को निर्मल बनाने का उद्देश्य नहीं है तो एकाग्रता कामचलाऊ बनकर रह जाएगी, अधिक कारगर नहीं होगी। वह एकाग्रता वांछनीय है जो प्रज्ञा को जगा सके, चित्त और चेतना को पवित्र बना सके।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है, दुःखचक्र से मुक्त होने तथा कार्य की पवित्रता के लिए अनासक्ति का होना जरूरी है। अनासक्ति के लिए यथार्थ-बोध का और यथार्थ-बोध के लिए प्रज्ञा का जागरण जरूरी है। प्रज्ञा के जागरण के लिए ध्यान जरूरी है।

क्या आत्म-नियंत्रण जरूरी है ?

अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—आत्म-नियंत्रण। धर्म-ग्रन्थों में इस पर विशद विचार प्राप्त है। प्रश्न है, आत्म-नियंत्रण क्या है? यह क्यों आवश्यक है? यदि आवश्यक है तो इसकी प्रक्रिया क्या है?

आत्म-नियंत्रण का पहला अर्थ है—शरीर पर नियंत्रण। आत्मा अमूर्त है। इसके द्वारा केवल अमूर्त, चेतन, अव्यक्त सत्ता का ही ग्रहण नहीं होता, इसके द्वारा शरीर, मन, चेतना के बाहरी और भीतरी—सारे तत्त्वों का ग्रहण होता है। इसलिए कहीं आत्मा शब्द का अर्थ शरीर, कहीं मन और कहीं इन्द्रियां हो जाती हैं। आत्मा शब्द का अर्थ श्वास भी होता है। एक शब्द में कहें तो आत्मा से संबंध रखने वाले तत्त्व आत्मा कहे जाते हैं।

आत्मा पर नियंत्रण करने का प्रारंभ शरीर पर नियंत्रण से होता है। शरीर में नाड़ी-संस्थान के दो सिस्टम हैं—वोलेंटरी और इनवोलेंटरी—ऐच्छिक और अनैच्छिक। अंगुली हिलती है, हाथ-पैर हिलता है, यह सारी ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान से संपन्न कार्य है। हृदय का धड़कना, रक्त का संचरण होना, पाचन संस्थान का कार्य होना—यह सारा अनैच्छिक नाड़ी-संस्थान का कार्य है। इन सबके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान से संचालित कार्यों के लिए प्रयत्न करना होता है। इस संदर्भ में शरीर-नियंत्रण का अर्थ है—इच्छा-चालित प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना।

आत्म-नियंत्रण का दूसरा अर्थ है—मन पर नियंत्रण करना। यह शरीर-नियंत्रण के आगे की अवस्था है। मन पर नियंत्रण यानी विचारों पर नियंत्रण। जो समनस्क है, जिसकी मनश्चेतना विकसित है, उसमें विचारों की तरंगें उठती हैं। जागृत अवस्था में विचारों का प्रवाह चलता है तो सुप्त अवस्था में वह बिलकुल अवरुद्ध नहीं हो जाता। सोते समय सचेतन मस्तिष्क सो जाता है, कुछ निष्क्रिय हो जाता है, फिर भी पूर्णरूप से निष्क्रिय नहीं होता, इसलिए विचार का सिलसिला चालू रहता है। कभी स्वप्न आता है, कभी वाक्-तंत्र सक्रिय होता है और आदमी नींद में भी बड़बड़ाने लग जाता है। कभी वह शारीरिक प्रवृत्तियां भी कर लेता है। उनकी सक्रियता चालू रहती है। मन और विचारों पर नियंत्रण करना आत्मा पर नियंत्रण करना है।

आत्म-नियंत्रण का तीसरा अर्थ है—आवेश पर नियंत्रण। क्रोध, लोभ, मोह, माया, राग, द्वेष आदि-आदि आवेशों पर नियंत्रण करना, अपने

भावतंत्र पर नियंत्रण करना भी आत्म-नियंत्रण है।

शरीर-नियंत्रण, मन या विचार नियंत्रण, आवेश या भाव-नियंत्रण—इन तीनों का समुच्चय करने पर एक शब्द बनता है—आत्म-नियंत्रण।

अध्यात्म के आचार्यों ने कहा—आत्म-नियंत्रण करो। अपने पर अनुशासन करो। अपने पर अनुशासन का सूत्र है—'अप्पा चेव दमेयव्वो'—आत्मा का दमन करो, आत्मा पर अनुशासन करो। सर्वत्र नियंत्रण चलता है। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो नियंत्रण-विहीन हो। मात्रा का भेद हो सकता है। कहीं अधिक और कहीं कम, पर अनुशासन सर्वत्र है। सभी प्रणालियों में अनुशासन चलता है। प्रणाली चाहे सामाजिक हो या राजनैतिक, गणतन्त्र हो या प्रजातंत्र या एकतंत्र—ये सभी नियंत्रण से ही चलते हैं। परिवार भी व्यवस्था से चलता है। धर्मसंघ भी नियंत्रण से मुक्त नहीं है। जब तक शरीर है, आवेश है, मन है, विचार है तब तक नियंत्रण बंद हो नहीं सकता। आचार्य शंकर ने बहुत सुन्दर कहा है—

यावदविद्यसंज्ञोत्थं जीवत्वं प्रतिपद्यते।
तावद् विधिनिषेधानां शंकरोऽप्यस्ति किंकरः॥

—जब तक जीव में अविद्या है, अविद्या से उत्पन्न जीवत्व है, तब तक शंकर हो चाहे अन्य, सब विधि-निषेध के सेवक हैं।

बड़े से बड़ा आदमी भी विधि-निषेध को छोड़ नहीं सकता। विधि—यह करो, निषेध—यह मत करो, यही है नियंत्रण। विधि-निषेध का संयुक्त नाम है नियंत्रण। नियंत्रण की समाप्ति का अर्थ है—विधि-निषेध की परंपरा की समाप्ति।

समाज विधि-निषेध के आधार पर चलता है। इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य है कि नियंत्रण को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता।

अध्यात्म कहता है, समाज की बात छोड़ो, पहले अपने विधि-निषेध पर ध्यान केन्द्रित करो। स्व का नियंत्रण स्व पर, यह है अपना विधि-निषेध। इसका अभ्यास अपेक्षित है। प्रश्न है क्यों करें? शरीर पर या शरीर की इच्छा-चालित प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना इसलिए जरूरी है कि समाज शिष्ट बने। समाज का प्रत्येक घटक यदि इस नियंत्रण से बाहर रहता है तो वह व्यक्ति अशिष्ट कहलाता है। शिष्ट कहलाने के लिए हाथ का, पैर का, वाणी का, चाल-चलन का, बैठने-उठने का, व्यवहार का—सब पर नियंत्रण रखना होता है। इच्छा-चालित प्रवृत्तियों के नियंत्रण का बहुत बड़ा हेतु है शिष्टता।

स्वतः-चालित प्रवृत्तियों पर नियंत्रण हर कोई नहीं कर सकता। इस नियंत्रण का उद्देश्य है—अन्तर्निहित शक्तियों को जगाना, आदतों को बदलना।

ऐच्छिक मांसपेशियों का संचालन हमारे अधीन होता है, किन्तु अनैच्छिक अवयवों के संचालन पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। हृदय धड़कता है। रक्त बहता है। पाचन होता है। इन पर हमारा अधिकार नहीं है। हम चाहें तो ऐसा होता है, अन्यथा नहीं, यह नहीं हो सकता। हम चाहें या न चाहें ये सब निरंतर अपना कार्य करते रहते हैं।

योग पद्धति से इन पर कुछ नियंत्रण किया जा सकता है। नियंत्रण के कुछ सूत्र खोजे गए। हृदय की धड़कन और नाड़ी के संचालन को कुछ समय के लिये रोका जा सकता है। तापमान को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। श्वास लंबा या तीव्र लिया जा सकता है और श्वास को एक बार स्थगित भी किया जा सकता है। यह सारा योग के विविध अभ्यासों से साधा जा सकता है।

आवेश पर नियंत्रण किया जा सकता है, पर हर कोई नहीं कर सकता, और अभ्यास के बिना नहीं होता। भय लगता है तो जीवन भर लगता ही रहता है। क्रोध आता है तो जीवन भर आता ही रहता है। अन्यान्य आवेशों की तरंगें उभरती हैं तो जीवन भर उभरती रहती हैं। बालक में भी क्रोध आता है तो साठ बरस का बूढ़ा भी क्रुद्ध होता है। ऐसा नहीं देखा कि बाल्य अवस्था में तो क्रोध आता है और धीरे-धीरे वह कम होकर साठ बरस के बूढ़े में समाप्त हो जाता है। यह अवश्य देखा है कि अवस्था के साथ-साथ आवेश बढ़ते हैं, क्रोध तीव्र और आशु होता है। यह इसलिए कि बूढ़े व्यक्ति का नाड़ी-तंत्र कमजोर हो जाता है। नियंत्रण की शक्ति क्षीण हो जाती है और तब बात-बात में क्रोध भभक उठता है। बीस वर्ष के तरुण में धन के प्रति लालसा और आकांक्षा है तो अस्सी बरस के बूढ़े में वह नहीं है या बूढ़ा लोभ मुक्त हो गया है, ऐसा नहीं है। उसमें लोभ वृत्ति और अधिक भड़क उठती है। हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि आज का युवक दहेज से घृणा करता है। पर बूढ़ा बाप दहेज की अपनी मांग को सत्यापित करता हुआ उस युवक बेटे को नादान और अनुभवहीन बताता है। युवक कहता है—मुझे सुशील लड़की चाहिए। दहेज नहीं। बाप कहता है—'मूर्ख है तू। यही तो अवसर है कुछ बटोरने का! तू चुप रह। हमें हंसी आती है। क्या लेना-देना है बूढ़े बाप को। लड़की का साथ निभाना है बेटे को। जीवन की गाड़ी चलानी है बेटे को। बाप बीच में क्यों आता है। श्मशान जाने की तैयारी है, फिर भी लोभ की आग इतनी प्रज्वलित है कि वह बुझती ही नहीं।

आवेश पर नियंत्रण, मन और विचारों पर नियंत्रण—यह अभ्यास-सापेक्ष है।

इच्छा-चालित प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने के लिए ध्यान जैसे महान्

प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज में रहने वाला, कुछ जानने-समझने वाला व्यक्ति अपनी शिष्टता को बनाए रखने के लिए उन पर स्वतः नियंत्रण साध लेता है।

आवेश, मन और विचार—इन तीनों पर नियंत्रण करना ध्यान का महान् उद्देश्य है। जो इस दिशा में अभ्यास करता है वह अपनी साधना में सफल होकर जीवन को आनन्दमय, सुखमय और शक्तिमय कर लेता है।

अब हम इन तथ्यों को घटनाओं के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करें।

एक मुर्गी प्रतिदिन एक सोने का अंडा देती थी। गृहस्थी का काम सहजता से चल जाता था। किन्तु व्यक्ति आवेश पर नियंत्रण नहीं कर सका। लालाचवश सीमा को पार कर गया। उसने मुर्गी को इसलिए मार डाला कि सारे अंडे एक साथ मिल जाएं। मिला एक भी नहीं। प्रतिदिन का लाभ भी समाप्त हो गया। यह मूर्खता तो है, पर यह है आवेश या भाव-प्रेरित मूर्खता।

किसान अपने खेत में रहता था। वहां सर्प की एक बांबी थी। एक दिन किसान ने पूजा कर बांबी के पास दूध से भरा कटोरा रखा। सर्प बांबी से निकला, दूध पिया और एक स्वर्ण मुद्रा कटोरे में डाल कर चला गया। किसान ने देखा। अब वह प्रतिदिन बांबी के पास दूध का कटोरा रखता है, सांप आता है, दूध पीकर एक स्वर्ण मुद्रा कटोरे में डालकर चला जाता है। किसान का लोभ उद्दीप्त हुआ। प्रतिदिन के होने वाले लाभ ने उसे लोभाकुल बना डाला। उसने सोचा, रोज दूध पिलाना पड़ता है। यह सांप बांबी में से रोज एक स्वर्ण मुद्रा लाता है तो संभव है इस बांबी में स्वर्णमुद्राओं का ढेर हो। क्यों नहीं सर्प को मार कर सारी स्वर्ण मुद्राएं एक साथ ले लूं। यह सोच, दूसरे दिन ज्यों ही सांप दूध पीने आया, किसान ने उस पर प्रहार किया। सांप शक्तिशाली था। उसने प्रहार को टाल दिया और किसान पर प्रति-प्रहार कर उसे मार डाला। यह मृत्यु आवेश द्वारा प्रेरित मृत्यु है।

इच्छा और आवेश पर नियंत्रण करना साधक के लिए भी कठिन काम है। जब साधक पूर्ण जागरूक नहीं होता, जब इच्छा और आकांक्षा जागती है तब बड़े बड़े साधकों के समक्ष भी समस्या खड़ी हो जाती है। वे आवेश कहीं कोनों में छुपे रह जाते हैं और निमित्त मिलने पर जाग जाते हैं।

दो राजर्षि मुनि बने। राज्य को छोड़ अन्यत्र प्रव्रजन करने लगे। चलते-चलते वे ऐसे प्रदेश में गए, जहां नमक नहीं होता था। वहां के निवासी सब अलौना खाते थे। एक मुनि ने उस भोजन को सहन कर लिया। दूसरे राजर्षि को वह नहीं रुचा। रोज भूखे रहने की नौबत आ गई। एक

दिन एक कोई परदेशी आया और उसने उस राजर्षि को नमक का एक थैला दे दिया। अब राजर्षि प्रतिदिन उसमें से नमक निकालकर भोजन में डालते हैं और भोजन करते हैं। दूसरे राजर्षि ने देखा तब कहा—अरे यह क्या ? राज्य का मोह क्षण-भर में छोड़ दिया और नमक का संचय कर रहे हो ? बड़ी विचित्र बात है !

आप सोच सकते हैं कि पूरे राज्य के मोह को छोड़ देने वाला क्या नमक जैसी तुच्छ वस्तु के मोह में उलझ जायेगा ? यह उदाहरण इसका उत्तर है। प्रश्न वस्तु का नहीं है। प्रश्न है आवेश का। आवेश आदमी को उलझा देता है।

दीर्घकालीन कठोर साधना के बिना आत्म-नियंत्रण या आवेश-नियंत्रण नहीं किया जा सकता। प्रतिदिन का अभ्यास अपेक्षित है।

इस साधना का पहला सूत्र है—प्रेक्षा, देखना। देखना बहुत बड़ी शक्ति है, नियंत्रण है। आप विचारों को देखना प्रारम्भ करें। विचारों को रोकना नहीं है, केवल देखना है। कुछ ही क्षणों में विचारों का प्रवाह रुक जाएगा। उन पर नियंत्रण अपने आप स्थापित हो जाएगा। रोकने का प्रयत्न नहीं किया। बिना प्रयत्न के ही वे रुक गए। श्वास को देखना प्रारंभ करें। श्वास की गति मंद होने लगेगी। श्वास पर नियंत्रण अपने आप स्थापित हो जायेगा। हृदय की धड़कन को एक साथ बंद नहीं किया जा सकता। पर प्रेक्षा के द्वारा उसको मंद किया सकता है। तापमान के लिए भी यही बात है। मन पर नियंत्रण की बात अत्यन्त कठिन है। श्वास पर नियन्त्रण करने से मन पर अपने आप नियंत्रण होगा। मन श्वास की सवारी कर चलता है। हमारी आदतों का संबंध अचेतन मन से है, आवेशों का संबंध अन्तर्मन से है, भाव जगत् से है। मस्तिष्क पर नियंत्रण करने से भाव-तंत्र पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। ज्योतिकेन्द्र और शान्तिकेन्द्र की प्रेक्षा इसका साधन है।

श्वास और प्राण दो हैं। श्वास से आगे की शक्ति है प्राण। यह शरीरशास्त्र का नहीं, योगशास्त्र का विषय है। श्वास की क्रिया, बोलने की क्रिया आदि सारी शारीरिक क्रियाएं प्राणशक्ति के आधार पर चलती हैं। सारा जीवन इसी शक्ति से संचालित होता है। प्राण का नियंत्रण आत्म-नियंत्रण का आधार बनता है।

विज्ञान इस तथ्य तक पहुंच चुका है कि जब आदमी श्वास लेता है तब पिंगला नाड़ी-तन्त्र अर्थात् पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम (परानुकम्पी) सक्रिय बनता है और जब श्वास को निकालते हैं तब इडा नाड़ी-तन्त्र अर्थात् सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम (अनुकम्पी) सक्रिय बनता है। पर प्रश्न है कि इस परानुकम्पी नाड़ी-तंत्र को कौन संचालित कर रहा है ? इसका संचालक है

प्राण। जब तक प्राण पर नियंत्रण नहीं होता तब तक कोई परिवर्तन संभव नहीं है। बाहरी जगत् और भीतरी जगत् में सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्राण-नियंत्रण जरूरी है। जब तक यह नहीं होता तब तक बाहरी सचाई और भीतरी सचाई भिन्न-भिन्न होती है।

स्कूल में अध्यापक ने विद्यार्थी को बताया कि 'माई हेड' का अर्थ है—मेरा सिर। लड़का घर गया। इस वाक्य को रटने लगा कि 'माई हेड' अर्थात् मास्टरजी का सिर। पिता ने सुना। लड़का जोर-जोर से रटता जा रहा था। पिता ने बच्चे को बुलाकर कहा—गलत रट रहे हो। 'माई हेड' का अर्थ है मेरा सिर। बच्चा स्कूल में गया। पूछा, बताओ 'माई हेड' का अर्थ क्या है? लड़का बोला, स्कूल में 'माई हेड' का अर्थ है, मास्टरजी का सिर और घर में इसका अर्थ है—पिताजी का सिर।

सचाइयां दो हो गईं।

जैसे-जैसे प्रेक्षा आगे बढ़ेगी, हमारी प्रेक्षा का क्षेत्र-विस्तार होता जाएगा। श्वास की प्रेक्षा करते हैं। श्वास को संचालित करता है श्वास-प्राण। हम उसे देखने का अभ्यास करेंगे। मन को संचालित करता है मन का प्राण। उस प्राण तक हमें पहुंचना होगा। हमें स्थूल में नहीं अटकना है। सूक्ष्म तक पहुंचना है। यह बहुत दूर की मंजिल है। अभी तो मात्र एक कदम बढ़ाया है। लंबे समय तक लम्बी यात्रा करनी है।

यदि आत्म-नियंत्रण की बात हृदयंगम हो जाती है और यदि इससे आत्मा भावित हो जाती है तो विवेक, बुद्धि और स्मृति बढ़ेगी। अन्यान्य सचाइयां ज्ञात होती जाएंगी। आत्मा को वह ठोस आनन्द प्राप्त होगा जिसकी कल्पना आत्मा को अनियंत्रित रखने वाला कर नहीं सकता।

३३

क्या कष्ट सहना जरूरी है ?

मिट्टी का एक लोंदा । उसे घड़े का आकार मिला । उसे पूछा—क्या आवे में पकना जरूरी है ? क्या आग की तीव्र आंच सहना जरूरी है ? यदि उसे पानी या अन्य पदार्थ का आधार बनना है तो उसे आंच सहनी होगी । यदि कण-कण में बिखर जाना है तो आंच सहना आवश्यक नहीं है । यदि कलश और कुम्भ बनना है, उस आकार में उपयोगी बनना है तो तपना होगा, आंच सहनी होगी । सापेक्ष बात कही जा सकती है । मनुष्य को यदि कुछ बनना है तो कष्ट सहना होगा । कुछ विशिष्टताएं प्राप्त करनी हैं तो कष्ट सहन करना पड़ेगा । यदि कुछ बनना नहीं है तो कष्ट सहना आवश्यक नहीं है । यदि केवल मिट्टी का लोंदा मात्र रहना है तो सहना जरूरी नहीं है ।

यह जगत् समस्या-बहुल और दुःख-बहुल है । आज तक इस दुनिया में ऐसा आदमी नहीं जन्मा जिसने किसी न किसी समस्या या दुःख का सामना न किया हो । हर आदमी के जीवन में दुःख आते हैं, समस्याएं आती हैं । कमजोर आदमी न समस्याओं का और न दुःखों का सामना कर सकना है । वह रोते-रोते जीवन जीता है । कभी-कभी बीच में ही मर जाता है । पूरा जीवन जी नहीं पाता । चला जाता है जगत् से । यह दुनिया उसी को जीने देती है जो कष्टों को झेलना जानता है, सहना जानता है ।

सहने की क्षमता का स्रोत है प्राण-ऊर्जा । जिसकी प्राण-ऊर्जा कमजोर होती है, वह कष्टों में घबरा जाता है । वह कष्टों से टूट जाता है ।

प्रेक्षाध्यान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है प्राण-ऊर्जा को जागृत करना । यह सोई हुई है, इसे जगाना है । दर्घश्वास-प्रेक्षा का प्रयोग प्राण-ऊर्जा को सक्रिय बनाने का प्रयोग है । हम पूरा श्वास नहीं लेते । ऑक्सीजन पूरी मात्रा में भीतर नहीं जाता । फेफड़ा निकम्मा पड़ा रहता है । उसके प्रत्येक हिस्से में श्वास नहीं पहुंचता । वह पूरा सक्रिय नहीं होत।, सोया का सोया रह जाता है । जब पूरा श्वास लेते हैं तब फुफ्फुस का प्रत्येक कोष सक्रिय बन जाता है, सजीव बन जाता है । वह तब पूरी शक्ति के साथ काम करने लगता है । श्वास के साथ ऑक्सीजन जाता है, यह छोटी बात है । इससे बड़ी बात है कि प्राण का आकर्षण होता है । समूचे आकाश में प्राण के परमाणु भरे पड़े हैं । उनका हम आकर्षण करते हैं । प्राणशक्ति बढ़ती है, ऑक्सीजन पर अटक जाना, एक शरीरशास्त्री के लिए पर्याप्त हो सकता है,

किन्तु एक योगी के लिए उससे आगे बढ़कर प्राण के परमाणु तक पहुंचना है। श्वास के साथ केवल गेसें ही भीतर नहीं जातीं, प्राणवायु भी भीतर जाता है। जितनी गहरी सांस होगी, प्राण का आकर्षण भी उतना ही गहरा होगा। उसके साथ यदि हमारा संकल्प जुड़ता है तो आकर्षण और अधिक तीव्र होता है। जो व्यक्ति प्राणवान नहीं बनता, उसका जीना सार्थक नहीं होता।

जीवन सब जीते हैं। किन्तु एक प्राणवान् बनकर जीता है और दूसरा निष्प्राण। दोनों के जीने में आकाश-पाताल का अन्तर है। प्राणवान् व्यक्ति इस प्रकार जीता है कि दूसरों को भी पता चलता है कि कोई जी रहा है। निष्प्राण व्यक्ति जीता हुआ भी मरा हुआ-सा जीता है। कोई नहीं जानता उसको। उसका जीना व्यर्थ-सा जीना है।

एक धनाढ्य व्यक्ति था। वह अत्यन्त कृपण था। वह देना नहीं, लेना जानता था। एक दिन मौत ने उसे उठा लिया। पत्नी रोने लगी। वह बोली—यह कैसे हुआ ? मेरा पति इतना कंजूस था और ऐसा निष्प्राण जीवन जी रहा था कि पड़ौसी को भी उसके अस्तित्व का पता नहीं था। आश्चर्य होता है कि मौत ने उसे कैसे ढूंढ़ लिया ?

अनेक लोग ऐसा ही जीवन जीते हैं। उनके अस्तित्व का पता ही नहीं चलता। अस्तित्व-ज्ञापन के लिए अन्यान्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। बस, वह प्राणवान् हो। पता लग जाएगा कि यहां कोई जी रहा है, कोई सांस ले रहा है। प्राणवान् व्यक्ति को ही इस दुनिया में जीने का अधिकार है।

हम समस्याओं पर विचार करें। एक विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होता है और आत्महत्या कर लेता है। इसका मुख्य कारण है कि वह कष्ट सहना नहीं चाहता या कष्ट सहने में सक्षम नहीं है। अनुत्तीर्ण होना भी एक कष्ट है। महावीर ने इसे अज्ञान परीसह या प्रज्ञा परीसह कहा है। यह भी एक कष्ट है। बुद्धि कम होती है, स्मृति कमजोर होती है, यह कष्ट देती है। आदमी विचलित हो जाता है, अधृति का शिकार होता है और प्राणान्त करने के लिए उद्यत हो जाता है।

शारीरिक कष्टों से भी आलोचना और प्रतिकूलता के कष्टों को सहना बहुत कठिन होता है। इसमें धृति चाहिए, पूरा सामर्थ्य चाहिए। यदि कोई व्यक्ति राजा को यह कह दे कि राजा यह काम नहीं कर सकता तो वह आग-आग हो जाता है। डाक्टर कब मानता है कि वह रोग को नहीं मिटा सकता ? वकील कब स्वीकार करता है कि वह अपने वादी को नहीं जिता सकता ? अपनी आलोचना या असामर्थ्य सुनने की इनमें धृति नहीं होती। इन पर परमात्मा भी हंसता है।

एक राजा ने पूछा—परमात्मा कब हंसता है। सभी उलझ गए। मंत्री भी इसका उत्तर नहीं दे पाया। राजा ने कहा—तीन दिन के भीतर इसका उत्तर दो, अन्यथा मेरे राज्य से निकल जाओ। मंत्री उदास हो घर गया। छोटा लड़का हुशियार था। उसने उदासी का कारण जानकर कहा—इसका उत्तर मैं दूंगा। मंत्री अपने इस छोटे लड़के को लेकर राजा के पास गया। आज तीसरा दिन था। राजा ने लड़के से पूछा—'बोलो बच्चे! परमात्मा कब हंसता है ? लड़का सहजता से बोला—क्या आप इतना भी नहीं जानते ? परमात्मा सृजनहार है। उसी ने आदमी को बनाया है और वही आदमी को मारता है, ऐसा सब लोग मानते हैं। पर जब राजा यह सोचता है कि मैं प्रजा का पालक हूं, मैं आदमियों को जिलाता हूं, तब परमात्मा हंसता है।

हम सब मिथ्या मान्यताओं और धारणाओं से बचें और अपनी सीमा से अधिक दायित्व का बोझ न ढोएं। अन्यथा जैसे मकड़ी अपने बनाए जाल में फंस जाती है, निकल नहीं पाती, वैसे ही आदमी अपनी मान्यताओं के जाल में फंसकर कभी निकल नहीं पाएगा।

मिथ्या मान्यताएं मानसिक कष्ट पैदा करती हैं। मानसिक कष्टों को सहना जटिल होता है। कष्ट सहने की अक्षमता हीनभावना को जन्म देती है और उसकी अन्तिम परिणति है आत्म-हत्या। 'इन्फिरियोरिटी काम्प्लेक्स' आदमी में अनेक समस्याएं पैदा करती है और उसकी क्षमताओं को न्यून कर देती है।

दूसरा परिणाम है—निराशा। जिसकी प्राणशक्ति क्षीण है वह व्यक्ति कष्टों को सहने की अक्षमता के कारण बार-बार निराश होता रहता है। थोड़ी-सी असफलता पर वह निराश हो जाता है। निराशा जीवन की बहुत बड़ी बाधा है।

आचार्यश्री कभी निराश नहीं होते। उनके सामने भी समस्याएं आती हैं, असफलताएं आती हैं, भयंकर परिस्थितियां आती हैं, पर आप कभी निराश नहीं होते। एक बार किसी एक बात को लेकर जन-साधारण ने आचार्यश्री के विरुद्ध आवाज उठाई। वह आवाज आन्दोलन बन गई। भयंकर तूफान खड़ा हो गया। आचार्यश्री के उपासकों ने कहा—आपने जनता के लिए इतना किया, बहुत कुछ किया, पर जनता कृतघ्न है। अब आपको अणुव्रत आन्दोलन बन्द कर देना चाहिए।' आचार्यश्री ने मुस्करा कर कहा—मुझे लगता है, अणुव्रत आन्दोलन को और अधिक तीव्र गति से चलाना चाहिए।' यह बात वही आदमी कह सकता है जो प्राणवान् है, आशावान् है। जो कहता है, यह प्रयत्न बन्द कर दो, वह निष्प्राण व्यक्ति है, निराशावान् है।

तीसरा परिणाम है—आत्म-हत्या। कुछेक व्यक्ति रोग की पीड़ा को न सह सकने के कारण आत्मघात कर लेते हैं। कुछेक व्यक्ति परिस्थितियों की मार को सहने में अक्षम होकर मरने की बात सोच लेते हैं। इस आत्म-घात का मूल हेतु है कष्टों को न सह पाना।

चौथा परिणाम है—अधीरता। जो कष्ट सहना नहीं जानता, वह बात-बात में अधीर हो जाता है। सामान्य-सी प्रतिकूलता उसे अधीर बना डालती है। अधृति उसका पीछा नहीं छोड़ती।

ये सारी समस्याएं या दुःख कष्टों को न सहने के कारण उत्पन्न होते हैं। इनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—शारीरिक दुःख और मानसिक दुःख।

कुछ व्यक्ति शारीरिक कष्ट सह लेते हैं, पर मानसिक कष्ट या दुःख में अधीर हो जाते हैं, घूटने टेक देते हैं। थोड़े से मानसिक कष्ट में वे टूट जाते हैं। कुछ व्यक्ति मानसिक दुविधाओं को सहने में सक्षम होते हैं, पर शारीरिक कष्टों में घबरा जाते हैं। हाय रे, मरा रे, कहने लग जाते हैं। हमें ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना है जो शारीरिक कष्टों को झेल सके और मानसिक व्यथाओं को भी झेल सके।

प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग कष्ट-सहिष्णुता की क्षमता को वृद्धिगत करने का प्रयोग है। प्रतिदिन के अभ्यास से आदमी शारीरिक और मानसिक कष्टों को सहने में सक्षम हो जाता है। हमारे स्नायुओं और मांसपेशियों को अभ्यास चाहिए। जब उन्हें कष्ट सहने में अभ्यस्त कर दिया जाता है, तब वे कष्ट आने पर पीछे नहीं हटते। वे व्यक्ति का सहयोग देते हैं कष्ट सहने में।

कुछ करना है या कुछ बनना है तो कष्ट झेलने ही पड़ेंगे। शरीर के कष्टों को झेलना है तो मानसिक कष्टों को भी झेलना है। मानसिक कष्ट होता है स्वयं का अपमान होने पर या दूसरे का सम्मान होने पर। दूसरों से कोई लेना-देना नहीं है, फिर भी भयंकर कष्ट होता है। सम्मान किसी का होता है और कष्ट कोई और ही भोगता है। विचित्र है यह संसार! मनुष्य दुर्बल हो गया है कि वह हर बात से प्रभावित हो जाता है।

जब तक हमारे भीतर आनन्द या सुख का स्रोत प्रगट नहीं हो जाता तब तक इन द्वन्द्वों से, कष्टों से छुटकारा पाना मुश्किल है। आनन्द में ओत-प्रोत होकर ही आदमी कष्ट को झेल सकता है।

लाडनूं में एक बूढ़ा भाई प्रतिदिन प्रवचन सुनने आता था। वह अत्यन्त वृद्ध, अशक्त और दुर्बल था। उसका निवास-स्थान जैन विश्व भारती से बहुत दूर था। मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि इतने कष्ट झेलकर यह क्यों आता है? मैंने पूछा—तुम्हें आने में कठिनाई होती है, फिर क्यों आते हो? अपने घर पर ही क्यों नहीं रह जाते? वह वृद्ध बोला—'जब मैं घर से

पंडाल की ओर प्रस्थान करता हूं तब मन में इतना आनन्द भर जाता है कि मैं घर में रह ही नहीं सकता। जब मैं आता हूं तब मैं प्रसन्नता से भर जाता हूं। जब प्रवचन सुनता हूं तो प्रफुल्लित हो जाता हूं, सारा कष्ट भूल जाता हूं।' आदमी कष्ट सहता है जब सुख का विकल्प उसके सामने हो। जिसके सामने यह नहीं होता वह कष्ट में टूट जाता है। जब भीतर में आनन्द उमड़ता है, स्फूर्ति उभरती है, तब बड़े से बड़े कष्ट को झेलने में प्रसन्नता होती है। यह बड़े मजे की बात है। कष्ट को अकिंचित्कर बनाने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि भीतर के आनन्द को जागृत कर लेना। कष्टों को झेले बिना कोई प्राणवान् नहीं होता और भीतर के आनन्द को जगाए बिना कोई कष्टों को झेल नहीं सकता।

हम प्रेक्षाध्यान के विभिन्न प्रयोगों—दीर्घश्वासप्रेक्षा, अन्तर्यात्रा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा आदि का सहारा लेकर इस दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। जो व्यक्ति इन प्रयोगों से अपने आपको भावित कर लेता है, वह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक कष्टों को सहने में अपनी क्षमता को बढ़ा लेता है और अपने चारों ओर ऐसा कवच तैयार कर लेता है कि फिर छोटा हो या बड़ा, किसी भी कष्ट का संवेदन उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। प्रेक्षा के प्रयोग बाहर से अप्रभावित रहने की क्षमता को विकसित करने वाले प्रयोग हैं।

क्या जीवन-शैली को बदलना जरूरी है ?

आज का युग समाजवादी युग है। बहुत लम्बी अवधि से आदमी समाज का अंग बनकर जीता रहा है, किन्तु इस युग में समाजवादी अवधारणा बहुत विकसित हुई है। इसीलिए हर व्यक्ति समाज का अंग बनकर जीने की धुन में है। वह अपनी बात कम सोचता है, समाज की बात अधिक सोचता है। वह समाज की भलाई और समाज के उत्थान के विषय में ज्यादा चिंतन करता है। वह उसके लिए कुछ प्रयत्न करे या न करे, यह अलग प्रश्न है, पर आदमी के सामने समाज का ही बात रहता है। इस अवधारणा के कारण युग में जीवन की शैली बदल गई है।

जीवन की तीन शैलियां हैं—

१. व्यक्ति समाज में रहता है, समाज में जीता है।

२. व्यक्ति अकेले में रहता है, समाज में जीता है।

३. व्यक्ति अकेले में रहता है, अकेले में जीता है।

पहली शैली समाज को अस्वस्थ बनाती है और व्यक्ति भी अस्वस्थ रहता है। यह जीवन की शैली आज चल रही है यह स्वास्थ्यप्रद नहीं है। यह उलझनें पैदा कर रही है। जब व्यक्ति समाज में जीता है तो यह निश्चित है कि वह उससे भिन्न होकर जी नहीं सकता। मछली पानी में जीती है। वह पानी से बाहर आकर जी नहीं सकती। इसी प्रकार समाज से अलग होकर व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज में रहना एक बात है और समाज में जीना बिल्कुल दूसरी बात है। वह समाज में रहता है, उस स्थिति में कि सारे दरवाजे खुले हैं, सारी खिड़कियां खुली हैं। कोई रोक-टोक नहीं है। बड़ी समस्या हो गई। जब सारे दरवाजे खुले हैं और बाहर प्रदूषण है तो उन दरवाजों से धुंआं भी आएगा, गंदगी भी आएगी, गंदी हवा भी आएगी। इस स्थिति में कम से कम इतनी जागरूकता और सावधानी तो बरतनी चाहिए कि समय-समय पर दरवाजों और खिड़कियों को बन्द कर सके। पर आज यह नहीं हो रहा है। प्रश्न है क्यों ? इसलिए कि आदमी ने समाज को सर्वात्मना स्वीकार कर लिया है। उसने अपनी वैयक्तिकता को भुला दिया है। वैयक्तिकता का अपना मूल्य होता है। आदमी कोरा सामाजिक नहीं है। उसमें अपनी वैयक्तिकता भी है। जब वैयक्तिकता की खिड़कियां बन्द नहीं होती तब प्रदूषण आए बिना रह नहीं सकता।

ब्रह्मा ने आदमी को गठरियां दीं। एक गठरी में दूसरों की बुराइयां थीं और दूसरी गठरी में उस आदमी की स्वयं की बुराइयां थीं। ब्रह्मा ने निर्देश दिया कि जिस गठरी में दूसरों की बुराइयां हैं, उस गठरी को पीछे पीठ पर बांध लो और जिसमें स्वयं की बुराइयां हैं, उस गठरी को आगे बांध लो। आदमी ने सुना। बांधते समय भूल हो गई। उसने पीठ पर बांधी जाने वाली गठरी को आगे और आगे बांधी जाने वाली गठरी को पीछे बांध लिया। भूल हो गई। इसलिए वह दूसरों की भूलों को अधिक देखता है, स्वयं की भूलें उसकी दृष्टि में ही नहीं आतीं।

जो व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता को भूल कर केवल समाज में रहता है वह व्यक्ति दूसरों की भूलें देखता रहता है। वह कहता है, प्रशासन खराब है, वकील और जज खराब हैं, अध्यापक और व्यापारी बेईमान हैं, राज्यकर्मचारी कामचोर हैं, खराब हैं, विद्यार्थी उद्दंड और अनुशासनहीन हैं, श्रमिक खराब हैं, सर्वत्र भाई-भतीजावाद है। उसे कहीं अच्छाई नहीं दीख पड़ती। वह स्वयं अपने को छोड़कर किसी को अच्छा नहीं मानता। ऐसा इसलिए होता है कि वह अकेले में जीना नहीं जानता, अकेले में रहना भी नहीं जानता। वह समाज या समूह में रहना मात्र जानता है। उसकी सारी दृष्टि समाज को देखती है। वह अपने दरवाजों और खिड़कियों को बन्द करना नहीं जानता। वह केवल दूसरों को ही देखता है। जब दूसरों को या समाज को ही देखेगा तो स्वाभाविक है कि ऐसी धारणा बनेगी ही। समाज में जीने वाला कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण नहीं होता। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिसमें खामियां या त्रुटियां न हों। मात्रा का भेद हो सकता है, किन्तु सबमें त्रुटियां मिलेंगी। जब ध्यान त्रुटियों की ओर जाएगा तो व्यक्ति का दृष्टिकोण निश्चित ही नकारात्मक बनेगा। नेगेटिव एटिट्यूट बने बिना नहीं रहेगा। उस स्थिति में यह चक्र बनेगा कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को खराब समझेगा। एक धनी दूसरे धनी व्यक्ति को बुरा समझेगा। कोई किसी पर विश्वास नहीं करेगा, अच्छा नहीं बताएगा।

इस स्थिति में समाज एक दुश्चक्र में फंस जाता है और जीवन शैली बोझिल बन जाती है। आज जीवन शैली अत्यन्त बोझिल हो गई है। पुरानी भाषा में कहा जा सकता है—हाथी रो भार गधा लदियो—हाथी उठा सके इतना भार बेचारे गधे पर लाद दिया। गधा कैसे उठा पाएगा ? जीवन शैली पर इतना भार आ गया कि व्यक्ति बेचारा उसके नीचे चरमरा रहा है। यही कारण है कि आज का व्यक्ति तनाव का जीवन जी रहा है। वह अनेक मनोकायिक बीमारियों को भोग रहा है। उसकी असहिष्णुता और उतावलापन सीमातीत हो गया है। वह निरन्तर भाग-दौड़ कर रहा है। एक क्षण का भी अवकाश नहीं है। बैलगाड़ी के युग से स्पुतनिक के युग में जो गति

की तीव्रता का विकास हुआ है, यह केवल वाहनों में ही नहीं हुआ है, मनुष्य के चिन्तन में भी इतनी तीव्रता आ गई है कि वह कहीं रुकने को तैयार नहीं है। इस तीव्रता ने अनेक असामान्य बीमारियों और विक्षेपों को उत्पन्न किया है। इसने जीवन की शैली में आमूलचूल परिवर्तन घटित कर दिया है। हृदय-विशेषज्ञ कहते हैं जब तक इस जीवन शैली में परिवर्तन नहीं होगा तब तक हृदय-रोग पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकेगा। आज यह बीमारी विस्तार पा रही है। जहां विश्राम और सुस्ताने की अनिवार्यता है, वहां भी आदमी रुकता नहीं, दौड़ता ही चला जाता है। जहां आदमी को शिथिलीकरण करना होता है, वहां वह और अधिक तेजी से भागता है। इसका परिणाम आज हम सबके समक्ष है। सब इसका भोग रहे हैं।

हम हृदय की प्रवृत्ति से बोधपाठ लें। वह प्रवृत्ति के साथ ही साथ निवृत्ति भी करता है। निवृत्ति भी दुगुनी। यही कारण है कि वह लंबे समय तक अपना कार्य संपादित करने में सक्षम होता है। पर पता नहीं मस्तिष्क हृदय की बात को क्यों नहीं मानता। आदमी क्यों नहीं इससे कुछ सीखता। क्यों नहीं वह प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति करता है? आदमी के विचारों का प्रवाह क्षण भर के लिए भी नहीं रुकता। चिन्तन के क्षणों के साथ अचिन्तन के क्षणों का संतुलन न होने के कारण सारी समस्याएं उभर रही हैं। इस स्थिति में न समाज की समस्या का समाधान होगा और न व्यक्ति की समस्या का समाधान होगा।

यह पहली जीवन शैली अच्छी नहीं कही जा सकती।

तीसरी जीवन शैली है—अकेले में रहना और अकेले में जीना। यह व्यावहारिक नहीं है। यह शायद योगी के लिए काम की हो सकती है। यह समाज के लिए मान्य नहीं हो सकती। अकेला व्यक्ति हिमालय की गुफा में जाकर जीवन यापन करे, पर वह समाज के लिए उपयोगी नहीं है। इसको मान्य नहीं किया जा सकता।

दूसरी जीवन शैली है—अकेले में रहना और समाज में जीना। समाज में जीते हुए भी अकेले में रहना। इस शैली को विकसित करना चाहिए। व्यक्ति समाज को छोड़ नहीं सकता। वह समाज में रहे, कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु समाज में रहते हुए अकेले रहना, यह बहुत बड़ी कला है। इस कला को सीखना है।

आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन के प्रथम अधिवेशन पर एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। आपने कहा—मैं यह नहीं चाहता कि लोग सब कुछ छोड़कर संन्यासी बन जाएं। यदि सभी संन्यासी बन जाएंगे तो समाज कैसे चलेगा? और जो छोड़ने वाले हैं, उन्हें भी कुछ सोचना पड़ेगा। यह संभव नहीं है। पर यह संभव है कि आप जहां हैं वहां रहते हुए अणुव्रती बनें,

ईमानदार और नैतिक बनें ।'

यह संभव पक्ष है । सामाजिक जीवन को छुड़ाया नहीं जा सकता । कुछ लोग सोचते हैं, राजनीति बहुत गंदी है, राजनीति को छोड़ देना चाहिए । चुनाव में बहुत गंदगी आ गई है, चुनाव से दूर हट जाना चाहिए । यदि आप इस प्रकार छोड़ते चलेंगे तो शेष क्या बचेगा ? गंदगी कहां नहीं है ? राजनीति और चुनाव में गंदगी है तो क्या पारिवारिक जीवन में गंदगी नहीं है ? क्या पड़ोसी के जीवन में गंदगी नहीं है ? सर्वत्र है गंदगी । आदमी वह है, जो गंदगी को साफ कर सके, हटा सके । दूर भागने से गंदगी मिटेगी नहीं । यदि आपमें श्रद्धा और आस्था है तो आप जिस क्षेत्र में हैं, वहां की गंदगी को साफ करने का प्रयत्न करें । यह है पुरुषार्थ का काम । ऐसा सोचना ही सही सोचना है ।

आदमी समाज के बीच रहता है । वह अलग-थलग रह नहीं सकता । ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती कि व्यक्ति अकेला जी सके, तो फिर यह विकल्प शेष रहता है कि जीवन समाज में जीओ, पर अकेले रहना सीखो । यह बात बहुत अटपटी-सी लग सकती है कि समाज में रहते हुए अकेला कैसे रहा जा सकता है ? परिवार और समाज में रहना, नगर और गांव में रहना और फिर अकेला होकर रहना, कैसे संभव है ? असंभव जैसा कुछ नहीं है । बहुत संभव है । आदमी अकेला होकर रह सकता है यदि उसका मनोबल और प्राण-ऊर्जा बढ़ जाए । वह यदि अपनी आंतरिक क्षमता को विकसित कर लेता है, तब उसके लिए अकेला रहना सहज बन जाता है । जब तक यह विकास नहीं होता, तब तक अकेला रहना असंभव है ।

व्यक्ति का बाह्य जगत् के साथ तीन माध्यमों से सम्बन्ध जुड़ता है । वे माध्यम हैं—मन, विचार और भाषा । आदमी सामाजिक प्राणी है । समाज का निर्माण कौन करता है ? हजार व्यक्ति मिलने मात्र से समाज नहीं बनता । भाषा समाज का निर्माण करती है । यदि भाषा नहीं होती तो समाज नहीं बनता । पशुओं का समाज नहीं है, क्योंकि उनमें भाषा नहीं है । आदमी में मन का विकास है, इसलिए समाज बना है । पशुओं में विकसित मन नहीं है, इसलिए उनका समाज नहीं है । आदमी ने विचारों का विकास किया है, इसीलिए समाज में रह रहा है । पशुओं में विचार का विकास नहीं है ।

समाज के निर्माण के तीन घटक हैं—मन, विचार और भाषा । किन्तु मन और भाषा तब तक काम नहीं करते, जब तक इनको इन्द्रियों का सहारा नहीं मिल जाता । इन्द्रियों के आधार पर ही ये काम करते हैं । मन और भाषा को कच्चा माल मिलता है इन्द्रियों से । यदि इन्द्रियां सप्लाई

नहीं करती हैं तो मन और वाणी निकम्मे हो जाते हैं। हमारा सारा संपर्क इन्द्रियों के द्वारा स्थापित होता है। जैसे ही हम 'सर्वेन्द्रिय संयम-मुद्रा' का प्रयोग करते हैं, आंखें और कान बंद हो जाते हैं। आंख बंद होने से दृश्य के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं हो पाता और कान बंद होने से शब्द के साथ सम्पर्क टूट जाता है। हम अशब्द हो जाते हैं। नाक बंद होने से मस्तिष्क के कुछ भाग का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। नाक और मस्तिष्क का गहरा सम्बन्ध है। मष्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन या आदिम मस्तिष्क। इसका नाक से सम्बन्ध है। जब नाक के दोनों छिद्र बंद हो जाते हैं तब गंध से सम्पर्क टूट जाता है और इस स्थिति में मस्तिष्क से संबंध भी विच्छिन्न हो जाता है। होठ बंद होने का तात्पर्य है भाषा का निषेध। आंख, कान और नाक को बंद करने के लिए दो-दो अंगुलियां और होठ को बंद करने के लिए चार अंगुलियां, क्योंकि संपर्क का सशक्त माध्यम है भाषा। इससे अत्यधिक संपर्क स्थापित होते हैं।

'सर्वेन्द्रिय 'संयम-मुद्रा' का यह स्वरूप है। दोनों हाथों की दस अंगुलियां हैं। दो अंगुलियों से दोनों आंखों को, दो अंगुलियों से दोनों कानों को, दो अंगुलियों से दोनों नासिक-छिद्रों को तथा चार अंगुलियों से होठ को बंद करना होता है। यह मुद्रा बाह्य जगत् के संपर्कों से बचा लेती है। जैसे ही यह मुद्रा की जाती है, सारा संपर्क छिन्न हो जाता है। पांच मिनिट का यह लघु प्रयोग व्यक्ति को अन्तर् जगत् में ले जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति अकेले में जीता है और वह समाज में रहते हुए भी अकेले में जीना संभव बना लेता है।

यह मुद्रा तनाव-विसर्जन में भी कारगर है। तनाव की अनेक परिभाषाएं हैं। तनाव का अर्थ है—समाज में रहना, समाज में जीना नहीं। समाज में तो जीना ही है। समाज में रहना तनाव और समाज में न रहना तनाव-मुक्ति। इस नई जीवन शैली को अपना कर तनाव से बचा जा सकता है, मनोकायिक या विशुद्ध कायिक और मानसिक बीमारियों से बचा जा सकता है।

पुराने युग में संचार के माध्यम कम थे, मंद थे। जानकारियां कम होती थीं, विलंब से होती थीं। घर में कोई घटना घटती, दूर वाले को उसका पता विलंब से मिलता था। आज संचार के माध्यम तीव्र हुए हैं। दुनिया के किसी भी कोने में जो घटित होता है, वह कुछ ही क्षणों में एक छोर से दूसरे छोर तक ज्ञात हो जाता है। यह आज के युग की विशेषता है, बड़ी उपलब्धि है। यही सबसे बड़ा संकट है। क्या आवश्यकता है इतनी जानकारियों की? कहां लूटपाट हुआ, कहां बलात्कार और कहां हिंसा हुई—क्या आवश्यकता है कि इनकी जानकारी सबको हो। इस जानकारी

से दिमाग में केवल कूड़ा-करकट ही भरा जाता है। इन समाचारों ने समाज में विकृतियां फैलाई हैं, व्यक्ति को बुरा बनाया है। इसलिए इस युग की सद्यस्क आवश्यकता है कि व्यक्ति अकेला रहने ही कला सीखे। वह अनावश्यक बातें न पढ़े, न सुने और न जाने। यह अत्यन्त आवश्यक है। इस संक्रमण-शील युग में जो व्यक्ति अकेला रहना सीख लेता है वह बहुत सारी बातों से बच जाता है।

अकेला रहने का अर्थ है—सचाई के साथ चलना। अकेला रहने का अर्थ है—यथार्थ जीवन यापन करना। अकेला रहने का अर्थ है—अनेक धारणाओं से मुक्त हो जाना।

०